२. विधारणा की आनन्द रूपता बता रहे हैं "यो वै भूमातत्सुखम्, यदल्पंतद् दुःखम्" वृद्धि का नाम सुख है और अल्पता का नाम दुःख है। यह वेद की मान्यता है। अल्पता अर्थात् क्षीणता और अन्य के द्वारा आक्रान्तता दुःख रूप होती है, विधृति तो दुःखनाशक होती है—अतः इसकी आनन्द रूपता स्वतः सिद्ध है। धारणा द्वारा धैर्य पाते ही विज्ञ पुरुष में स्थिरता आ जाती है, स्थिरता ही आनन्द है।

दूसरा आनन्द का प्रसिद्ध स्थान है साहित्य का रस क्षेत्र—उसमें भी धृति की व्याप्ति इस प्रकार देखी जाती है कि चाहे वीर रस हो, करुणा वा अद्भुत हो, बीभत्स, रौद्र अथवा भयानक रस हो, इन रस भावों में से किसी में भी यदि चित्त द्रवित हो जाता है, अश्रु भी निकल पड़ते हैं, तब भी दुःख की अनुभूति नहीं होती प्रत्युत चित्त में स्वस्थता आती है, यह स्वास्थ्य भाव ही उस रस की आनन्द रूपता सिद्ध करता है और वह स्वस्थता धृति से ही होती है—अतः वहां भी धृति ही आनन्द रूप होती है ॥१२४॥

३. वीर करुणा आदि रसों चित्त द्रवित हो जाने पर भी आत्म धारणा बनी रहती है। इस कारण ही रस की आनन्द रूपता कही जाती है। इससे भी धृति की आनन्द रूपता सिद्ध होती है। रसों में आत्मानन्द का भाव होता है यह मान्यता अलङ्कार शास्त्र के सुप्रसिद्ध काव्य प्रकाश आदि ग्रन्थों में स्पष्ट रूपेण मानी गयी है।

विश्व में आनन्द की अनुभूति दो प्रकार की होती है, विधृति द्वारा स्व-स्वरूप में शान्त भाव में निश्चित स्थिति—शान्त्यानन्द अवस्था है—इसमें क्षोभ नहीं होता। यह आनन्द की स्वाभाविक प्रथम अवस्था है। दूसरी विधा समृद्धि रूप आनन्द है—जिसमें रस के भूमाभाव अनुग्रह से आत्मा का विकास होकर सम्पत्ति सन्तान आदि की परम वृद्धि होती है। दोनों ही भावों में विधृति की परम अपेक्षा होती है ॥१२५॥

४. दो प्रकार के आनन्द की व्याख्या करते हैं, एक शान्ति रूप आनन्द और दूसरा समृद्धि रूप आनन्द। क्षोभ (चंचलता) के अभाव में प्रथम शान्ति रूप होता है, इस क्षोभ के अभाव से विधारण रूप स्पष्ट ही है। क्षोभ का अभाव ही विधृति रूप होता है। समृद्धयानन्द में व्यावहारिक आत्मा की वित्त—प्रजा आदि कलाओं की वृद्धि होती है, वृद्धि भी धारणायुक्त की ही हो सकती है—इस प्रकार दोनों ही प्रकार का आनन्द विधृति रूपता से बाहर नहीं जाता।

ये वित्त प्रजा आदि की वृद्धि विधृति के बिना सम्भव नहीं हो सकती, अतः शांति और समृद्धि दोनों भावों में, विधृति की प्रधानता होती है, जिसकी सत्ता से स्वरूप सत्ता हो—यह अन्वय, और जिसके अभाव से स्वरूप का अभाव हो जाय, यह अव्यतिरेक, इस अन्वय व्यतिरेक क्रम से विचार करने पर विद्वानों ने स्वात्मानन्द का प्रधान हेतु विधृति को ही कहा है ॥१२६॥

५. अन्वय से—अर्थात् विधृति के रहने पर ही आनन्द की अनुभूति होने से और अव्यतिरेक—अर्थात् विधृति के बिना आनन्द की उपलब्धि न होने से विधृति की आनन्द हेतुता सिद्ध हो जाती है। यह हेतुभाव लौकिक व्यवहार की दृष्टि से व्याख्यात हुआ है। वास्तव में तो आनन्द स्वयं आत्मारूपेण स्व स्वरूप है, उसकी स्व स्वरूप से च्युति नहीं होना—यह विधृति से ही सम्भव है—अतः

विधृति आनन्द रूप ही है। अधिकरण के समाप्ति सूचक वाक्य में आनन्द रूपता ही कही गई है यह समझना चाहिए। क्योंकि आनन्द स्वभावत: नित्य है वहां अन्य कारण—नहीं हो सकता।

विधृति की आनन्द रूपता सम्पूर्ण

(२२) प्रतिष्ठाधिकरणम्

[1]यदाशनाया ध्रियते विधृत्या ज्योतिस्ततः संस्रवते समन्तात्।
सैव प्रतिष्ठाद्विरसा तयैतान्येकात्म्यमायान्ति बलान्तराणि ॥१२७॥

[2]स्वतन्त्र रूपाणि बलानि सर्वाण्यैकात्म्यमायान्ति यदा तदानीम्।
प्रतिष्ठितान्यात्मनि पारतन्त्र्यं यतो लभन्ते किल सा प्रतिष्ठा ॥१२८॥

[3]यदि प्रतिष्ठेह न चाभविष्यज्ज्योतिः प्रवर्तेत कुतः समन्तात्।
कुतस्तरां वा विधृतिर्बलानां सांतानिकं रूपमरूपयिष्यत् ॥१२९॥

[4]प्रतिष्ठितानां विधृतिर्बलानां प्रतिष्ठितेन क्रमते समीची।
ब्रह्मप्रतिष्ठा तत एव सर्वं प्रतिष्ठितं कर्म जगद्विभाति ॥१३०॥

रस में अशनाया बल जब विधृति द्वारा धारणा पा जाता है, तब मन रूप ज्योति का संस्रवण अर्थात् (अन्य को आत्मसात् करने की प्रवृत्ति) होती है—यह प्रवृत्ति सर्वतो भावेन होती है। वहां दो रसों के आधार से प्रतिष्ठा होती है। और उस प्रतिष्ठा से ही विभिन्न अंश के बलों का एक रूप बन जाता है ॥१२७॥

१. मात्रा विकास, संस्था विकास आदि जो ज्योति के भेद पहले निरूपित हुए हैं, उनकी स्थिति प्रतिष्ठा द्वारा ही होती है, यह यहां प्रतिष्ठा अधिकरण में प्रतिपादन किया जाता है। मन–प्राण–वाक् के ही परिवर्तित रूप ज्योति–विधृति–प्रतिष्ठा नामों से ख्यात होते हैं–यह उपक्रम में कहा जा चुका है। उनमें वाक् प्रतिष्ठा रूप है। और वह प्रतिष्ठा सत्ता रूप होती है, यह भी विधृति और प्रतिष्ठा के भेद प्रकरण में कहा गया है। जैसे मन–प्राण–वाक् परस्पर सम्बद्ध हैं, एक दूसरे के बिना नहीं रहते, वैसे ही उनके विवर्त भाव के परिवर्तित रूप ज्योति–विधृति प्रतिष्ठा भी परस्पर सम्बद्ध रहते हैं। इस प्रक्रिया में अशनाया–बल जब विधृति द्वारा धारण कर लिया जाता है तब उस अशनाया बल के वशीभूत उससे सीमित हुआ ज्योति रूप मन चारों ओर संस्रवण करता है-अर्थात् अन्य को अपने स्वरूप में ग्रहण करने को प्रवृत्त होता है। यह दो रसों का योग ही प्रतिष्ठा है। रस का सर्वप्रथम विवर्त भाव मन के रूप में होता है यह अनेक बार कहा जा चुका है। इस प्रकार एक रस रूप मन ज्योति रूप से विधृति में प्रविष्ट है, और दूसरा अशनाया बल से संस्रवित होकर रस रूप बनता है, इस तरह प्रतिष्ठा यहां द्विरसा कही गई है। बल सारे यद्यपि क्षणिक होते हैं किन्तु जब ये रस में प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तब वे भिन्न भिन्न रूप में बिखरे हुए भी एक जगह प्रतिष्ठा पाकर एक रूप हो जाते हैं। यह ही उनकी स्वरूप सत्ता है, यह ही प्रतिष्ठा भाव समझना चाहिये।

अपने निज रूप में सारे बल स्वतन्त्र ही थे, वे सब जब रस का आधार पाकर एक रूप हो जाते हैं। ये आत्मा में प्रतिष्ठित होकर परतन्त्र हो जाते हैं। बिखरे बलों को एक रूपता देने वाली तथा बल को परतन्त्र कर देने वाली—यह प्रतिष्ठा ही है ॥१२८॥

२. पूर्व कथित को ही स्पष्ट किया जा रहा है—पहले बल स्व स्वरूप से स्वतन्त्र ही थे, किन्तु जब वे रस की विवर्त रूप मन-ज्योति में प्रतिष्ठित हो गये—तब ज्योति के वशीभूत हो गये। इस प्रकार सब बलों की एक रूपता बनाने वाली और बलों को परतन्त्र करने वाली प्रतिष्ठा होती है—यह प्रतिष्ठा का रूप है।

प्रतिष्ठा-ज्योति-विधृति की परस्पर अनिवार्य उपकारकता दिखाई जाती है—इन बलों की यदि कहीं प्रतिष्ठा नहीं होती तो सर्वतो भावेन ज्योति का प्रसार कैसे होता ? किंच प्रतिष्ठित होने के बिना विधृति द्वारा बलों को सन्तान रूपता कैसे निरूपित होती ? अर्थात् बल की प्रवाह नित्यता कैसे बनती ? ॥१२९॥

३. ज्योति, विधृति, प्रतिष्ठा की परस्पर उपकारकता प्रतिपादित हो रही है—प्रतिष्ठा के बिना अस्थिर-बिखरे हुए—क्षणिक बलों में रस की विवर्तभावेन परिवर्तित ज्योति रूप की, प्रवृत्ति रूपा गति कैसे होती—अर्थात् जगत् का विकास कैसे हो पाता ? बलों में ही ज्योति का विकास होता है, 'बल और कर्म पर्याय ही तो है'। अस्थिर अवस्था गत क्षणों में नष्ट हो जाने वाले बलों में विकास सम्भावना कैसे बने ? अस्थिर अवस्था में सन्तान रूप विस्तार सम्भव नहीं हो पाता, फिर जो विधृति का सान्तानिक रूप बताया जाता है—वह भी कैसे सम्पन्न हो सकेगा।

प्रतिष्ठा पाये हुए बलों की ही विधृति होती है, प्रतिष्ठित बल से ही सन्तान क्रम संगत होता है। यह प्रतिष्ठा ब्रह्म स्वरूपिणी है, इस ब्रह्ममयी प्रतिष्ठा से ही सम्पूर्ण कर्म प्रतिष्ठित होते हैं। प्रतिष्ठित कर्म जगत् रूप से भासित होते हैं ॥१३०॥

४. यहां यह सन्देह किया जाता है कि—जैसे जल तरंगों में अस्थिरता होने पर भी क्रमिक तरंग परम्परा देखी जाती है, वैसे ही प्रतिष्ठा रहित बलों की भी प्रवाह रूप परम्परा भाव की सन्तान रूपता हो सकेगी। इसका ही समाधान करते हैं कि—तरंग भी जब जल में सत्ता भाव से प्रतिष्ठित हो जाते हैं, तब ही उनकी क्रम परम्परा सम्भव होती है। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान में बल परम्परा बन जायगी ? तो वहां भी ज्ञान में प्रतिष्ठितों की ही परम्परा माननी होगी। किन्तु इस ज्ञान परम्परा मात्र से वस्तु रूप विकास सम्भव नहीं हो सकता, जब तक वस्तुओं में बल की स्थिति न हो जाय। पदार्थ विकास तो बलों के प्रतिष्ठित होने पर ही सम्भव होता है। इस कारण ही नैयायिक विद्वान् क्षणिक पदार्थों की भी—उत्पत्तिक्षण, स्थितिक्षण और विनाशक्षण इस तरह तीन क्षणों की कल्पना करते हैं। बौद्ध मतावलम्बियों की तरह उत्पत्ति और विनाश का एक ही क्षण वे नहीं मानते। ये जो स्थितिक्षण हैं यह ही प्रतिष्ठा रूप है। पदार्थ की विधृति रूप धारणा भी उस स्थिति क्षण में ही सम्भव होती है, उत्पत्ति और विनाश का यदि एक ही क्षण हो तो धारणा कैसे हो सकेगी ? सबकी विनाशिता ही यदि मानी जाय तो फिर विधृति कहां हो सकेगी ? अतः यह मानना होगा कि प्रतिष्ठित बल द्वारा ही समीची अर्थात्

प्रवाह रूप संगम होकर सन्तान रूप प्रतिष्ठा भी सम्भव होती है। निष्कर्ष यह है कि इस प्रतिष्ठा को ब्रह्म रूप मानना चाहिये। इस ब्रह्म रूपिणी प्रतिष्ठा से ही सारा जगत् प्रतिष्ठा पा रहा है। प्रतिष्ठा पाये हुए कर्म को ही जगत् कहा जाता है।

[1]यतोऽस्ति चास्तीति मतिः प्रवर्तते मृत्योः प्रतिष्ठा ननु साभिधीयते।
प्रतिष्ठितः सन्निह कथ्यते सतः सत्ता प्रतिष्ठोत्क्रमपाप्मनः पृथक् ॥१३१॥

[2]न सा स्थितिर्यत्र गतिर्न विद्यते स्थितिर्न यत्रास्ति न सा गतिः क्वचित्।
स्थितिर्नु सैवाऽमृतमत्र दृश्यते गतिर्नु मृत्युः परिवर्तनात्मिका ॥१३२॥

[3]यत्त्वावृतिः सा मितिरत्र तत्कृता वस्त्वाकृतिः सा स्थितिरन्यथा मता।
उच्छेदगत्याः पृथगत्र सा गतिर्मता परिच्छेदफलाऽमृतानुगा ॥१३३॥

क्षण स्थायी स्वभाव वाले मृत्यु की अर्थात् बल की भी जिसके कारण—अस्ति-अस्ति ये बुद्धि व्यवहृत होती है। ये है, ये है, यह व्यवहार प्रत्यक्ष है। ये प्रतीति करने वाली प्रतिष्ठा ही कही जाती है। ये अस्तिभाव ही जीवन सत्ता का प्रयोजक होता है। प्रतिष्ठा पा जाने पर ही अस्तित्व संसार में माना जाता है। अर्थात् प्रतिष्ठा ब्रह्म स्वरूपिणी है—इस ब्रह्ममयी प्रतिष्ठा से सत्ता बनी रहती है। पाप्मा अर्थात् मृत्यु स्वरूप बल से प्रतिष्ठा सर्वथा भिन्न है। मृत्यु-पाप्मा तो उत् क्रामक हैं। सत्ता को उखाड़ने वाला है ॥१३१॥

१. यदि यह कहा जाय कि इस क्षणिक संसार में प्रतिष्ठा तो वास्तव में है ही नहीं, तो फिर प्रतिष्ठित भाव का विचार ही किस हेतु किया जा रहा है? इस सन्देह भाव का विचार रखकर ही कहते हैं कि मृत्यु अथवा बल यद्यपि क्षणिक ही है, तथापि व्यवहार में उस बल के लिए अस्ति अस्ति—ऐसी सत्ता भाव द्योतक स्वाभाविक बुद्धि होती है, इस बुद्धि की हेतु भूत प्रतिष्ठा ही कही जाती है—ये वेद की परिभाषा कही जा सकती है। ये पदार्थ है—ऐसी अस्ति बुद्धि सबके अनुभव में आती है—स्वतः सिद्ध है, इस अस्ति बुद्धि का अपलाप तो कोई भी नहीं कर सकता। यह अस्तित्व बुद्धि ही जीवन सत्ता की प्रयोजक है। प्राकृतिक सत्ता पदार्थ में अनुवर्तित रहती है तभी उसमें हमारी अस्ति बुद्धि प्रवृत्त होती है। इस सत्ता को ही प्रतिष्ठा नाम से कहा जाता है। पद्य में सत्ता शब्द की व्युत्पत्ति भी उत्तरार्द्ध में व्याकरण प्रक्रिया से स्पष्ट कर दी गई है कि जगत् में प्रतिष्ठा से स्थिरता पा जाने पर ही सत् कहा जाता है और सत्-के भाव को ही अर्थात् प्रतिष्ठा को ही सत्ता कहते हैं। उत्क्रान्ति–नाश वा मृत्यु तो केवल बल का रूप है। यह उत्क्रमण बल की स्वाभाविकता है, ब्रह्म में इसकी प्रतिष्ठा नहीं है। अतः स्पष्ट यह है कि पाप्मा से अर्थात् उत्क्रमण रूप बल से यह प्रतिष्ठा भाव सर्वथा पृथक् है। ये प्रतिष्ठा तो रस रूप ब्रह्म का विवर्त है।

संसार में कोई स्थिति–या स्थिरता ऐसी नहीं होती जिसमें गतिभाव नहीं होवे, इस ही प्रकार कोई गति भी ऐसी नहीं होती जिसमें स्थिति भाव न होवे। स्थिति भाव सर्वत्र निश्चित रूप से अमृतमय होता है, और गति भाव प्रतिक्षण परिवर्तित होते रहने वाली मृत्यु का होता है ॥१३२॥

२. पूर्वोक्त प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि विधृति और प्रतिष्ठा स्थिति रूप होती हैं, ये विधृति, प्रतिष्ठा, रस जिसमें प्रधान होता है उस अव्यय पुरुष की कला प्राण और वाक् रूप हैं—अतः रस रूप ही हैं, किन्तु रस सदा सर्वत्र बल के साथ ही रहता है, रस बल का अविना भाव है। अर्थात् ब्रह्म और माया नित्य संबद्ध रहते हैं—इस विषय को पुनः स्पष्ट करते हैं कि संसार में कहीं भी स्थिति–गति शून्यता नहीं देखी जाती। जिन पर्वत आदि पदार्थों को हम स्थायी मानते हैं, उनमें भी उनके अवयवों में परिवर्तन रूप गति अवश्य होती है, अन्यथा ये पर्वत अति पुरातन है यह व्यवहार होना संभव नहीं हो पाता, इसका प्रतिपादन अनेक प्रकार से पहले किया जा चुका है, इस ही प्रकार से गति भी स्थिति के बिना कहीं नहीं होती यह पूर्व दो श्लोकों में बताया गया। यह स्थिति ही अमृतमयी है—रस रूप है, गति मृत्यु है—बल रूप है, इन दोनों के योग से ही सर्वत्र अवस्थाओं में परिवर्तन होता है यह समझना चाहिए, इस परिवर्तन से बल की स्थिति सिद्ध है परिवर्तित रूप हो जाने पर भी यह वही पदार्थ है ऐसी प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पूर्व स्मरण सर्वत्र होता है—इससे रस की रस-बल दोनों से समन्वित सारा संसार है, यही सिद्ध होता है।

विशुद्ध आनन्दमय-रस रूप-अमृत ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक है, उसका गति भावापन्न बल के द्वारा आवरण किया जाता है, सीमाबद्ध किया जाता है—जिसे परिच्छेद कहते हैं। 'अर्थात् बल रूपा गति के ही दो भेद दिखाये जा रहे हैं, एक स्थिति-सत्ता वा जोवन निर्मापक, दूसरा उच्छेद-मृत्यु कारक"। माया बल के उस सोमा भाव से ही आकार-आकृति शकल का निर्माण होता है। यह सोमाकरण गति रूप ही है किन्तु सत्ता सम्पादक है। स्थिति जो रस रूपा कही गई है—वह इससे विपरीत है——सर्व व्यापक सर्वदा सत् है। माया बल द्वारा परिच्छेद रूपा जो गति है, वह उच्छेद-मृत्यु रूप गति से पृथक् है। यह आवरण रूप परिच्छेद गति तो अमृत का आश्रय लेकर तदनुगता होती हुई जीवन रूप प्रतिष्ठा को बना रही है। जबकि उच्छेद रूपा गति जीवन समापक होती है ।।१३३।।

३. स्थिति और गति के दूसरे नाम व्यापकता—और सीमितता या परिछिन्नता है। सर्वत्र व्यापक विभु–ब्रह्म का आवरण ही मिति या परिच्छेद है। परिच्छेद ही आकृति (आकार) है। यह आवरण गति रूप ही है—क्योंकि आवरण भी बल रूप है-बल स्वयं गति रूप है। स्थिति इससे विपरीत है—वह तो व्यापक है। यह परिच्छेद करने वाली गति जो मिति रूपा है—यह उच्छेद रूपा गति से सर्वथा भिन्न ही दिखाई देती है। परिच्छेद और उच्छेद दोनों पृथक् रूप ही होते हैं—यह भाव है। उच्छेद से भिन्न यह गति परिच्छेद रूप फल को देती है, अर्थात् रस परिच्छेद से यह गति सत्ता बनाती है—उच्छेद नहीं करती। विशेषता यह है कि यह गति अमृत का अनुगमन कर रही है, अर्थात् अमृतमय रस की ही ओर जा रही है, उसका ही आश्रय ले रही है, तात्पर्य यह कि रस का ही सीमा भाव भासित कर रही है।

[1]स्थितस्य शश्वत् परिवर्तनक्रमे यत्पूर्वदृष्टं न पुनः प्रदृश्यते।
तद्रूपमुच्छिन्नमिति प्रतीयते तत्कर्ममृत्युः परतः सदिष्यते ।।१३४।।

असन् स मृत्युः सति वीक्ष्यते क्षणं यतस्तु सत्तां परिगृह्य सन्निव।
स एव सत्ताधन उच्यतेऽमृतं रसः स नश्यत्सु न नश्यतीह यः ।।१३५।।

[२]सत्ता हि सामान्यमिदं प्रदृश्यते सैकैव सर्वत्र विवर्तते पृथक् ।
भावा भवन्तीह तदन्वयादिमेऽभावः पुनस्तद्व्यतिरेकतो भवेत् ।।१३६।।

कर्मैव सत्कर्मणि बध्यमानं रूपेऽन्यरूपेण विजायते यत् ।
भूयोऽपि भूयोऽपि नवे नवेऽस्मिन् पूर्वैव सत्ता क्रमते स्थितैव ।।१३७।।

इति प्रतिष्ठास्वरूपम्

यद्यपि सत् कार्यवाद रूप सिद्धान्त में सर्वथा उच्छेद किसी का नहीं होता, तथापि जो पदार्थ स्थिति पाये हुए प्रतिष्ठित प्रतीत हो रहा है उसमें बलगत परिवर्तन क्रम सतत चल रहा है—उस परिवर्तन चक्र में जो पहले जिस रूप में देखा गया था उस रूप में फिर नहीं दिखाई देता—वह पूर्व का रूप उच्छिन्न हो गया, ऐसा प्रतीत होता है—यह अवसान रूप कर्म की मृत्यु है—किन्तु परिवर्तित अवस्था में जो बल वा कर्म अवस्था रसानुगत हो रही है—वह सत् ही मानी जाती है ।।१३४।।

१. जब सत् कार्यवाद में किसी पदार्थ का उच्छेद होता ही नहीं, तो फिर उच्छेद का व्यवहार क्यों किया जा रहा है ? इस सन्देह का निराकरण करते हैं कि सतत परिवर्तन रूप गति चक्र में जो रूप पहले देखा गया था—वह फिर कभी नहीं देखा जाता तो उस पूर्व रूप का तो उच्छेद होता ही है । सत् कार्यवाद में एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुंचाने को ही परिणाम या परिवर्तन कहा जाता है । उसमें जो पूर्व अवस्था चली गई वह तो सर्वथा चली ही गई । अवस्थाओं का अवस्थावान् पदार्थों से भेद मानकर ही तो सत् कार्यवाद का व्यवहार होता है । उसमें जिस अवस्था का उच्छेद हो जाता है वह विनाशि-कर्म का रूप है । रस के आधार पर तो बल रूप अवस्थाओं की सत्ता प्रतीत होती है । सत्ता मात्र बल अवस्थों की होती है किन्तु उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता—इस हेतु ही वेदान्त में अवस्थाओं को असत् वा मिथ्या कहा जाता है । दूसरे का सहारा पाकर ही उनकी सत्ता है—स्वतः नहीं । यह मिथ्या भाव कहा जाता है । मिथु धातु जिससे मिथ्या शब्द बनता है—संगम न अर्थवाला है, अन्य की संगति पाकर ही अवस्थाओं की प्रतीति होती हैं—अवस्था अपने आप में स्वतन्त्र नहीं हैं—यह ही मिथ्या भाव का निर्वचन है । आगे पद्य में इसका ही विवरण है ।

असत्–नाशवान् होता हुआ भी वह मृत्यु अर्थात् कर्म वा बल जिस अमृतमय रस का परिग्रह प्राप्त कर सत्ता पा जाता है और कुछ काल तक सत् रूप में प्रतीत होता है । वह अमृत मय रस ही सत्ताघन है । इस संसार में बलों के नष्ट होते रहने पर भी, जो कभी नष्ट नहीं होता ।।१३५।।

सत्ता का समानभाव ही शास्त्रों में दिखाया जाता है—वास्तव में सर्वत्र सत्ता एक ही है, वह स्व स्वरूप में रहती हुई ही अविकृत विवर्त भाव से पृथक्-पृथक् वितत होती है । सत्ता का सम्बन्ध पाकर विभिन्न भाव बनते हैं । सत्ता सम्बन्ध न होने पर तो अभाव कहा जाता है ।।१३६।।

२. स्पष्ट यह हुआ कि न्याय आदि दर्शनों में जो 'सत्ता सामान्य' शब्द का व्यवहार होता है—वह रसमय ब्रह्म का ही रूप है —उससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है। 'व्यक्त्याकृति जातयस्तु पदार्थः' यह न्याय सूत्र में कहा है। उनमें जाति सामान्य कही जाती है–वह ब्रह्म रूप है। आकृति तो कर्म रूप है यह कहा ही जा चुका है। जाति और आकृति के समन्वय को ही 'व्यक्ति' कहा जाता है यह ध्यान में रखना चाहिये। सत्ता के योग से ही भाव संज्ञा होती है। जहां सत्ता का अनुसन्धान नहीं हो पाता–वहां 'अभाव' का व्यवहार होता है। यद्यपि सत्ता ब्रह्म स्वरूपिणी है—सर्वत्र व्यापक है, उसका अभाव कहीं भी संभव नहीं होता, तथापि उस सत्ता का अनुसंधान जिसके सम्बन्ध से नहीं हो पा रहा है, उस सम्बन्ध का ही अभाव कहा जाता है। अतएव भावान्तर में चले जाना ही पूर्व भाव का अभाव पदार्थ सिद्धान्त में मान्य है।

सत्तायुक्त कर्म से बंधा हुआ अवान्तर असत् कर्म एक रूप में से अन्य रूप से प्रतीत होने लगता है—बार-बार ये नये-नये रूप बदलते रहते हैं किन्तु इन सब में वह पूर्व सत्ता ही संक्रान्त रहती है। क्योंकि वह सदा सर्वत्र स्थित रहती ही है। उसके आधार पर पुरातन पदार्थ को भी ये वही है कह कर व्यवहार किया जाता है ॥१३७॥

प्रतिष्ठा का स्वरूप परिचय सम्पूर्ण ॥

[3]सत्ता पृथिव्या इह नाभिभूता तस्या विकाशः परितोऽस्ति दिक्षु ।
आलम्ब्य तामेव भवन्ति भावा ये पार्थिवास्ते हि तयात्र बद्धाः ॥१३८॥
अप्स्वम्मयास्तेजसि तेजसास्ते वायौ तु वायव्यगणा निबद्धाः ।
वाचो वियत्यत्र बलानि तद्वत् [1]प्राणो धियः प्रज्ञगताः समस्ताः ॥१३९॥
[2]सत्ता पृथिव्यामनुवर्तते जलाज्जले तु सा तेजस एव तेजसि ।
वायोश्च वायौ वियतोऽथ तत्र सा प्राणात् पुनस्तत्र धियोनुवर्तते ॥१४०॥
[3]एवं नु भावाः सकलाः समन्ततो रसेन सत्तामय सूत्ररूपिणा ।
प्रज्ञे निबद्धा अथ तेऽपि भूरिशः प्रज्ञा इहैकाक्षर मूलमास्थिताः ॥१४१॥
[4]सत्तैव भावो य इहास्ति भावो भवेदभावो यदि नात्र सत्ता ।
सत्ता यदेका तदिहैकमेव प्रतीयतेऽद्वैतमिदं समस्तम् ॥१४२॥

इति प्रतिष्ठोदाहरणानि

सत्ता वा प्रतिष्ठा के उदाहरण पृथ्वी-जल आदि के दिये जाते हैं—पृथ्वी की सत्ता संसार में नाभि अर्थात् केन्द्र रूप होती है, केन्द्र से उसका विकास चतुर्दिक् होता है। इस सत्ता का आधार पाकर ही पार्थिव भाव विभिन्न रूपों में उदित होते हैं, वे सब उस नाभिगत सत्ता से बंधे रहते हैं ॥१३८॥

३. प्रतिष्ठा ही सत्ता है यह पहले कहा जा चुका है। वहां कारण की सत्ता ही कार्य में अनुवर्तित होती है कार्य भूत पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती यह यहाँ प्रतिपादन कर रहे हैं। कार्य की सत्ता से कारण सत्ता दब नहीं जाती—फलतः कारण सत्ता का विकास ही कार्यसत्ता रूप से होता है यह मानना पड़ता है। कार्य भाव में सर्वप्रथम पृथ्वी आदि पंच भूतों की उत्पत्ति

होती है, फिर उनसे उत्पन्न सैंकड़ों पदार्थों की—जैसे पृथ्वी से घड़ा, कूंडी, सराई आदि, जल के फेन, बुलबुले आदि, तेज के दीपक आदि विकास होते हैं। इन भौतिक पदार्थों में भूतों की सत्ता ही सर्वत्र अनुगत रहती है—यह प्रतिपादन दो श्लोकों में किया जा रहा है। इस कारण ही भूतों से समुत्पन्न पदार्थ भूतों से बंधे रहते हैं, भूतों के आकर्षण में खिंचे हुए भूत मण्डल की सीमा से बाहर नहीं जा सकते। पार्थिव शरीर धारी प्राणी भी पृथ्वी से बंधे रहते हैं। इस ही प्रकार जलीय शरीर धारी जल से—इत्यादि व्याख्या यहां हुई है।

आकर्षण बद्धता के उदाहरण—जल में उत्पन्न जल मय पदार्थ जल में बंधे रहते हैं, तेज प्रधान तेज में, वायु प्रधान वायव्य, वायु में, और वाक् से समुत्पन्न वाक् रूप, आकाश में निबद्ध रहते हैं। इसके समान ही प्रज्ञ रूप विज्ञानात्मा से बल प्राण और बुद्धि भाव बंधे रहते हैं ॥१३६॥

१. जैसे भूतों से समुत्पन्न सारे पदार्थ भूतों से बंधे रहते हैं, वैसे ही प्रज्ञ रूप विज्ञान आत्मा के विवर्त रूप मन, प्राण, वाक् और बल समुदाय प्रज्ञ नामक आत्मा से बंधे रहते हैं, यह तात्पर्य है। यहां सब स्थूल पदार्थों की उपादान भूत अर्थात् नित्य कारण रूपा वाक् की आकाश में बद्धता कही गई है—इस ही निमित्त प्राण और बुद्धि की ही प्रज्ञ से बद्धता कही गई है। यद्यपि आकाश की गुण रूप आकाश से बंधी हुई शब्द रूपा वाक् स्वयं स्थूल रूप है। अखिल विश्व की नित्य कारण रूपिणी वाक् तो अव्यय पुरुष की कला रूप वाक् है—वह आकाश आदि कार्यों की भी कारण है। यह स्थूल और सूक्ष्म वाक् का मौलिक भेद है। यह होते हुए भी ये स्थूल वाणी भी उस मूलभूत वाणी की ही प्रथम विवर्त रूप है—अतः कारण और कार्य की अभिन्नता मानकर यहां व्यवहार किया गया है। पृथक् रूप से विचार करने पर तो प्राण और मन के समान वाक् की भी प्रज्ञ आश्रितता समझनी चाहिए।

कारण सत्ता ही की कार्य रूप सत्ता में अनुगत रहने को सृष्टि प्रक्रिया बताते हैं—जल से उत्पन्न पृथ्वी में जल की सत्ता रस भाव में अनुगत रहती है, जल में तेज (अग्नि) की सत्ता, तेज में वायु की सत्ता, वायु में आकाश की, आकाश में प्राण की और प्राण में मन की सत्ता अनुवर्तित रहती है ॥१४०॥

२. अब पंच महाभूतों में भी तैत्तिरीय उपनिषत् में उपदिष्ट "आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी, इस प्रक्रिया के अनुसार कारण की सत्ता ही कार्य में संक्रमित होती है यह कहा जा रहा है। पृथ्वी में जल से सत्ता अनुवर्तित होती है, जल में तेज की इत्यादि स्पष्ट है। आकाश की उत्पत्ति तो प्राण से हुई है अतः वहां प्राण सत्ता अनुगत रहती है, प्राण में मन की सत्ता अनुगत है यह समझना चाहिये।

इस प्रकार सारे भाव रूप पदार्थ सब ओर से सत्तामय सूत्र रूपी रस के द्वारा क्षर प्रज्ञ में बंधे रहते हैं, और क्षर भूत असख्य प्रज्ञ अक्षर पुरुष से बद्ध हैं, अक्षर भी सर्व मूलभूत अव्यय पुरुष में बद्ध रहता है ॥१४१॥

३. इस प्रकार परम्परा रूप से विचार करने पर, मूल सत्ता रस की ही होती है, अर्थात् रस ही सर्वत्र सत्ता रूप है। रस रूपिणी सत्ता ही सर्वत्र अनुगत रहती है—फलस्वरूप अद्वैत ही सिद्ध

होता है। सारे भाव प्रज्ञ-आत्मा में बंधे रहते है, और क्षर आत्मा रूप में आया हुआ प्रज्ञ, अक्षर पुरुष में बद्ध रहता है, वह अक्षर भी अव्यय में बद्ध है, अव्यय परात्पर में और परात् पर भी निर्विशेष-निराकार शुद्ध रस में निबद्ध है—इस क्रम से अवसान में अद्वैत एक ही ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है।

इस संसार में जो भाव रूप जीवन दृश्यमान है, वह भाव सत्ता रूप होती है, यदि सत्ता से सम्बन्ध टूट जाय तो वह अभाव हो जाता है अभाव का सम्बन्ध बल से होता है। सत्ता सर्वत्र एक रूपा ही होती है—उसके एकत्व से, प्रतीति एक सत्ता की ही होती है—अत: समस्त जगत् अद्वैत ब्रह्म स्वरूप ही है ॥१४२॥

४. पहले जिस अद्वैत प्रक्रिया का प्रतिपादन कर चुके हैं, उसका स्मरण करा रहे हैं, सत्ता को ही भाव इस नाम से कहा जाता है, जहां सत्ता का अनुसंधान नहीं हो पाता— वहां ही अभाव माना जाता है अभी पूर्व में यह उपपादन किया जा चुका है। सत्ता की एकरूपता के कारण अद्वैत स्वत: सिद्ध है।

प्रतिष्ठा परिच्छेद सम्पूर्ण।

(२३) भूमाधिकरणम्

[१]ब्रह्मादिरूपं यदतीवगूढं निर्लक्षणत्वान्न निरुच्यते तत्।
शक्यं न विज्ञातुमिदं यथावद् यावत्तु शक्यं तदिह प्रदिष्टम् ॥१४३॥

[१]तज्ज्योतिराभिता यथा तथा यत्सेयं प्रतिष्ठा यदिहास्ति चास्ति।
रसो हि भूमाविधृतोऽस्ति भाति विरूपमेतद्धचमृतं निरुक्तम् ॥१४४॥

[२]ज्योति: प्रतिष्ठा विधृतिस्तथैभिर्नित्यावियुक्तैस्त्रिभिरात्मभिर्यः।
परोऽन्य आत्मा पुरुषोत्तमः स्यात् तं सच्चिदानन्द इति ब्रुवन्ति ॥१४५॥

प्रतिष्ठितोऽयं तु यतस्ततः सन् ज्योतिर्मयोऽयं यदतश्चिदुक्तः।
यतोऽच्युतोऽयं विधृत: सुखोऽतस्तं सच्चिदानन्द इति स्तुवन्ति ॥१४६॥

इति भूम्न: सच्चिदानन्दरूपम्

[३]भूमा बहुत्वं परिपूर्णरूपं कामस्तदर्थो न च तत्र कामः।
कामो ह्यपूर्णे परिपूर्णतायै प्रवर्तते पूर्णतरे कुत: स्यात् ॥१४७॥

[४]भूम्नो रसान्नो पृथगस्तिकिञ्चित् सर्वं हि तस्मिन्न च तत्परस्मिन्।
प्रतिष्ठतः स स्वमहिम्नि भूमा भूमैव भूम्नो महिमा प्रतिष्ठा ॥१४८॥

सोऽध: स ऊर्ध्वं स पुरश्च पश्चात् स उत्तरा दक्षिणत: समन्तात्।
सर्वं तदेकामृतमद्वितीयं दिक्कालदेशैर्न विमीयते तत् ॥१४९॥

इति भूम्न: परनिरुक्तरूपम्

ब्रह्म का मूल रूप अत्यन्त गूढ है, उसका कोई लक्षण ही नहीं बनता अतः ब्रह्म का निर्वचन नहीं किया जा सकता, इसका यथावत् वास्तविक रूप नहीं जाना जा सकता, जितना कुछ ब्रह्म के विषय में विचार किया जा सकता है—वो यहां दिखाया गया है ।।१४३।।

५. भूमा अर्थात् व्यापक ब्रह्म—यद्यपि मन और वाणी की गति से अतीत है, तथापि जितना उपपादन किया जा सकता है, उतना आकाश-पक्षी न्याय के अनुसार किया जायगा। आकाश में पक्षी अपनी शक्ति के अनुसार ही उड़ान भरता है—सारे आकाश को नहीं नाप सकता।

वेद में तथा वेदानुकूल अन्य शास्त्रों में सत्, चित् और आनन्द ये तीन ब्रह्म भाव बताये गये हैं। वे ही यहां ज्योति, प्रतिष्ठा, विधृति रूप से निरूपित हुए हैं। संसार में जितने भी आभास हो रहे हैं—वे चित् स्वरूप ज्योति द्वारा ही हो रहे हैं, अस्ति, अस्ति कहकर वस्तु मात्र का जो सत्ताभाव व्यवहार में आ रहा है—वह प्रतिष्ठा के आधार पर है, रस–भूमा वा आनन्द, विधृति अर्थात् धारणा शक्ति से द्योतित है—उससे ही अस्ति रूपा सत्ता और भाति रूप वस्तुभास होता है, इस प्रकार विविध रूप में ये सब अमृतमय ब्रह्म का ही निर्वचन हुआ है ।।१४४।।

१. उपनिषदों में सर्वत्र सत्, चित्, आनन्द ही ब्रह्म स्वरूप निरूपित हुआ है। उनमें चित्-चेतना, ज्योति रूप है, सत्ता प्रतिष्ठा रूप और विधृति-आनन्द रूप है—इस प्रकार ज्योति-विधृति और प्रतिष्ठा नामों से ब्रह्म ही कहा जाता है, यह तात्पर्य है। इनकी तत्तत् रूपता की व्याख्या पूर्व की जा चुकी है।

ज्योति–प्रतिष्ठा-विधृति या अन्य शब्दों में चेतना-सत्ता-आनन्द जो कि सदा परस्पर संयुक्त रहते हैं और आत्मा स्वरूप हैं, इनका समष्टि रूप जो अन्य मुख्य एवं सूक्ष्म आत्मा है—वह ही पुरुषोत्तम है, उसको ही सच्चिदानन्द नाम से कहा जाता है ।।१४५।।

२. ज्योति आदि के जो कि लोक में प्रतीति में आ रहे हैं उनकी प्रतीति व्यष्टि भाव में हो रही है—उनकी समष्टि भावगत जो सम्मुग्ध अवस्था है—वह भिन्न पर आत्मा कहलाता है – इसका आग के पद्य में स्पष्ट विवरण है।

ब्रह्म को सच्चिदानन्द क्यों कहते हैं ? इसका स्पष्टीकरण करते हैं—यह ब्रह्म तो यतः–ततः अर्थात् सर्वतोभावेन प्रतिष्ठा पा रहा है, इसीलिये सत् कहलाता है, यह स्वयं ज्योतिर्मय है अतः चित् कहा गया है, और कभी भी विच्युत न होने वाले सुखभाव के कारण यह विधृति भाव रूप नित्य धारणावस्थ है—अतः सत्-चित् आनन्द रूप मानकर ब्रह्म की स्तुति की जाती है ।।१४६।।

भूमा का 'सच्चिदानन्द' परिच्छेद सम्पूर्ण।

भूमा का रूप प्रचुरता–महत्व, जीवन साधनों की अत्यधिक पूर्णतामय होता है, अतः भूमा अपने आप में सर्वतोभावेन परिपूर्ण रूप है। इस महत्व वा पूर्णता को प्राप्त करने के लिए ही कामना जागती है। परिपूर्ण भूमाभाव में तो कोई कामना शेष रहती ही नहीं—अतः भूमा में कामना सम्भव नहीं। कामना तो अपूर्ण अवस्था में सब तरह की पूर्णता प्राप्ति के लिये प्रवृत्त होती है, भूमा जो पूर्ण से भी पूर्णत्तर है—वहां काम का क्या काम ।।१४७।।

३. " यो वै भूमा तत् सुखम्" अर्थात् बुद्धिमयी पूर्णता का नाम ही सुख या आनन्द है। यह वेद वचन है। इसको युक्ति संगति से भी विचार में ले रहे हैं—महत्व पाने के सब ही जीवों की प्रवृत्ति होती है—अतः उस महत्व में ही आनन्द या सुख है—यह सहज अनुमान हो जाता है। सुख की ही अभिलाषा सब को होती है। तात्पर्य यह निकला कि महत्व प्राप्ति के लिये ही सब की कामना होती है। अब विचारणीय यह है कि जिस 'भूमा' से महान् और कुछ है ही नहीं—उसको प्राप्त कर लेने के अनन्तर फिर किस उद्देश्य को लेकर कामना होवे? निर्णय यही है कि जब तक अपूर्णता रहती है—कामना भी तभी तक रहती है, भूमा-व्यापकता-परम महान्भाव स्थिति में तो काम वासना संभव नहीं होती। अतः भूमा वा ब्रह्म की, और उस भूमा भाव को प्राप्त कर लेने वाले मुक्ता जनों की, निष्कामता युक्ति से सिद्ध है—यह भाव है। बहु शब्द से इमनिच् प्रत्यय करने पर 'भूमा' शब्द सिद्ध होता है। अतः बहुत्व या महत्व ही अर्थ सिद्ध होता है।

सर्वत्र व्यापक रस रूप भूमा से पृथक् कहीं कुछ नहीं है, सब कुछ भूमा में ही प्रतिष्ठित हैं, भूमा किसी अन्य के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है—वह तो अपनी निज महिमा में ही प्रतिष्ठित हो रहा है, सर्व व्यापकता ही भूमा की महिमा है—यह ही प्रतिष्ठा है ।।१४८।।

४. छान्दोग्य उपनिषत् में सप्तम प्रपाठक के आरम्भ में नारद-सनत्कुमार संवाद आया है, उसमें वेद और अन्य सारे शास्त्रों से—ऊपर नाम (शब्द) को महत्व दिया है, नाम से भी ऊपर वाक् को महत्वपूर्ण बताया - इस क्रम से भगवान् सनतकुमार ने एक-एक से आगे-आगे वाले का महत्व प्रतिष्ठापित करते हुए पन्द्रहवें खण्ड के अन्त में सब की अपेक्षा प्राण की महत्ता प्रतिष्ठापित की है। उस क्रम में प्रत्येक की ब्रह्म रूपता समझ कर नारद ने उस क्रम उपासना को अङ्गीकार कर लिया। उसके अनन्तर तो सोलहवें खण्ड से आरम्भ कर, सत्य, विज्ञान आदि क्रम से जिज्ञासा योग्यों का तार-तम्य दिखाते हुए तेईसवें खण्ड में 'भूमा' की ही सब से परता अर्थात् सूक्ष्मता का उपदेश किया है, और वह 'भूमा' स्वयं में ही प्रतिष्ठित है यह भी कहा गया है। ग्रन्थकार ने उस श्रुति का यहां अर्थानुवाद किया है-वहां श्रुति में भूमा पद से रस ही कहा गया है-वह ही सब से पर अर्थात् सूक्ष्म है-सारा विश्व उसमें ही प्रतिष्ठित है-वह किसी अन्य के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है, यह स्पष्ट अर्थ है।

विश्व में रस—नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, बायें, दाहिने सब ओर व्याप्त है, अतः सारा संसार एक मात्र अद्वितीय अमृतमय ब्रह्म का ही वितान है, यह अमृत-ब्रह्म दिशा, काल तथा देश विशेष की सीमा में नहीं आता है ।।१४९।।

भूमा का पर तत्व निरूपण सम्पूर्ण।

'बृहत् सदायत् परिबृंहणं यत् तदुच्यते ब्रह्म य एष भूमा।
प्रतीयते सर्वगतोऽप्यलिप्तो रूपं तदेतत् परमं प्रविद्यात् ।।१५०।।

नाम्ना विना किञ्चिदिहास्ति नैतन्नाम्नोपि वागेव तु भूयसीयम्।
वाचो मनस्तन्मनसोऽपि भूयान् संकल्पकश्चित्तमतोऽपि भूयः ।।१५१।।

तद्ध्यानविज्ञानबलान्नमापस्तेजोऽन्तरिक्षं स्मर एवमाशा ।
प्राणश्च भूयान क्रमशस्तदित्थं यथोत्तरं भूयसि पूर्व पूर्वात्[2] ॥१५२॥

[3]नाभौ यथारा निखिलाः स्युरर्पिताः प्राणे तथास्मिन्निखिलं समर्पितम् ।
स कर्म कर्त्ता करणं क्रिया तथा स एव माता स पिता स बान्धवाः ।१५३॥

प्राणः क्षरं प्राण इहाक्षरं तथा प्राणः परं नास्ति परं किमप्यतः ।
अनेकधा प्राण इहानुवक्ष्यते परो रजास्त्वेष मतः पृथग्विधः ॥१५४॥

इति भूम्नः प्राणे विशेषता

प्राणोऽस्ति[4] सत्यं न ततोऽस्ति सत्यं जिज्ञासितव्यं तु यदस्ति सत्यम् ।
विज्ञाय सत्यं वदतीति तस्माद् विज्ञानमेव प्रथमं तु शिक्षेत् ॥१५५॥

मत्वा विजानाति ततो मतिः प्राक् संपादनीया मतिमान् हि विद्यात् ।
श्रद्धोदये तद्विषये मतिः स्याच्छ्रद्धामतोऽस्मिन् प्रथमं विदध्यात् ॥१५६॥

निष्ठां गताः श्रद्दधते ततः प्राङ निष्ठैव कार्या न ततः पराक् स्यात् ।
कृत्वा तु निस्तिष्ठति यत्नयोगात् तस्माद्बिहासौ कृतिमान् पुरः स्यात् ॥१५७॥

यदैव कुर्वन् लभते सुखं चेत् तदा करोतीति सुखं परीक्ष्यम् ।
सुखं तु भूमैव न चाल्पभावे सुखं स भूमा प्रथमोऽवधेयः ॥१५८॥

इति भूम्नः सुखरूपता

यत्रान्यदन्यत् प्रतिपद्यते तत् स्यादल्पकं तन्मतमत्र मर्त्यम् ।
न श्रूयतेऽन्यन्न च दृश्यतेऽन्यद्विज्ञायतेऽन्यच्चैव न चेत् सभूमा ॥१५९॥

इति भूम्नः स्वरूपम्

जो सब से बृहत् (महान्) है और जो सर्वत्र उफनता हुआ फैलता रहता है—वह ब्रह्म पद से कहा जाता है—वह ही यह भूमा है । ब्रह्म सर्वगत होता हुआ भी सर्वत्र अलिप्त ही प्रतीत होता है—यह ही उस ब्रह्म का एक मात्र रूप समझना चाहिये ॥१५०॥

१. भूमा ही सबसे बृहत् (महान्) होने के कारण ब्रह्म इस नाम से कहा जाता है, यह श्लोक का आशय है ।

नाम (शब्द)के बिना इस जगत् में कहीं कुछ नहीं है (नाम-रूप ही जगत् माना जाता है) अतः नाम बड़ा है—उससे भी सूक्ष्म वाक् का महत्व है, वाक् से भी बड़ा मन माना गया है, मन से भी संकल्प, और संकल्प से भी चित्त महान् है ॥१५१॥

चित्तसे अधिक महत्वशाली ध्यान, ध्यान से भी विज्ञान, विज्ञान से भी बल परंपरा महान् है, इन से आगे अन्न का महत्व, उससे भी आप् (जल) उससे भी तेज, उससे अन्तरिक्ष, उससे स्मर, उससे आशा, सबसे बृहत् प्राण माना गया है । इनमें पूर्व, पूर्व से आगे वालों की बृहत्ता अधिक होती है ॥१५२॥

२. पूर्व कथित छान्दोग्य श्रुति में उपदिष्ट, नाम-वाक्-मन-संकल्प-चित्त-ध्यान-विज्ञान-बलों का, उसके अनन्तर अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मर, आशा और अन्त में प्राण का उत्तरोत्तर महत्व का क्रम दो पद्यों में संक्षेप से अनुवाद कर दिखाया गया है। इनका महत्व क्रम किस कारण है ये तो वहां छान्दोग्य में ही खोला गया है—ग्रन्थकार ने यहां उसे बढाया नहीं है।

रथ चक्र की नाभि में जैसे पहिये के अरे संयुक्त रहते हैं—उसके ही आधारित भी रहते हैं—वैसे ही इस प्राण तत्व में निखिल विश्व आधारित है। प्राण ही कर्म (बल) है, प्राण ही कर्त्ता, प्राण ही साधन है, प्राण ही क्रिया भाव है। प्रत्यक्ष जगत् में भी प्राण ही माता है, प्राण ही पिता, अन्य सारे बान्धव भी तो प्राण रूप ही हैं ॥१५३॥

३. दो पद्यों द्वारा प्राण की व्यापकता (भूमा रूप), और प्राण की महिमा स्पष्ट बताई गई है। यहां प्राण शब्द ब्रह्म का बोधक ही है, वेदान्त सूत्रों में यह निर्णय किया गया है।

प्राण ही क्षर पुरुष रूप है, प्राण ही अक्षर है, अव्यय पुरुष भी प्राण रूप ही है, प्राण से परे कहीं कुछ नहीं है। लोक में अनेक प्रकार से प्राण का अनुवचन किया जाता है। लोकातीत प्राण तो परोरजा नाम से पृथक् माना गया है ॥१५४॥

भूमा से प्राण में विशेषता निरूपण सम्पन्न।

४. छान्दोग्य श्रुति में कथित—वास्तविक सत्य की जिज्ञासा का मौलिक क्रम क्या है? यह चार श्लोकों द्वारा बताया जा रहा है।

संसार में वास्तव में प्राण ही सत्य है, प्राण से अतिरिक्त सत्य नहीं है। जिज्ञासा सत्य को जानने की ही होती है—और वास्तविकता का ज्ञान अनुभवात्मक विज्ञान से होता है, अनुभूति रूप विज्ञान के अनन्तर सत्य बोला जा सकता है—अतः सत्य की खोज करने वाले को सर्वप्रथम तो विज्ञान प्रक्रिया का शिक्षण लेना चाहिये ॥१५५॥

विज्ञान प्रक्रिया में बुद्धि द्वारा ही अनुभव होता है, अतः सामान्य बुद्धि को मति पहले बनाना होगा—अर्थात् एक लक्ष्य पर स्थिर करना होगा—लक्ष्य पर स्थिर होने वाला ही मतिमान् होता है और मतिमान् ही ज्ञान का अधिकारी होता है। किसी में श्रद्धा के उदय होने पर ही उसको प्राप्त करने की एक लक्ष्य रूपा मति उस विषय में बनती है—अतः इस मार्ग में श्रद्धा का योग प्रथम आवश्यक है ॥१५६॥

जो विश्वास रूप आस्था रखते हैं—उनमें ही श्रद्धा का जागरण होता—अतः निश्चित विश्वास रखना चाहिये—अविश्वस्त होकर लक्ष्य से पराङ्मुख नहीं होना चाहिए। केवल विश्वास रूप निष्ठा से भी अग्रेसरण नहीं होता जब तक तदनुकूल कृति में प्रवृत्ति नहीं होती—इस कारण कर्त्तव्यनिष्ठता आवश्यक है, कृती पुरुष ही आगे बढता है ॥१५७॥

यत्न—या कृति में भी मनुष्य तब ही प्रवृत्त होता है—जब उसे यत्न करते हुए सुख मिलता है—सुख मिलने पर ही अग्रिम क्रिया में प्रवृत्त होता है—अतः सुख की ही परीक्षा आवश्यक है। सुख तो बुद्धि रूप भूमा में ही होता है, अल्पता में सुखानुभव नहीं होता—अतः सुख ही भूमा वा आनन्द है—वह ही अवधान करने योग्य है ॥१५८॥

भूमा की सुख रूपता–परिचय पूर्ण।

जहां ये दूसरा है ऐसा भेद उत्पन्न होता है--वहां सदा अल्पता रहती है और यह ही इस मृत्युलोक का मर्त्यभाव है। इससे विपरीत जहां सुनने में अन्य भाव न आवे, देखने में अन्य भाव न दिखाई देवे, ज्ञान में भी अन्यता न आवे—सर्वत्र निज रूप का ही भास हो रहा हो—वह भूमा वा ब्रह्म भाव है ॥१५९॥

भूमा का स्वरूप परिचय पूर्ण।

यदल्पमल्पं[1] तदिहोक्तमार्तं यथा तु भूमा सुखमिष्यते तत्।
परस्तु भूमाऽस्त्यमृतेऽतिमात्रे ततः परानन्दमयः स आत्मा ॥१६०॥

भयं[2] हि कम्पः स्थितिविच्यवोऽसौ तत्कर्म मृत्युः स इहोपदिष्टः।
ध्रुवं प्रशान्तं त्वमृतं ततोऽन्यत् ततः सदानन्दमयः स आत्मा ॥१६१॥

[3]भयं मितस्य प्रबलाद् द्वितीयादिदं त्वमात्रामृतमद्वितीयम्।
न कम्पयोग्यं न ततो वरिष्ठं ततोऽभयानन्दमयः स आत्मा ॥१६२॥

[4]रसोऽन्नमाधीयत आत्मने यत् तृप्तिर्गतिस्तस्य रसस्य दृष्टा।
विज्ञानमानन्द इतीह तृप्तौ तत्तृप्तिजानन्दमयः स आत्मा ॥१६३॥

[1]सुखं रसो होति वदन्ति विज्ञा रसं हि लब्ध्वा सुखिनो भवन्ति।
रसोऽमृतं कार्यरसानुभावात् ततो रसानन्दमयः स आत्मा ॥१६४॥

इति भूम्नः आनन्दत्वमात्मत्वं च

जीवनोपयोगी साधनों की अल्पता ही संसार में दुःख नाम से कही गई है और पुत्र धन आदि की वृद्धि रूप भूमाभाव को सुख या आनन्द कहा जाता है। अति मात्रा में अर्थात् सबसे अधिक भूमाभाव अमृतमय ब्रह्म में ही है—अतः अमृत स्वरूप वह आत्मा एक मात्र आनन्दमय माना जाता है ॥१६०॥

१. आत्मा ही आनन्द रूप है, इसको दृढता से बोध कराने के लिये पुनः प्रतिपादन कर रहे हैं, लोक में स्पष्ट देखा जाता है कि जिसके पास जीवन साधनों की जितनी अल्पता होती है—उसको उतना ही दुःख होता है, और जितनी अपनी प्रजा और धन की वृद्धि होती है—उतना उसे सुख का अनुभव होता है। इसलिये महानता रूप भूमा भाव ही सुख है यह स्पष्ट सिद्ध होता है। तो फिर जो अमृत—रसनाम से प्रसिद्ध है—उसकी आनन्द रूपता में सन्देह कैसा ? बड़ा रस आया कहकर व्यवहार में आनन्द का ही परिचय होता है।

रस में भय तथा दुःख का सम्बन्ध लेश मात्र भी नहीं होता। भय कम्पन रूप होता है, वह सत्ता रूप स्थिति को विच्युत कर देता है, यह ही मृत्यु रूप बल का स्वरूप है। इससे विपरीत अमृतमय रस सदा ध्रुव (अविचल) तथा प्रशान्त (सन्तुष्ट) रहता है, इस तरह रस रूप आत्मा सदा आनन्दमय हो माना जाता है ॥१६१॥

२. आत्मा में भय और दुःख का संश्लेष नहीं होता यह कहा जा रहा है—भय शब्द कम्पन वाचक है, यह बात आगे दुःख-सुख के अधिकरण में स्पष्ट की जायगी। यह कम्पन दृढता रूप स्थिति

को विच्युत करता है—अर्थात् दृढता का अभाव ही कांप उठना है। यह ही मृत्यु रूप बल का आकार है, यह सारा विषय पूर्व कहा जा चुका है। इस भय संयुक्त कम्पन को ही दुःख कहा जाता है। अन्तःकरण के विचलित हो जाने पर—जो घबराहट रूप कम्प होता है—तब ही दुःख का अनुभव होता है, यह पहले भी कहा है आगे भी कहा जायगा। सिद्ध हुआ कि बल ही दुःख रूप है। इससे विपरीत रस तो आनन्द मय है, यह युक्ति द्वारा भी सिद्ध हो रहा है, यह तात्पर्य है।

जो अपने आप को कमजोर और अन्य को प्रबल मान रहा हो—भय उसे ही होता है किन्तु यह रस मय ब्रह्म तो अमृत रूप है—इसमें अल्प-अधिक मात्रा भाव है ही नहीं, यह जब एक ही अद्वितीय है, तो अन्य के अभाव में भय होगा किससे? अतः मानना होगा कि रस में कम्प योग्यता ही नहीं है, अर्थात् सम्भव ही नहीं है। अमृत ब्रह्म से विशाल महत्व-शाली, परमश्रेष्ठ तो अन्य कुछ है ही नहीं। यही वह आत्मा अभय-आनन्द रूप है ॥१६२॥

३. लोक का उदाहरण देते हुए पूर्वोक्त को ही दृढ करते हैं। जो स्वयं को अल्प भाव में घिरा हुआ समझ रहा है और अपने से अन्य को प्रबल मान रहा है—उसको उस दूसरे अधिक बलवान् से भय होता है—यह ही संसार में देखा जाता है। रस नाम से कहा जाने वाला अमृत-ब्रह्म तो अद्वितीय है। उससे अन्य कोई है ही नहीं कि जिससे भय हो सके तो भय वहां कहां से होगा। यह विषय "द्वितीयाद वै भयं भवति" इस बृहदारण्यकश्रुति में स्पष्ट विवेचित हुआ है।

भोक्ता आत्मा के भोग के लिये तथा तत् फल रूप शरीर रक्षा के लिये शरीर में जो अन्न का आधान किया जाता है—उसकी परिणति तृप्ति रूप में सबके अनुभव में आती है, यह तृप्ति रस का ही रूप है। तृप्ति का ज्ञान ही आनन्द है। इस अन्ना धान तृप्ति से समुत्पन्न आनन्द रूप में, आत्मा ही लक्षित होता है ॥१६३॥

४. सब कुछ लीन भी आनन्द में ही हो जाता है—इससे भी आनन्द का ब्रह्मत्व दिखाया जा रहा है, आत्मा के भोग साधन के लिये शरीर को उसकी रक्षा के लिये जो अन्न का आधान रूप चयन किया जाता है—अर्थात् खाया जाता है। उसकी गति अर्थात् परिणाम, तृप्ति है। लौकिक दृष्टि से भी अन्न रस पूर्ण होता है—अतः रस का परिणाम तृप्ति होनी चाहिये यह सिद्ध विषय है। तृप्ति के ज्ञान को ही आनन्द कहते हैं। इसलिये मानना होगा कि सबका पर्यवसान-लीन भाव आनन्द में ही होता है।

सुख निश्चय से रस ही है—ऐसा विशिष्ट ज्ञानी जनों का कथन है, रस पाकर ही सर्वजन सुखी होते हैं। रस-अमृत में कार्यरूप रूप रस के अनुभाव से—अर्थात् निरन्तर सह भाव से भी रस सदा आनन्दमय ही रहता है—अतः आत्मा रसानन्द रूप है यह ही स्पष्ट है ॥१६४॥

१. लोक में भी सुख को रस कहा जाता है। हमको रस मिल गया—सुखीजन यही कहते हैं। लौकिक सुख आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब रूप है, उससे उत्पन्न कार्य ही है—यह पहले कहा गया

है। जब मूल के प्रतिबिम्बन में सुख होता है तो स्वयं की सुख रूपता में सन्देह कैसे किया जा सकता है—यह भाव है। (भूमा का आनन्द तथा आत्मा भाव निरूपण पूर्ण)।

(भूमा का आनन्द तथा आतमा भाव निरूपण पूर्ण)।

(२४) आनन्दकारणताधिकरणम्

[२]स्त्रीपुंसयोर्यत्र न हर्षसंभवस्तदा न गर्भस्थितिरिष्यते क्वचित्।
गर्भच्युतिः स्याच्च विषादसंस्रवादानन्दतः सर्वमिदं प्रजायते ॥१६५॥

[३]न जीवने यस्य तु हर्षसंभवेश्चिरं न जीवेत् स इहार्ति संप्लुतः।
प्रतिक्षणं जीवति हर्षमात्रया स सर्वतोऽन्नादिह तृप्तिमश्नुते ॥१६६॥

यदोषधीर्वारि[४] तथाग्निवायू वाचं बलं ज्ञानमिहान्नमत्ति।
स सर्वतस्तृप्तिमुपेत्य शश्वद्धर्षं स गृह्णाति सहर्ष आत्मा ॥१६७॥

[५]एतेषु वा सप्तविधेषु भोग्येष्वन्नेषुमानन्दरसो यदि स्यात्।
[६]आनन्द आत्माविभवेन्नतेषुमहांश्च न स्यान्नच तृप्तिमेयात् ॥१६८॥

जगत् में सबकी उत्पत्ति आनन्द के आधार पर हो होती है, स्त्री तथा पुरुष में जहां हर्ष कला का उदय नहीं होता तो प्रसन्नता न होने से गर्भ स्थिति भी नहीं होती। यदि विषाद रूप दुःख का प्रसार गर्भ स्थिति के अनन्तर भी स्त्री में हो जाता है तो गर्भ गिर जाता है—अतः सिद्ध होता है कि आनन्द से ही सब कुछ होता है ॥१६५॥

२. आनन्द ही सब का उत्पादक है यह कहा जा रहा है—विषाद के संस्रव अर्थात् प्रसार से तो गर्भ च्युति हो जाती है, अन्य अर्थ स्पष्ट है।

जिसके जीवन में प्रसन्नता रूप हर्ष का उदय नहीं हो पाता वह दुःख में डूबता हुआ इस संसार में चिरकाल तक नहीं जी पाता। प्रत्येक प्राणी हर्ष मात्रा से ही प्रतिक्षण जीवन लाभ करता है। वह सब ओर से सब प्रकार के अन्नों को ग्रहण करता हुआ तृप्ति पाकर यहां जीता है ॥१६६

३. आनन्द ही जीवन सत्ता संपादक है, तथा आनन्द ही पालक है, यह तात्पर्य है।

केवल शाक–धान्य–फल आदि ही मानव के अन्न नहीं होते—सात प्रकार के अन्नों को पाकर जीवन चलता है—जो अन्न खाते हैं—वह ओषधी नाम से कहा गया है, वह एक अन्न है दूसरा जीवन आधार जल है, तीसरा अग्नि है—बिना गर्मी के मानव जी नहीं सकता, चौथा अन्न वायु है, पंचम वाक् रूप शब्द है, सर्वथा निःशब्द में घबराहट होती है—अतः आवाज भी हमारा अन्न है, छटा अन्न बल है, शक्ति के आधार पर जीवन निर्भर होता है, सप्तम अन्न सबसे प्रधान ज्ञान रूप चेतना है, इन सप्तान्नों को ग्रहण करता हुआ आत्मा सदा तृप्त होकर हर्ष प्राप्त करता है—वह हर्ष आत्मा रूप ही है ॥१६७॥

४. अन्न से तृप्ति होती है, तृप्ति ही तो हर्ष है—उससे जीवन धारा चलती है आदि सब के अनुभव में स्पष्ट आता है।

उक्त सात प्रकार के आत्मा के भोग्य रूप अन्नों में यदि आनन्दमय रस न होवे, तब तो इस क्षर पुरुष आत्मा से मूल मुख्य आत्मा की विभूति सम्बन्ध हो नहीं बने—तब यह आत्मा जो व्यवहार चला रहा है, महान् बन रहा है—वह भी न बन पावे और न इस आत्मा को तृप्ति रूप हर्ष मिल सके ।।१६८।।

५. बृहदारण्यक उपनिषद् में प्रथम अध्याय के पंचम ब्राह्मण में सात अन्नों का विवरण हुआ है, उसका यह अभिप्राय ग्रन्थकार ने अन्य ग्रन्थ में स्पष्ट किया है कि, अन्न, जल, अग्नि, वायु, वाक्, बल और ज्ञान ये सात मनुष्य के अन्न हैं। इन को पाकर ही ये जीवित रहता है। इनमें से एक के भी प्राप्त न होने पर उद्विग्न हो जाता है—यह ही इस श्लोक द्वारा कहा जा रहा है। औषधि पद से यहां अन्न कहा गया है। अन्न, जल, वायु की प्राणधारकता तो प्रसिद्ध ही है। अग्नि के नाम से कही जाने वाली गर्मी भी प्राणधारक होती है यह भी सिद्ध है, शरीर में से गर्माहट के चले जाने पर प्राण का प्रयाण हो जाता है यह सब जानते हैं। वह उष्णता भी अन्न आदि में प्रविष्ट रहती है अतः भोजन में आती ही है—अतः वह भी हमारा अन्न है। इसी तरह यदि कहीं से भी किसी की आवाज नहीं आ रही हो तो ऐसी शून्यता में मनुष्य को घबराहट हो जाती है। बल रूप शक्ति भी यदि अन्न आदि से प्राप्त न होवे तो मृत्यु हो जाती है। ज्ञान रूप चेतना के अभाव में तो मृत्यु हो जाना सुप्रसिद्ध ही है। इन सातों अन्नों की प्राप्ति से तृप्ति होती है। तृप्ति से हर्ष होता है। इस व्यावहारिक प्रत्यक्ष अनमूति के अनुसार हर्ष जीवन रक्षकता स्वयं सिद्ध हो जाती है।

६. कथित सात प्रकार के भोग योग्य अन्नों में आनन्द मिलता है—इसीलिये आत्मा की इनमें प्रवृत्ति होती है, जहां आनन्द नहीं मिलता उस विषय में आत्मा का विभव अर्थात् बिभूति संबंध नहीं होता। मुख्य आत्मा का बल रूप जगत् में केवल विभूति सम्बन्ध ही होता है—यह संसर्ग अधिकरण में कहा गया है उसे स्मरण करना चाहिये। इससे यह सिद्ध होता है आत्मा आनन्द रूप ही है। आनन्द का आनन्द से सजाति-आकर्षण (समानाकर्षण-स्वाभाविक खिचाव) रूप सम्बन्ध ही समुचित होता है। अन्तःकरण में घिरा हुआ व्यावहारिक आत्मा तो विषयों का सम्बन्ध प्राप्त करके महान् होता है—अर्थात् विकसित होता है—यह विवेचना पूर्व हो चुकी है। वह विकास भी आनन्द न मिलने पर नहीं होता, और आनन्द न मिलने पर तृप्ति भी नहीं होती, इसलिए आनन्द जो रस रूप मूल व्यापक ब्रह्म रूप है उसमें सम्बद्ध होने पर ही आत्मा की आनन्द रूपता सिद्ध होती है।

[1]प्राण्यादिहान्यादपि कः क्षणं वा नानन्दमाकाशमिदं यदि स्यात् ।
शृणोति यत्पश्यति वेत्ति यद्वा धृति तदाप्नोति सुखं तदिष्टम् ।।१६९।।

[2]आहारतो वाथ विहारतो वा सा निर्वृतिर्यत्र रमेत लोके ।
सर्वत्र लोके रमते हि लोकस्तस्मात्स आनन्द इहास्ति भूमा ।।१७०।।

इत्यानन्दस्यात्मनः सर्वजगत्प्रवर्तकत्वम्

यदि आकाश के समान व्यापक यह आनन्दमय अमृत नहीं होवे तो क्षणभर भी कौन जीवित रह सकता है, तथा नवीन-नवीन पदार्थों की उत्पत्ति कर सकता है। मनुष्य कुछ सुनता है, जो कुछ देखता है, उससे कुछ अपने भीतर ज्ञान लाभ करता है—तब धृति पाता है अर्थात् सुस्थिति में रहता है—इसको ही सुख माना गया है, ये सबको इष्ट होता है, सुख ही तो सब चाहते हैं ॥१६९॥

१. 'को ह्येवान्यात्, कः प्राणयात्, यद्येष आकाशो आनन्दो न स्यात्' इस तैत्तिरीय श्रुति का अर्थ रूप अनुवाद करते हैं—पद्य में अन्यात् और प्राणयात्—ये दो क्रिया पद आये हैं—उनमें अनन का अर्थ जीवन, प्राण संचरण का अर्थ है नवीन वस्तु उत्पादन सामर्थ्य—अथवा श्वास-प्रश्वास प्रवृत्ति। दोनों ही बात आनन्द के अभाव में क्षण भर भी संभव नहीं हैं। यह वेद का तात्पर्य है। यहां श्रुति में आकाश पद से आत्मा का ही ग्रहण होता है—यह निर्णय ब्रह्म सूत्रों में आकाशाधिकरण में किया गया है।

आहार करने से अथवा विहार करने से जहां तृप्ति होती है, उसमें ही मनुष्य रमण करता है, लोक व्यवहार में सर्वत्र यह ही देखा जाता है कि इस लोक का प्राणी लोक की सभी वस्तुओं में आनन्द लेता है। इसी हेतु से यह मानना होगा संपूर्ण संसार आनन्द का ही विकास है—जगत् रूप में यह ही भूमा है। इस प्रकार आनन्द रूप आत्मा ही सृष्टि का प्रवर्तक होता है ॥१७०॥

२. अब आगे कहे जाने वाले अधिकरण में जिसका निरूपण किया जायगा—उस संसार की भी आनन्द रूपता की प्रस्तावना आरम्भ कर रहे हैं—आहार योग्य पदार्थों में अथवा विहार योग्य पदार्थों में जहां निर्वृति अर्थात् तृप्ति होती है—उनमें ही लौकिक पुरुष रमता है—आनन्द का अनुभव करता है—उससे ही सम्बन्ध जोड़ता है। लोक नाम जन समुदाय का है—जन समष्टि रूप लोक का सर्वत्र ही रमण भाव देखा जाता है, कोई किसी में रमण करता है तो दूसरा अन्य पदार्थों में। संसार में ऐसी कोई खाने की चीज नहीं है, और न ही कोई विहार की कि जिसमें किसी की अभिलाषा नहीं होवे। "अर्थात् एक के लिये जो ग्राह्य है—वह अन्य के लिये त्याज्य हो सकता है—इसी तरह त्याज्य भी ग्राह्य होता है।" हम मानवों की दृष्टि में अत्यन्त घृणा का स्थान जो नरक के समान मलपंक होता है—उसमें भी बास करने वाले कीड़ों का तथा शूकरों का विहार रूप रमण देखा जाता है। अतः लोक में सर्वत्र ही रमण भाव है अर्थात् सर्वत्र ही आनन्द है। इस प्रकार आनन्द का भूमा भाव-व्यापकता सिद्ध होती है—यह तात्पर्य है।

जगत् की आनन्द रूपता

जगदानन्दताधिकरणम्

[3]चिरं स तिष्ठत्यपि यत्र देशे तत्रैव भूयो रमते स्वभोगैः।
ततो बहिष्कारकृतो त्वमुष्य प्रतीयते चेतसि दुःखभावः ॥१७१॥

तत्रात्मनस्तस्यस्वतः स्वभोग्ये विज्ञानतो या ममता विविष्टा।
निवर्तते सा तदिहात्मनस्तद्भोग्यं पृथक् स्यात्तदिहास्ति दुःखम् ॥१७२॥

यान्येव भोग्यानि पुरा सुखानि तान्येव सम्प्रत्य सुखानि भान्ति ।
भोग्यस्थितात्मस्थितयोश्च तस्मादानन्दयोरन्तरमेतदाहुः ॥१७३॥

तेनाऽयमानन्दमयः स आत्मा तेनेदमानन्दमयं च भोग्यम् ।
एकं पुरासीदुदरेऽन्तरे तु कृते भयं स्यात् तदवैति दुःखम् ॥१७४॥

सुखेन भोग्येन सुखोऽयमात्मा न संभवेदेकमयः क्वचिच्चेत् ।
विशेषदोषादुदरेऽन्तरे तु कृतेन तस्मिन् रमते स दुःखी ॥१७५॥

बहिष्कृतस्त्वेष पुनः प्रदेशे यत्रैव गच्छेन्न रमेत सद्यः ।
अथाक्रमाद् भोग्यकुले स आत्मा ममत्व योगाद्विभवन् रमेत ॥१७६॥

न केवलं तत्सुखमात्मनीनं तस्या विशेषादसुखाऽप्रसङ्गात् ।
आत्मेव तस्मादिह भोग्यवर्गोऽप्यानन्द एवेति मतः सभूमा ॥१७७॥

इति सर्वजगत आनन्दमयत्वोपपादनम्

जो मनुष्य जिस स्थान पर बहुत समय तक रह लेता है—वह अपने भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता हुआ वहाँ ही सुख पूर्वक रमणभाव का अनुभव करता है। जब किसी कारणवश उस स्थान से उसे हटा दिया जाता है तब उसके मन में दुःख का अनुभव होता है—वह दु ख प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगता है ॥१७१॥

३. आगे के सात श्लोकों भावात्मक आशय—आत्मा की भोग योग्य पदार्थ से जब एकीभाव रूप अभिन्नता सी हो जाती है, तब उसमें प्रेम होता है और उसमें आनन्द का भी अनुभव होता है। वास्तव में प्रीति आनन्द का ही रूप है। जब उस आनन्ददायक भोग योग्य पदार्थ से पार्थक्य होता है—तब दुःख होता है। जैसे कोई मनुष्य किसी नये स्थान पर जाता है तो आरम्भ में उसे वहां कुछ रमणीय नहीं लगता, किन्तु कुछ समय व्यतीत हो जाने पर उस ही स्थान से उसे प्रीति हो जाती है,—उस अवस्था में यदि किसी अन्य के द्वारा उस स्थान से उसे हटाया जाता है—तब उसे दुःख होता है। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि—प्रारम्भिक अवस्था में उस स्थान से ममता नाम का आत्मा का सम्बन्ध नहीं हो पाया था तब तक उसमें प्रेम भी नहीं हो रहा था। आगे—जब क्रमशः ममता प्रवृत्त हुई–तब परस्पर सम्बन्ध होकर एकीभाव रूप अभिन्नता हो जाने पर आनन्द रूप प्रेम हो गया। अब पुनः वहां से बहिष्कार किये जाने पर उस आनन्ददायक से पृथक् हो जाने के प्रसंग आ जाने पर दुःख का अनुभव होता है। जो निवास का सुख तथा आहार, विहार आदि का सुख वहां प्राप्त हो रहा था, वहाँ से बहिष्कार हो जाने पर उन सब का लाभ न होने पर वह ही दुःखदायक हो जाता है। भाग्यवश यदि उस ही स्थान पर फिर जाना पड़ जाय तो भी तत्काल तो चित्त वहां नहीं रमता अनपेक्षित अरुचि ही होती है। कालान्तर ही क्रमशः सुख का अनुभव होता है। विचारणीय यहां यह है कि—यदि एकमात्र आत्मा ही आनन्द रूप होता तो उपरोक्त तारतम्य नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा तो सदा एक रूप ही होता है—उसमें दुःख का स्पर्श नहीं है। इस तारतम्य भाव से ही यह सिद्ध हो जाता है कि जहां आत्मा आनन्द रूप है—वहां भोग्य जगत् भी आनन्द रूप ही है। दोनों आनन्दों के ममता रूप एकीभाव में आनन्द की प्रत्यक्ष

अनुभूति होती है, पृथक् भाव-(अलगाव) रूप अन्तर हो जाने पर—दुःख का अनुभव होने लगता है। कालक्रमागत पुनः एकीभाव में फिर क्रमिक आनन्दानुभव, यह परम्परा रहती है। इस तरह ब्रह्म रूप आनन्द की व्यापकता सिद्ध होती है। यह ही विषय वेद द्वारा भी प्रतिपादित हुआ है। पूर्वोक्त तैत्तिरीय उपनिषत् में आगे (ब्रह्मानन्द वल्ली ७ अनुवाक्) में "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" इति। यद्यपि उस श्रुति वचन में ब्रह्म के साथ एकीभाव रूप अभिन्नता में निर्भय, और भेद भाव में भय का निर्देश है। परन्तु ब्रह्म की व्यापकता के कारण उस श्रुति से सर्वत्र ही अभेद सिद्ध होता है। अतः वेद में प्रतिपादित अर्थ को जीवन में अनुभव मार्ग में अवतरित करते हुए ग्रन्थकार ने भोग्य पदार्थ के साथ एकता स्थापित करने में उस श्रुति की योजना की है।

दुःखानुभूति का हेतु—जहां मनुष्य चिरकाल से वास कर रहा हो—वहां उसके आत्मा को स्वभावतः निज के भोग्य पदार्थों का अनुभवात्मक ज्ञान रहता है—उसके कारण ही उनमें ममता आविष्ट हो जाती है, किन्तु जब उस स्थान से वह पृथक् हो जाता है—तब आत्मा के उन भोग्य पदार्थों से विरह हो जाने पर उसकी ममता भी हट जाती है। वह ही दुःख कहा जाता है ॥१७२॥

उस अवस्था में जो भोग्य पदार्थ पहले सुखकर हो रहे थे वे अब दुःखदायी भासित होने लगते हैं—कारण वही है कि भोग्य पदार्थ गत आनन्द और आत्मानन्द इनके बीच में भेद रूप अन्तर आ जाता है। दोनों का एकीभाव नहीं हो पाता ॥१७३॥

इस प्रकार यह मानना होगा कि जैसे आत्मा आनन्द रूप है वैसे ही भोग्य पदार्थ भी आनन्द रूप है—जब तक भोग्य आनन्द—आत्मानन्द के उदर में एकीभाव रूप में रहता है—सुख है, भेद रूप अन्तर आ जाने पर भोग्य न मिलने का भय उपस्थित हो जाता है तब दुःखानुभव होता है ॥१७४॥

आनन्दमय भोग्य के साथ आनन्दमय आत्मा का अभिन्न भाव होता है, यदि कहीं किसी विशेष दोष के आ जाने से आत्मानन्द के उदर में भोग्य रूप सुख का अन्तर आ जाय अर्थात् पार्थक्य होकर एकीभाव न बन पावे तो आत्मा फिर वहां नहीं रमता—वह दुःखी होने लगता है ॥१७५॥

एकबार जहां से बहिष्कृत हो चुका हो और फिर उसही प्रदेश में यदि जाना पड़े तो पूर्ववत् तत्काल उसका चित्त वहां नहीं रमता, किन्तु कुछ काल के अनन्तर क्रमशः उन भोग्य पदार्थों में फिर ममता रूप योग हो जाने पर विभूति भाव से रमण होने लगता है ॥१७६॥

केवल आत्मा का ही आनन्द भाव नहीं माना जा सकता क्योंकि आत्मा का आनन्द भाव तो सदा सर्वत्र व्यापक होता है तो फिर दुःख का प्रसंग कहीं आ ही नहीं सकता—अतः आत्मा की तरह भोग्य पदार्थ भी सब आनन्द रूप ही हैं, उन भोग्य पदार्थों सहित ही आत्मा को भूमा माना गया है ॥१७७॥

सारे संसार की आनन्दमयता उपपादन पूर्ण

(२५) अणिमाधिकरणम्

न[1] यत्र खण्डो न च खण्डयोगः स एष भूमा परिपूर्णरूपः ।
यं यं तु पश्यामि स एष सर्वोऽप्यखण्ड एको रस एव भूमा ।।१७८।।

[2]परे तु पश्यन्ति यदत्र दृश्यते सर्वं हि तत् सावयवं प्रदेशवत् ।
सर्वस्य खण्डाः प्रभवन्त्यखण्डता नास्त्यन्ततः कुत्रचिदप्यणोरपि ।।१७९।।

[3]क्षुद्रेह्यमत्रे पृथुले वरिष्ठे कूपे तटाके लवणं निदध्यात् ।
सर्वत्र तु प्रत्युदकाणुसाम्यात् प्रसारणं स्याल्लवणस्य लोके ।।१८०।।

भूमा रस का पूर्ण रूप वह होता है जिसमें कोई खण्ड अर्थात् अवयव रूप विभाग नहीं होता और न ही खण्डों के जुड़ने से उसका कोई एक रूप बनता है । संसार में जो कुछ देखते हैं वो सब एक अखण्ड रस ही भूमा भाव में दिखाई देता है ।।१७८।।

१. जिसका उल्लेख ऊपर हुआ है—वह भूमा अखण्ड अर्थात् निरवयव है, खण्डों के योग से उत्पन्न नहीं है अपितु नित्य ही पूर्णरूप है और वह सब जगह व्याप्त है इसलिये सब पदार्थ रस रूप से अखण्ड ही हैं । सत्ता, चेतना, आनन्द जो रस रूप हैं उनकी खण्ड सम्भावना कहीं भी नहीं होती यह भाव है ।

भिन्न मतावलम्बी जनों का मत है कि—संसार में जो कुछ देखा जाता है—वह सब तो अवयव भाव सहित स खण्ड ही, एवं स्थान विशेष में ही देखा जाता है । अतः सब पदार्थों के खण्ड होते हैं, सब के अन्त में जो परमाणु होता है वह भी अखण्ड नहीं होता ।।१७९।।

२. यहां शङ्का रूप में विरोधियों का मत दिखाया जा रहा है—लोक में जो कुछ देखा जाता है वह सब तो अंश भाव सहित सखण्ड ही होता है । सब जगह सब पदार्थों के अवयव अलग-अलग किये जा सकते हैं । यदि यह कहा जाय कि नैयायिकों के मान्य परमाणु तो अंश रहित हैं—अत अखण्ड हैं तो उसके उत्तर में कहा है कि परमाणु की भी अखण्डता नहीं होती है ।

लोक में प्रत्यक्ष देखा जाता है कि छोटे जल पात्र में वा बड़े कूप में अथवा विशाल तालाब में यदि छोटा सा लवण का खण्ड डाल दिया जाय तो जितना जल जहां होता है—उसमें सब जगह लवण के अणुओं का प्रसारण हो जाता है—इससे अणु से भी अणुभाव की अर्थात् परमाणु की भी सखण्डता सिद्ध होती है ।।१८०।।

३. परमाणु की भी अंश रूप सखण्डता का उपपादन करते हैं—एक क्षुद्र लवण का टुकड़ा यदि अमत्र में (छोटे जल पात्र में) डाल दिया जाता है तो उस पात्र के जल में वह व्याप्त हो जाता है, वह ही यदि बड़े कूप में अथवा उससे भी विशाल सरोवर में डाल दिया जाता है तो वहां भी वह सम्पूर्ण जल के अवयवों में फैल जाता है । जब लवण खण्ड का घनभाव छूट कर विरलता आ जाने पर उसकी एक ही स्थान स्थिति सर्वथा स्वभाव विरुद्ध है । इस प्रकार लवण खण्ड के छोटे होने पर भी कूप में अथवा तलाव में जितने भी जल के अणु भाव के अवयव हैं, उन

सब में लवण का प्रसार हो जाता है, तब विचार करिये कि उस छोटे से लवण खण्ड में इतने कितने परमाणु हो सकते हैं ? जितने भी परमाणुओं की वहां कल्पना की जाय—वे सब भी उस विशाल सरोवर में फैलकर सर्वत्र व्याप्त होने में कैसे समर्थ हो सकेंगे, यदि यह कहा जाय कि उस क्षुद्र खण्ड में भी अनन्त परमाणु हैं, तो फिर छोटे से पात्र के जल में उन अनन्त खण्ड अणुओं का सम्पूर्ण समावेश कैसे हो सकता है—क्योंकि उस छोटे पात्र में भी लवण के अणु अंश पृथक् नहीं देखे जाते—अतः वहां लवण अत्यन्त अणु हो गया और उस जल में सम्मिलित हो गया यह कहा जाय तो एक ही खण्ड में अल्पता और अनन्तता ये दोनों बातें सम्भव नहीं हो सकती। इसलिये यह ही मानना होगा कि छोटे जल पात्र में जो लवण के अणु थे बड़े तलाव में जाकर वे अणु भी खण्ड-खण्ड होकर विभक्त हो जाते हैं। उससे भी विशाल समुद्र के समान तलाव में भी सर्वत्र उन लवण के अवयवों की व्याप्ति हो जाती है। किसी एक स्थान में उन अवयवों के अनुमान में कोई प्रमाण नहीं हो सकता—अतः अत्यन्त अणुभाव में आये हुए उन अवयवों की भी खण्डित होने की परम्परा प्रवृत्त रहती ही है—यह न चाहते हुए भी मानना ही होगा। इसलिए संसार स्थिति में अवयव शून्य अखण्डता ढूंढने पर भी नहीं मिल सकती।

[1]क्षुद्रे गृहे वा प्रवृटे वरिष्ठे कर्पूरखिल्यं विशदे निदध्यात्।
सर्वत्र साम्यादनुमारुताणु प्रसारिणस्तस्य कणा भवन्ति ॥१८१॥

कर्पूरखिल्यं लवणं तदित्थं महावकाशेऽथ महासमुद्रे।
यत् प्रक्षिपेत् तद्विभवेत् तन्निम्ना ततोऽस्ति नान्तः परमाणुखण्डे ॥१८२॥

[2]परे तु पश्यन्ति यदत्र दृश्यते सर्वं सखण्डं सरसः स एव यः।
खण्डोऽस्ति खण्डस्तु न तस्य कल्प्यते तथा प्रदेशोऽवयवश्च नेष्यते ॥१८३॥

[3]महर्षयस्त्वाहुरखण्डता वा सखण्डता वास्ति न नास्ति चेति।
बलात्सखण्डेऽपि रसादखण्डे सर्वत्र बुद्धिर्द्विविधा समीची ॥१८४॥

[4]बलं मितं तेन हि खण्डवत्कृतं प्रदृश्यते सर्वमिदं पृथक्-पृथक्।
बलव्यपाये तदखण्डमेकवत् स एकसिन्धुर्बहुभङ्गवान्यथा ॥१८५॥

अवयव विभाजन का अन्य दृष्टान्त—किसी छोटे से घर में अथवा विशाल भवन में कहीं कपूर खण्ड रख दिया जाय तो वायु के अणुओं के साथ मिलकर उसके कण सारे मकान में समान रूप से फैल जाते हैं—वहां भी कपूर के परमाणुओं का विभाजन प्रत्यक्ष अनुभव गम्य होता है ॥१८१॥

१. पूर्व के सदृश दूसरा कपूर का दृष्टान्त बताया गया है—वायु के अणुओं का अनुसरण करते हुए कपूर खण्ड के अवयव छोटे या बड़े घर में समान रूप प्रसरित हो जाते हैं, इस तरह पूर्व लवण के दृष्टान्त के समान यहां भी अणुभूत अवयवों की विभाजन परम्परा की रुकावट या समाप्ति नहीं होती। इस ही प्रकार से एक अन्य उदाहरण भी देखा जा सकता है कि किसी अत्यन्त अनुभवी वैद्य के द्वारा सौ-दो सौ औषधि माशे माशे भर मिलाकर चूर्ण करके उसकी गुंजा

(घूंघची) के परिमाण की गोलियां बनाली जाती हैं। उनमें प्रत्येक गोली में सब ग्रोषधियों का योग रहता है यह तो मानना ही होगा, ग्रन्यथा उन उन ग्रोषधियों का प्रभाव उन गोलियों में कैसे ग्रनुभव में ग्रा सकेगा ? वहां विचारणीय यह है कि गुंजा मात्र की उस छोटी सी वटी में उन दो सौ ग्रोषधियों के कणों का समावेश कैसे होता है ग्रौर केवल माशे भर उन ग्रोषधियों की सब गोलियों में व्याप्ति कैसे हो जाती है इसका ग्रनुसंधान नहीं किया जा सकता। इसलिये ग्रवयवों की विभाजन परम्परा की कहीं समाप्ति नहीं निश्चित की जा सकती--ग्रतः सब पदार्थों की सखण्डता सिद्ध होती है।

कपूर खण्ड ग्रथवा लवण खण्ड का बहुत बड़े ग्राकाश में ग्रथवा महा समुद्र जैसे सरोवर में जो प्रक्षेप कर दिया जाता है—वह सूक्ष्म से सूक्ष्म रूप धारण करता हुग्रा फैलता रहता है—ग्रतः परमाणु की खण्डता को खण्डता का ग्रन्त नहीं कहा जा सकता ।।१८२।।

जगत् की सखण्डता के विषय में 'परेतु' पद के द्वारा वेदान्त की मान्यता का ग्रभिनय किया जा रहा है कि, वेदान्त के मत में यहां संसार में जो कुछ भी देखा जाता है वह सब सखण्ड ही है ग्रौर वह सखण्ड अवस्था भी ब्रह्म ही है—क्योंकि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। उस व्यापक सत्ता रूप एक मात्र ब्रह्म में खण्ड रूप ग्रवयव होना सम्भव नहीं है ग्रतः खण्ड कल्पना केवल व्यवहार मात्र है—वास्तविक नहीं। ब्रह्म का न कोई स्थान विशेष है, ग्रौर उसमें ग्रंश अशीभाव ही माना जा सकता है ।।१८३।।

२. इस विषय में वेदान्त दर्शन का मत बता रहे हैं--परे का ग्रर्थ वेदान्त वेत्ता विद्वान् इस दृष्टि से विचार करते हैं--यहां जगत् में जो सखण्ड (सावयव) दिखाई देता है--वह सब रस रूप ब्रह्म ही है। सत्ता-चेतना-ग्रानन्द रूप से रस की सर्वत्र व्याप्ति ही उक्त मान्यता का हेतु है, ग्रौर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह वेद वचन इस मान्यता का प्रमाण है। तब खण्ड ग्रवस्था भी रस रूप ही है। ग्रखण्ड–ग्रवयव शून्य ब्रह्म में कभी खण्ड मात्रा की सम्भावना नहीं हो सकती। ग्रतः ये व्यवहार मात्र के लिए प्रचलित ग्रवयव–ग्रवयवी भाव की कल्पना तो कल्पना मात्र ही है–इसमें वास्तविकता नहीं है यह भाव है। ब्रह्म का रूप जो सत्ता–चेतना (ज्ञान) ग्रौर ग्रानन्द माना जाता है–इन तीनों भावों में कभी खण्डता का ग्रनुभव नहीं होता। खण्डता का सम्बन्ध तो नाम ग्रौर रूप से होता है–वे नाम रूप माया कल्पित हैं--वास्तविक नहीं हैं।

वेद विज्ञान के वेत्ता महर्षियों का कथन है कि ग्रखण्ड भाव भी है ग्रौर सखण्ड भाव भी है—दोनों का ही ग्रस्तित्व है, सखण्ड भाव सर्वथा कल्पना मात्र है ग्रर्थात् सावयव जगत् का कोई ग्रस्तित्व ही नहीं है, ऐसा नहीं माना जा सकता। माया बल के द्वारा जगत् की सावयवता है ग्रौर रस की दृष्टि से ग्रखण्डता है। ग्रतः सर्वत्र सखण्ड ग्रौर ग्रखण्ड दोनों ही विचार समुचित हैं ।।१८४।।

३. वैदिक विज्ञान की दृष्टि से दोनों विचारों का समन्वय बता रहे हैं। ग्रखण्ड भाव ग्रथवा सखण्ड भाव का जो ग्रनुभव किया जाता है—उसमें सच्चिदानन्द रूप से ग्रखण्डता होती है ग्रौर नाम रूप की समष्टि से जो एक रूप बनता है वहां सखण्डता होती है। ग्रतः दोनों का ग्रस्तित्व है, संसार ग्रवस्था कुछ भी नहीं है--यह नहीं कहा जा सकता। जो प्रत्यक्ष ग्रनुभव में ग्रा रही है—

उसको छुपाया नहीं जा सकता। दोनों ही भाव स्वीकार करने होंगे और दोनों का मूल भी दो रूप में मानना होगा। वह ही स्पष्ट किया गया कि रस और बल का समन्वित रूप जगत् अवस्था है। इसमें रस रूप से अखण्ड भाव है तथा बल रूप से सखण्ड भाव भी है। इस प्रकार दोनों ही विचार ठीक हैं।

बल स्वयं स्वभाव से सीमित होता है—वह अखण्ड रस को खण्डवान् के समान बना देता है—इस कारण ही जगत् पृथक्-पृथक् दिखाई देने लगता है—बल मात्रा रस में से यदि हटा दी जाय तो रस तो अखण्ड ही है—फिर एक समान ही प्रतीति होगी। जैसे समुद्र में अनन्त तरंगों से खण्ड भाव की प्रतीति होती है, किन्तु तरंगों के शान्त हो जाने पर सर्वत्र जल की एक ही शान्त अवस्था हो जाती है ॥१८५॥

४. बल स्वयं सीमित होता है – वह रस में भी सीमाभाव दिखा देता है—जैसे तरंग जल में खण्डता दिखा देते हैं— इसकी सम्पूर्ण व्याख्या पहले की जा चुकी है। नाम रूप स्वरूप बल के पृथक् कर देने पर तो सखण्डता नहीं हो रहती तब तो सत्ता भाव में सब एक ही है। जैसे तरंगों के नष्ट हो जाने पर जल की एकता ही दृष्टिगोचर होती है।

[1]भूताणवो ग्रन्थनकृद्बलक्षयापि खण्डिताः स्युः परमाणवः पृथक्।
ते चाणवो ग्रन्थिविमोकतः क्रमादभिद्रुताः पुद्गलतां त्यजन्ति हि ॥१८६॥
[2]आकाशवत्सर्वगते रसे पुनर्विलीयमानाः प्रभवन्ति सोऽणिमा।
एषोऽणिमा सोऽस्ति रसो य उच्यते भूमाविभुर्यो बहिरन्तरा ततः ॥१८७॥
क्षुद्रे[3]ऽप्यभत्रे विशदे वरिष्ठे कूपे तटाके लवणं निदध्यात्।
सर्वत्र तु प्रत्युदकाणुसाम्यात् प्रसारणं स्याल्लवणस्य मन्ये ॥१८८॥
क्षुद्रे गृहे वा प्रवृटे वरिष्ठे कर्पूरखिल्यं यदि वा निदध्यात्।
सर्वत्र साम्यादनुमारुताणुप्रसारिणस्तस्य कणाः भवन्ति ॥१८९॥

भूमाणिम्नोः स्वभावविशेषभावादेकरूप्यम्

बल से पंच महाभूतों के अणुभूत अवयवों में ग्रन्थि पड़ने से एक शरीर रूप अवयवी का निर्माण होता है, अन्य विरोधी बल द्वारा उन ग्रन्थियों के खण्डित होने पर उन अणुओं का परमाणु पर्यन्त विभाजन हो जाने के अनन्तर भी, उन परमाणुओं का जो स्वयं भी बल द्वारा ग्रन्थि विधान से ही बने थे, उनकी ग्रन्थि भी टूट जाने पर क्रमशः विरल होते हुए अन्त में पुद्गल (शरीर) भाव का सर्वथा त्याग हो जाता है ॥१८६॥

१. पूर्व कथित परमाणुओं की भी सखण्डता का प्रतिपादन करते हैं—अणुभूत भूतों के अवयवों का बल द्वारा परस्पर संघटन ग्रन्थि रूप में किया जाता है—इससे अवयवी शरीर में एकता का भास होता है। कालान्तर में अन्य बल द्वारा ग्रन्थिभूत पूर्व बलों के नष्ट हो जाने पर अवयवी शरीर खण्डित हो जाते हैं। ये खण्ड रूप अवयवों की नाश प्रक्रिया परमाणु पर्यन्त होती है। परमाणुओं का संपादन भी बल की ग्रन्थि द्वारा ही होता है। अतः वहां भी गांठ खुल जाने पर उस पदार्थ का स्वरूप समाप्त हो जाता है, जैसे पृथ्वी के परमाणुओं की ग्रन्थि खुल जाने पर घनता नष्ट होकर

उनकी जल रूप द्रवता हो जाती है, उस जल भाव की भी गांठें खुल जाने पर जल की अग्नि-रूपता, फिर अग्नि की वायु रूपता, अन्ततः वायु के परमाणुओं की भी ग्रन्थि खुल जाने पर वे परमाणु भी पुद्गलता-घनता-दृश्यमानता जो स्थान घेरने वाली होती है, उसका परित्याग कर देते हैं—तब उनके नाम और रूप का त्याग हो जाने से उनकी भूमाभाव में ही लीनता हो जाती है, यह तात्पर्य है। यह विषय भगवान् शङ्कराचार्य ने शारीरक भाष्य के द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद में वैशेषिक के खण्डन प्रकरण में परमाणु के भी विनाश उपपादन में (२।१५ सूत्र के भाष्य में) इन पंक्तियों में कहा है 'नावश्यं विनश्यद् वस्तु द्वाभ्यामेव हेतुभ्याम् (कारण विभाग—कारण विनाशाभ्याम्) विनष्टु मर्हतीति नियमोऽस्ति—इति काठिन्य विलयन वत् मूर्त्यवस्था विलयेनापि विनाश उप पद्यते' इति। यह मूर्ति अवस्था का विलयन ही पार्थिव परमाणुओं का जल में, जलाणुओं का तेज में—आदि रूप से ऊपर दिखाया गया है। इस समय में तो वैज्ञानिक विद्वान् परमाणु का विभाजन करके बड़े-बड़े कार्य संपादन कर रहे हैं, इससे अति प्राचीन भारतीय आचार्यों की अति सूक्ष्मदर्शिता सिद्ध होती है।

वो परमाणु अन्त में आकाश के समान सर्वत्र व्यापक रस में लीन होते हुए स्थिति पाते हैं। अतः परम अणुभाव भी रस रूप ही होता है—जिसे भूमा अर्थात् परम महान् कहा जाता है वो तो बाहर भीतर सर्वत्र व्यापक रहता है ॥१८७॥

२. इस प्रकार पूर्व कथित लवण-कपूर आदि की तरह और परमाणुओं की भी ग्रन्थि विलयन रीति द्वारा अन्त में वे अणु कहां चले जाते हैं? इसका विचार करने पर आकाश के समान सर्वत्र व्यापक रस में ही विलीन हो जाते हैं यह मानना पड़ेगा। इस प्रकार अणिमा भाव की परिणति भी अन्त में भूमा ही है- यह सिद्ध होता है। तत्वों की क्रमिक विलीनता से अणिमा भाव बनता है- जिससे आगे और अणु भाव नहीं हो सकता। रस तो सदा सीमाहीन भूमा कहा जाता है।

छान्दोग्य श्रुति की ओर संकेत करने के लिए पूर्वोक्त दो पद्यों को फिर लिखा गया है—छोटे से पात्र में या बड़े कूप में अथवा विशाल तालाब में एक लवण खण्ड डाल दिया जाय तो वह जल के प्रत्येक अणुओं में समान रूप से व्याप्त हो जाता है ॥१८८॥

३. अणिमा का स्वरूप ज्ञान कराने के लिए पूर्व लिखित (१८१–१८२) संख्या के श्लोक फिर दोहराये गये हैं। अणिमा का वह ही रूप छान्दोग्य उपनिषत् के छठे प्रपाठक में महर्षि उद्दालक ने श्वेत केतु को विविध व्याख्याओं द्वारा समझाया है—उसका आशय ही इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने अपने शब्दों में अनुवाद किया है। अणिमा भी भूमा के रूप में परिवर्तित हो जाती है, यह विषय भी वहां अनेक दृष्टान्तों से स्पष्ट किया गया है। लवण खण्ड का दृष्टान्त भी वहां बताया गया है—उपनिषत् का अंश "लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति—स तथा चकार, तं होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽवाधी, अङ्ग! तदाहरेति। तद्भावमामृश्य न विवेद, यथा विलीनमेवाङ्ग। अस्यान्तादाचामेति, कथमिति, लवणमिति। मध्यादाचामेति, कथमिति—लवणमिति, अन्तादाचामेति, कथमिति, लवणमिति। अभिप्राश्यैतदथमोपसीदथा इति। तच्च तथा चकार। तच्छश्वत्संवर्तते तं होवाच–अत्र वाव किल सत्सौम्य न निभालयसे, अत्रैव किलेति। स य एषोऽणिमा ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्, तत् सत्यं स आत्मा, तत्वमसि श्वेतकेतो इति। अर्थात्

महर्षि उद्दालक श्वेत केतु को रात्रि में ग्रादेश दे रहे हैं कि इस लवण खण्ड जल पात्र में रख दो और प्रातःकाल हमारे पास ग्राग्रो, श्वेतकेतु ने वैसा ही किया। प्रातः ऋषि बोले, चिरंजीव ? रात में जो लवण खण्ड रखा था—वह ले ग्राग्रो। श्वेतकेतु ने पात्र में सावधानी से उसे खोजा किन्तु वह टुकड़ा उसे नहीं मिला। ऋषि बोले तात ? वह जल में विलीन ही होगया है। तुम पात्र के ग्रारम्भ भाग से लेकर ग्राचमन करो। करने पर पूछा कैसा है ? उत्तर मिला नमकीन है। फिर पात्र के मध्य से लेकर ग्राचमन करो। करने पर पूछा कैसा है ? उत्तर, नमकीन है। फिर कहा पात्र के ग्रन्तिम भाग से लेकर ग्राचमन करो—करने पर पूछा कैसा है ? उत्तर मिला नमकीन ही है। तब कहा उच्छिष्ट मुख हो गया–विधिवत् जलाचमन करके शुद्ध होकर ग्राग्रो। ग्राज्ञा का पालन हुग्रा। श्वेतकेतु जब फिर ग्राया—तब महर्षि बोले—जैसे लवण के ग्रणु जल में विलीन हो रहे हैं—वैसे ही उस नित्य सत् रूप ब्रह्म में यह जगत् भासित हो रहा है यह नहीं देख पा रहे हो क्या ? इस संसार में ही वह ब्रह्म है यह निश्चय जानो। वह नित्य सत् ही यहां ग्रणिमा रूप हो रहा है—ब्रह्म स्वरूप ही सब कुछ है, वह वास्तविक सत्य है—वह ही ग्रात्मा है। भटको मत श्वेतकेतु ? वह ब्रह्म तुम ही हो। यहां ग्रणिमा का ही भूमाभाव कहा गया है। इस ही प्रकार से कपूर का दृष्टान्त भी इससे संबद्ध मानना चाहिये।

छोटे से घर में ग्रथवा विशाल भवन में यदि कपूर का खण्ड खुला रख दिया जाता है तो वायु कणों के साथ कपूर के कण मिलकर सारे भवन में समान भाव में फैल जाते हैं ॥१८६॥

इस प्रकार ग्रणिमा तथा भूमा ग्रन्ततः एक रूप ही हो जाते हैं।

[1]भूताणुभिन्नाः पुरुषाश्च खण्डितास्त्रुटयन्ति नानात्मकतां व्रजन्ति ते।
खण्डाश्च संयुज्य मितिव्यतिक्रमादेकात्मतां यान्ति बृहन् स जायते ॥१६०॥

इत्थं तदल्पाल्पमितिं विलोप्य प्रवृद्धरूपः क्रमशोऽन्ततो यः।
उच्छेदतः सर्वमितेरमात्रोऽवशिष्यते पूर्णरसः स भूमा ॥१६१॥

ग्रापः समुद्राद्रविरश्मिनोत्थिता दिवंगता भूमितलेऽनुवर्षिता।
प्राच्यः प्रतीच्यः परितः प्रवाहिताः समुद्रमेवानुविशन्ति सर्वतः ॥१६२॥

सर्वा हि तास्ताः सरितः समुद्रादुद्भूय भूयोऽप्यपियन्ति तस्मिन्।
समुद्रभूता न पृथक् स्वरूपैस्ता लक्षिताः स्युश्च्युतरूपसंज्ञा ॥१६३॥

[2]एवं प्रजाः सर्वविधा हि तास्ता यतः प्रजाता ग्रपियन्ति यत्र।
यत्राप्ययेवाच्युतरूपसंज्ञाः पृथक् स्वरूपैर्न च लक्षिताः स्युः ॥१६४॥

य एष सर्वप्रभवः प्रतिष्ठा परायणं सर्वगतं च सूक्ष्मम्।
यस्मिन् प्रजास्ताः सकला ग्रपीता विवेकमन्तर्न पुनर्लभन्ते ॥१६५॥

[3]यथेह नाना कुसुमाहृता रसा मधव्रकृता नात्मविवेकमीशते।
तत्सत्यमात्मा स परः स एषोऽणिमैतदात्म्यं स्विदमस्ति सर्वम् ॥१६६॥

यथेह तोये लवणं विलीयते यावज्जलं तद्विभवत्यलं समम् ।
अत्रैव तन्मात्र किलेति नोदके निभालयन्तेऽत्र तथाऽणिमा रसः ।।१६७।।

यथा तरोरस्य रसः स्रवत्ययं मूले च मध्ये च तदग्रके समम् ।
रसेन जीवन्नमुना स मोदते तथा रसेनेदमनन्तविश्वकम् ।।१६८।।

[४]शाखां प्रशाखामपि यामयं रसो जीवस्त्यजेत् सा म्रियते विशुष्यति ।
तथात्मभूतात्तु रसात् परिच्युतं जगत्यलं कर्मबलं विनश्यति ।।१६६।।

पंच महाभूतों के अणु विभक्त होकर खण्ड-खण्ड होकर टूट जाते हैं वे ही नाना रूप में भासित होने लगते हैं। सीमा भाव के हट जाने पर वे खण्ड भाव संयुक्त होकर जब एक रूप हो जाते हैं तो वह बृहत् अर्थात् भूमा हो जाता है ।।१६०।।

१. भूमा से अणिमा की उत्पत्ति और अणिमा की भूमा में परिणति लौकिक दृष्टान्तों द्वारा बताते हैं। उपनिषदों में कथित दृष्टान्त ही प्रायः यहां दूसरे शब्दों में कहे गये हैं। इस प्रकरण के पद्यों के अर्थ प्रायः स्पष्ट हैं, व्याख्या सापेक्ष नहीं हैं।

इस प्रकार छोटे-छोटे सीमाभावों का लोप करके महा सीमाओं में प्रवेश होता है और अन्त में परम महान् अवस्था में सारे सीमाभाव समाप्त हो जाते हैं, मात्रा रहित एक मात्र पूर्ण रस ही शेष रहता है, वह ही भूमा है ।।१६१।।

अणु की भूमा में परिणति का दृष्टान्त—सूर्य की किरणों द्वारा समुद्र का जल कण-कणशः ऊपर खींचा जाता है और द्युलोक में जाकर उस जल के गुणों में परिवर्तन होकर पृथ्वी तल पर वह बरस पड़ता है, पूर्व पश्चिम आदि सब दिशाओं में प्रवाहित होकर नदियों के द्वारा वह फिर सब ओर से समुद्र में ही समाविष्ट हो जाता है—वे सारे जल के अणु परम महान् समुद्र बन जाते हैं ।।१६२।।

भिन्न-भिन्न नाम रूप वाली नदियां उपरोक्त उदाहरण के अनुसार समुद्र से ही बनती हैं और फिर उस समुद्र में ही समाविष्ट हो जाती हैं—वहां वे सब समुद्र में पृथक् रूप में नहीं दिखाई देतीं और न उनके नाम-रूप ही शेष रहते हैं ।।१६३।।

इस ही प्रकार से जगत् रूप यह सारी प्रजा जिसके विभिन्न नाम-रूप होते हैं—आनन्दमय ब्रह्म में से ही उत्पन्न होती हैं और अन्त में उसमें ही समा जाती हैं, ब्रह्म भाव में समाविष्ट हो जाने पर प्रजा के वे विभिन्न नाम रूप समाप्त हो जाते हैं, उनके पृथक् स्वरूप लक्षित नहीं होते ।।१६४।।

२. कथित लौकिक दृष्टान्तों की परम कारण ब्रह्म में योजना की गई है।

यह जो सबका उत्पादक रसमयब्रह्म है, यह ही सबका प्रतिष्ठा रूप आधार है, इसमें ही सब कुछ विलीन होता है, यह सर्वव्यापी-परम सूक्ष्म है। इसमें समाविष्ट हो जाने पर यह सम्पूर्ण प्रजा भेदभाव से शून्य हो जाती है ।।१६५।।

लोक में देखा जाता है कि मक्षिकाओं द्वारा विभिन्न पुष्पों के रस खींचकर मधु के रूप में एकत्र किये जाते हैं, मधु अवस्था में उन पुष्पों का भेदभाव नहीं रहता, अति सूक्ष्मता

के कारण वह भेद ज्ञात नहीं हो पाता, यह ही अणिमा का रूप होता है, यह अपने आप में सत्य है, यह आत्मा है और अत्यन्त सूक्ष्म है, सारा जगत् इस अणिमा का रूप ही है ॥१९६॥

३. विभिन्न पुष्पों के रस मधु में एकाकार हो जाते हैं—यह अन्य दृष्टान्त है। सूक्ष्म होने के कारण ज्ञान का विषय न होने से इसको ही अणिमा कहा जाता है। सर्वव्यापक में लीन हो जाने पर यह ही भूमा हो जाता है—इस प्रकार अणिमा और भूमा की एकता ही हो जाती है, यह विचार करना चाहिये।

जैसे जल में नमक घुलमिलकर बिलीन हो जाता है, वहां जितनी जल की मात्रा होती है उसमें सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हो जाता है, वह नमक जल के अमुक अंश में है और अमुक में नहीं है यह नहीं देखा जा सकता वैसे ही अणिमा भाव में आया हुआ रस जगत् में व्याप्त होता हुआ भी पहचाना नहीं जाता ॥१९७॥

जैसे वृक्ष की जड़ में, मध्यभाग में अथवा अन्तिम शाखापत्र आदि में जल रूप रस सर्वत्र समान रूप से प्रसरित होता है और उस जल का रस पाकर ही वह वृक्ष प्रफुल्ल होता है, वैसे ही यह सारा विश्व आनन्दमय रस से ही जीवन लाभ करता है ॥१९८॥

वृक्ष की शाखा, प्रशाखा के जिस भाग में भी यह जीवनदायक रस नहीं पहुँचता वह शाखा भूत वृक्ष का अंश सूख कर मर जाता है—अर्थात् नष्ट हो जाता है, वैसे ही कर्मरूप बल से सम्पादित यह जगत् आत्मा रूप रस से बिलग होकर नष्ट हो जाता है ॥१९९॥

४. जैसे जलमय रस के न मिलने पर वृक्ष का जीवन नहीं रह पाता, वैसे ही सर्व मूलभूत आनन्द स्वरूप रस के बिना बल भी जीवित नहीं रह सकता—यह तात्पर्य है।

[1]फले वटस्याणुतरा हि धाना धानासु रूपं यददृश्यमस्ति।
निभालयन्ते नयमत्र यत्नादेषोऽणिमा तस्य वटः प्रजज्ञे ॥२००॥

भूमाणिमा स्यादणिमा च भूमा पृथग्बलोऽयं बलमस्ति यस्मिन्।
स एक एवास्त्यणिमा स भूमा रसः स आनन्द इति प्रतीयात् ॥२०१॥

इति भूमाणिम्नोरुदाहरणम्

बड़ के वृक्ष के फल में सूक्ष्म धान (अंकुर) रहते हैं, उनके भी सूक्ष्मतम अणुओं में सारा वट वृक्ष समाया रहता है—उन अति सूक्ष्म अणुओं को अति प्रयास करने पर भी देखा नहीं जा सकता, यह ही अणिमा भाव है, इस अणिमा का ही वट वृक्ष रूप भूमा भाव बन जाता है ॥२००॥

१. वट वृक्ष फल के जो सूक्ष्म धाना अर्थात् बीज होते हैं—उनमें भी अति सूक्ष्म जो अंश भाव रूप अङ्कुर पैदा करने की सामर्थ्य रखने वाला तत्व है—वह ही अणिमा है। वह अणुभाव ही जल और मृत्तिका के योग से क्रमशः महान् वट वृक्ष रूप बन जाता है, इस प्रकार अणिमा का ही भूमा भाव में सर्वत्र परिवर्तन देखा जाता है—अतः दोनों भावों की एकता ही सिद्ध होती है, यह तात्पर्य है।

बल के संसर्ग से भूमा ही अणिमा रूप होता है और अन्य बल का संसर्ग पाकर वह अणिमा भूमाभाव में परिवर्तित हो जाता है। वह बल जिसके आधार पर स्थिति पाता है—वह एक ही मूल तत्व है—वह ही अणिमा है—वह ही भूमा है—वह रस है—वह ही आनन्द है यह समझना चाहिये ॥२०१॥

ये भूमा-अणिमा के उदाहरण बताये गये

(२६) [२]रसभेदाधिकरणम्

[३]द्विधाऽयमानन्द इहास्ति पाप्माप्रसङ्गतो या परमास्ति शान्तिः।
स एव मुख्योऽथ रसप्रवेशान्मृत्यावुदेति क्षणिकः प्रसादः ॥२०२॥

[४]आनन्द एवामृतमस्ति यस्मात् संसृज्य तस्माद्रसमेष मृत्युः।
यावन्तमात्मानमुपैति तावानानन्द आत्मा विभवेषु तेषु ॥२०३॥

२. रस और बल का स्वरूप पहले प्रकरण में बताया जा चुका है। अब कुछ विशेषता बताने के लिये फिर उनके भेदों का उल्लेख किया जा रहा है। गहन विषयों में पुनः पुनः अन्वेषण करने पर ही बुद्धि का प्रवेश सम्भव हो पाता है—इसलिए ऐसे स्थानों में पुनरुक्ति दोष नहीं माना जाता—यह पहले ही कहा जा चुका है।

पाप्मा अर्थात् मायाबल के संसर्ग से सदा एक रस रहने वाले आनन्द के भी दो भेद हो जाते हैं। एक समृद्धि बढ जाने पर अनुभव में आने वाला कुछ समय तक टिकने वाला क्षणिक आनन्द, और दूसरा जिसमें मायाबल की चंचलता समाप्त हो जाती है—वह परमानन्द अथवा शान्त्यानन्द। यह दूसरा परम शान्ति प्रदायक आनन्द ही वास्तव में मुख्य आनन्द है। मृत्यु में (बल में) रस के प्रविष्ट हो जाने पर जिस आनन्द का उदय होता है—वह तो अल्पकालीन प्रसन्नतादायक होता है ॥२०२॥

३. रस और आनन्द ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के द्योतक हैं—यह आरम्भ में ही कहा जा चुका है। इस आनन्द का अनुभव दो प्रकार से होता है। एक शान्त्यानन्द, दूसरा समृद्धयानन्द। पाप्मा नाम से कहा जाने वाला बल जब रस में लीन हो जाता है—वहां बल की चेष्टा नहीं रहती अकेला रस ही रहता है, यह परम आनन्दमय अवस्था ही शान्त्यानन्द नाम से कही जाती है। चंचलता पूर्ण बल के अभाव को ही शान्ति कहते हैं, यह आनन्द का वास्तविक रूप है—इसलिये यह मुख्य माना जाता है। इस आनन्द का अनुभव समाधि अवस्था में, अथवा सुपुप्ति (स्वप्न रहित गहन निद्रा) आदि में होता है। इस शान्तिमय आनन्द की मुख्यता का ज्वलंत प्रमाण यह है कि भोग-राग में परम अनुरक्त रहने वाले जन वर्ग तथा भोग साधनों को बहुतायत से जुटा लेने की परम समर्थता रखने वाले धनिक वर्ग भी विषयों से प्राप्त होने वाले सारे आनन्द भावों को त्याग कर सुपुप्ति रूप गहन निद्रा की तीव्र आकाङ्क्षा रखते हैं। दूसरा समृद्धिजन्य आनन्द वह है—जहां मृत्यु रूप—बल में रस के प्रविष्ट हो जाने पर क्षणिक प्रसन्नता का उदय जिस में होता है—समृद्धयानन्द कहा जाता है। यह मन की वृत्तियों के अनुरूप है, यह सब के प्रत्यक्ष अनुभव में आता है।

समृद्धचानन्द—आनन्द ही एकमात्र अमृत रूप है—इस कारण मृत्यु रूप बल उस रस से संसर्ग करता है, वहां आत्मा रूप आनन्द का विभूति सम्बन्ध रहता है, उस व्यापक रस में बहुसंख्यक बल प्रवाह नित्य होता हुआ जितने रस भाव को सीमित करता है बल के उतने ही प्रदेश में विभूति संसर्ग से रस का प्रवेश होता है—अतः बल प्रवाह की सीमा के अनुसार उतने ही आनन्द का अनुभव मनुष्य कर पाता है—क्योंकि बल हेतुक भोग साधन भी वहां आपेक्षिक भाव से सीमित ही रहते हैं। वे रस के विभव होते हैं ।।२०३।।

४. समृद्धचानन्द का स्वरूप बताते हैं—सर्वत्र व्यापक रस सदा एक रूप ही होता है, उसमें देश काल जनित सीमा स्वभावतः नहीं होती। इससे विपरीत बल तो अति अल्प प्रदेश में स्थिति पाता हुआ क्षणिक होता है यह पहले कहा जा चुका है। रस का आधार पाकर ही बल की सत्ता बनती है, उस रस में ही कई बलों का चयन होकर अधिक स्थान घेर लिया जाता है, बल की प्रवाह नित्यता होती है—इसको जल तरंग दृष्टान्त से समझा जा सकता है। अतः स्वभावतः नित्य सत्ता शून्य बल का भी प्रतिष्ठापक रस ही होता है, इस कारण रस को अमृत और क्षण भङ्गुर बल को मृत्यु कहा गया है। पद्य का अर्थ है—क्योंकि आनन्दमय रस ही अमृत स्वरूप है, अतः ये मृत्यु रूप बल उससे संश्लिष्ट होकर जितने में अपने आप को रख पाता है—अर्थात् सैकड़ों बलों के चयन से जितने प्रदेश को घेर कर व्याप्त होता है—उतने प्रदेश में ही विभूति संसर्ग से तरंगों में जल संसर्ग के समान रस का प्रवेश होता है, अतः उतना ही आनन्द का अनुभव मनुष्य कर पाते हैं। यद्यपि मुख्य रूप से—बल का प्रवेश ही रस में होता है, क्योंकि रस तो पहले से ही सारे प्रदेशों में व्याप्त रहता है अतः किसी नवीन प्रदेश में उसकी प्रवेश संभावना नहीं की जा सकती, किन्तु बल की उत्पत्ति पहले होती है, इससे बल के द्वारा नवीन सीमा भाव रस में आता है—अतः प्रवेश पद का प्रयोग किया गया है। एक दूसरे के आश्रित होने से परस्पर का प्रवेश-व्यवहार सुकरता के लिये माना जाता है। इस परस्पर सम्बन्ध में रस का व्यवहार आत्मा रूप से होता है, और इसमें संचित बल रस के वैभव माने जाते हैं। विभूति सम्बन्ध से बल में रस का प्रवेश होने से विभव पद का व्यवहार किया गया है। पूर्व संसर्ग प्रकरण में विभूति सम्बन्ध की व्याख्या हुई है, उसका संस्मरण करना चाहिये।

[1]शरीरमादौ वनिता तनूजः क्षेत्रे हिरण्यं पशवो गृहाणि।
हस्त्यश्वदासा महिमात्मनोऽयं यत्रैष आत्मा विभवेद् विजानन् ।।२०४।।
[2]यावद्विजानाति ममेदमेवं वित्तं स तावानहमस्मि चेति।
सा तावती तृप्तिरमुष्य तस्माद्विज्ञानमानन्द इति प्रसिद्धिः ।।२०५।।
[3]विज्ञानमानन्दमितीष्यते वा विज्ञानमानन्द इतीष्यते वा।
न संशयोऽत्र क्रियतामयं यत् क्षरेऽक्षरे चापि परं निगूढम् ।।२०६।।

रस स्वरूप आत्मा के महिमात्मक वैभव निदर्शन में सर्वप्रथम शरीर फिर वनिता, पुत्र, सुवर्ण, पशु, घर, हाथी, घोड़े, नोकर चाकर आदि भृत्य वर्ग आत्मा के महिमा रूप होते हैं, जिनमें ज्ञानपूर्वक आत्मा का विभूति सम्बन्ध होता है ।।२०४।।

१. गद्य मय पुरुष निरूपण अधिकरण में क्षर पुरुष की अध्यात्म स्वरूप पांच कलाओं की व्याख्या हुई है, जैसे बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त। इनमें पूर्व की तीन कला—कारण शरीर, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर कही जाती हैं जो पद्य में 'शरीरम्' पद से कही गयी हैं। प्रजा में पत्नी, पुत्र आदि का समावेश है—स्वर्ण-पशु आदि द्वारा वित्त का विवरण हुआ है। ये सब बल का चयन रूप है। इन सब को आत्मा अपना मानकर ग्रहण करता है—अर्थात् इनमें आत्मा का केवल विभूति संसर्ग मात्र न होकर स्वत्व हो जाता है, अतः ये सब आत्मा के वैभव अथवा महिमा रूप कहे जाते हैं।

उक्त परिगणित जितने वित्त आदि हैं—इन सबको आत्मा ये मेरे हैं इस मम भाव से अनुभवपूर्वक जानता हुआ ग्रहण करता है और मैं इतना हूं यह मानता है। (इस ही कारणन्यावद् वित्त-तावदात्मा यह प्रसिद्धि है)। और इनकी जितनी वृद्धि का अनुभवात्मक ज्ञान उसे होता है उतनी आत्मा की तृप्ति होती है, अतः विज्ञान और आनन्द की एकरूपता सिद्ध होती है। अतः विज्ञान-आनन्द रूप है यह प्रसिद्धि है ॥२०५॥

२. विज्ञान और आनन्द की एकता बता रहे हैं—आत्मा जब तक प्रजा-वित्त आदि को ममता रूप से ग्रहण नहीं करता है, तब तक उनमें आत्मा का विभूति सम्बन्ध नहीं होता और न तत् सम्बन्धी तृप्ति होती है। जब उन सब को ममता पूर्वक अपने से सम्बद्ध रूप में जान लेता है तब उनमें आत्मा का विभूति सम्बन्ध होता है और तब ही तृप्ति नाम से कहे जाने वाला आनन्द होता है। और जितने वित्त प्रजा आदि में इसकी ममता बढती है उतनी ही अधिक तृप्ति उदित होती है। यह समृद्धयानन्द का स्वरूप है—जो कि बल में रस के समावेश से होता है। एवं च यह आनन्द ज्ञान रूप सम्बन्ध होने पर ही होता है। कोई नई भूमि अथवा स्वर्ण आदि धन हमको प्राप्त हुआ है यह सुन लेने पर भी जब तक अपने अधिकार में आकर उसमें ममता का ज्ञान नहीं हो जाता—तब तक आनन्द का अनुभव भी नहीं होता। अधिकार में आ जाने पर ये मेरा हो गया—इस ममता रूप ज्ञान के हो जाने पर आनन्द का अनुभव होता है इसलिये मानना होगा कि ज्ञान ही आनन्द रूप में परिवर्तित होता है—इस कारण दोनों की एकता ही मानी जाती है। यहां यह भी सूचित कर दिया कि अहं भाव और ममता दोनों एक ही रूप हैं। उक्त पदार्थों में ममता का ज्ञान हो जाने पर उनमें आत्मा का विभूति सम्बन्ध हो जाने से आत्मा में उनका प्रवेश हो जाने से अहं रूप से ही ममता परिवर्तित हो जाती है। अहं भाव में कथित सारे पदार्थ समूह का प्रवेश होने के कारण समुदाय में अहं भाव का प्रसंग रहता है—उस समुदाय में प्रत्येक पदार्थ अवयव बनते हैं—अतः प्रत्येक में ममता का व्यवहार होता है। शरीर विशिष्ट आत्मा में अहं भाव की स्थिति होने पर शरीर भी उसका अवयव होता है—अतः यह शरीर मेरा है यह व्यवहार भी होता है, इस प्रकार ही वित्त आदि में भी मेरा वित्त आदि व्यवहार समझ लेने चाहिये। शरीर में आत्मा का विभूति सम्बन्ध बहुत दृढ होता है अतः उसमें अहं भाव का संस्कार भी बहुत दृढ होता है। प्रजा तथा धन आदि में प्रायः ममता का अनुभव ही सबको होता है—उनमें अहं की प्रवृत्ति तो कदाचित् ही कहीं होती है। इस तरह संस्कार की दृढता और शिथिलता रूप भेद ही अहं और ममता के बीच होता है। वास्तविकता तो यह है कि आत्मा सदा स्व स्वरूप में अनु प्रविष्ट रहता है—इस निज भाव

में अनु प्रवेश के अतिरिक्त आत्मा का अन्य कोई सम्बन्ध अकथनीय ही है—अतः ममता को अहं भाव का परिणाम ही मानना चाहिये। सर्वप्रथम शरीर में अहं भाव का होना, उसके अनन्तर विशेष विवेचना में ममता की प्रवृत्ति, इसके अतिरिक्त वित्त आदि में पहले ममता की प्रवृत्ति, और ममता के अतिदृढ हो जाने पर कदाचित् अहं भाव का भी आग्रह—इस प्रकार का यह पूर्व—अपर भाव ही संस्कार जन्य होता है। वास्तव में तो अहन्ता और ममता का एक ही रूप है। आत्मा का प्रजा वित्त आदि के विस्तार का जितना ज्ञान जिसको होता है—उतनी ही तृप्ति का अनुभव उसे होता है—इससे विज्ञान और आनन्द एक रूप ही है यह स्पष्ट सिद्ध है—यह तात्पर्य है। अधिक परिग्रह रूप विस्तार ज्ञान में अधिक तृप्ति होती है—यह अनुभव सिद्ध है। अतएव छान्दोग्य श्रुति में स्पष्ट कहा गया है "यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्ति" अर्थात् वृद्धि रूप महत्ता ही सुख रूप है, अल्प भाव सुख नहीं है।

वेद में आनन्द शब्द का प्रयोग नपुंसक लिङ्ग में 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस रूप में भी हुआ, और 'आनन्दो ब्रह्म' कहकर पुल्लिङ्ग में भी, उसकी विवेचना में कहते हैं कि इन दोनों मान्यताओं में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिये क्योंकि 'विज्ञानमानन्दः' यह पुल्लिङ्ग का प्रयोग अव्यय पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है और 'विज्ञानमानन्दम्' यह नपुंसक का प्रयोग अक्षर और क्षर पुरुष के लिये, आनन्दम् प्रयोग में धर्मी का ग्रहण है और आनन्दः, इस पुल्लिग प्रयोग में धर्म का। संशय इस विषय में क्या होता है? यह टीका में स्पष्ट किया जा रहा है ।।२०६।।

३. बृहदारण्यक श्रुति में 'विज्ञानज्ञानमानन्दं ब्रह्म' ऐसा नपुंसक लिङ्ग प्रयुक्त हुआ है, इस प्रयोग में, न्याय सिद्धान्त मुक्तावली आदि में ये शङ्का की गई है कि आनन्द शब्द तो नित्य पुल्लिङ्ग है अतः नपुंसक प्रयोग उपयुक्त नहीं हो रहा है, अतः इस वेद वचन की उपयुक्तता के लिये अर्श आद्यच् इस सूत्र से बना हुआ अजन्त प्रयोग मानना होगा और वैसा मानने पर विज्ञान रूप ब्रह्म-आनन्द रूप धर्म वाला धर्मी सिद्ध होता है, इससे ब्रह्म की आनन्द रूपता सिद्ध नहीं होती। इस आक्षेप का समाधान कर रहे हैं—पद्य का भाव यह है कि जैसे बृहदारण्यक में 'विज्ञानमानन्दम्' यह प्रयोग मिलता है, वैसे ही तैत्तिरीय उपनिषत् में 'तथा आनन्दोब्रह्मेति विजानीयात्' ऐसा पुल्लिङ्ग का प्रयोग भी ब्रह्म के विशेषण रूप से विश्रुत हुआ है। इस बचन से ब्रह्म की आनन्दरूपता भी सिद्ध हो जाती है। दोनों वचनों की उपयुक्तता इस रूप में जाननी चाहिये कि—अव्यय पुरुष आनन्द रूप है, उसकी एक कला आनन्द है, यह विवरण पहले पुरुष प्रकरण में किया गया है। अक्षर और क्षर पुरुष आनन्द रूप धर्म को धारण करने वाले धर्मी पुरुष हैं, उनमें अव्यय पुरुष अनुगत होता है—अतः आनन्द भी वहां धर्म भाव से प्रविष्ट है। निष्कर्ष यह है कि 'विज्ञानमानन्दम्' इत्यादि नपुंसक प्रयोग में अक्षर अथवा क्षर पुरुष की विवक्षा हुई है और आनन्दो ब्रह्म इत्यादि पुल्लिङ्ग प्रयोग द्वारा अव्यय का कथन हुआ है, इस प्रकार—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' आदि वचनों में अवयव रूप से कही गई आनन्द कला को भिन्न करके निर्देश किया गया है—इस रीति से विचारने से दोनों प्रयोग उपयुक्त हो जाते हैं। यह ही दो पद्यों द्वारा कहा गया है। अथवा बेद में सब शब्दों का लिङ्ग नियत नहीं होता—इस मान्यता से—समाधान कर लेना चाहिये।

विज्ञानमानन्दमितीष्यतेऽवरं विज्ञानमानन्द इतीष्यते परम् ।
[1]ज्योतिस्तु विज्ञानमिदं परं ध्रुवं रसेन भूम्ना न विभिद्यते क्वचित् ।।२०७।।

[2]यतः स आत्मा विभवत्यमीभिर्देह प्रजास्त्रीपशुमेदिनीभिः ।
सम्पद्यते तेन महानयं यत् स्वं वैभवं तन्महिमा च संपत् ।।२०८।।

[3]यतो ममत्वं क्रमते तदेषु तेनात्मनोऽहं कृतिरेषु दृष्टा ।
तेषां तदेकस्य च हानितोऽयमात्माल्पवद् भाति तदस्य दुःखम् ।।२०९।।

तस्मात्तदेकैककलाविनाशक्रमेण यावत् क्रमते विनाशः ।
[4]आत्मार्तिमायाति सतान्तरेणोदरे विभूत्याः स्वमहिम्नि तावत् ।।२१०।।

[5]आर्तिः परा या पुनरस्य मृत्युस्ततोऽन्यथाऽऽनन्दकलासमृद्धिः ।
मृत्युर्न चेत्तर्हि मतास्य सत्ता सत्तैव सानन्द इतीष्यते तत् ।।२११।।

[1]सैवोपलब्धिर्यदिहास्ति यद्वोपलभ्यते यत् तदिहास्ति सत्ता ।
यद्भातिसिद्धास्ति रथास्तिसिद्धा भाती रसस्तूभयसिद्ध एषः ।।२१२।।

विज्ञानमानन्दम्—इस प्रयोग के द्वारा अवर अर्थात् अक्षर अथवा क्षर पुरुष का ग्रहण हो रहा है और विज्ञानमानन्दः, इस प्रयोग से पर अर्थात् अव्यय का ग्रहण है । विज्ञान ज्योति रूप पर अर्थात् अव्यय ही ध्रुव भावेन सबका मूल कारण है—वह रस अथवा भूमा-व्यापक पर ब्रह्म से कहीं भी भिन्न नहीं है । अर्थात् तद् रूप ही है ।।२०७।।

१. रस, आनन्द, भूमा, विज्ञान तथा ज्योति ये सारे शब्द समानार्थक समझने चाहिये ।

आत्मा का परिचय अणु से भी अणु और महान् से भी महान् कह कर दिया जाता है—वह अणु महान् कैसे बनता है—वह प्रक्रिया बताई जा रही है—क्योंकि वह आत्मा—देह, प्रजा, स्त्री, पशु-गज-हस्ती आदि तथा बाग-बगीचे-मकान रूप पृथ्वी आदि में विभूति संसर्ग से विकसित होता है—उससे यह महान् भाव में सम्पन्न हो जाता है, कथित देह आदि उसके वैभव, महिमा अथवा सम्पत्ति रूप कहे जाते हैं ।।२०८।।

२. यह सारा विषय पहले स्पष्ट किया जा चुका है ।

सम्पत्ति रूप कथित पदार्थों में आत्मा का ममता भाव संक्रमित होता है—उससे आत्मा का अहंकार उन सबमें देखा जाता है । उनमें से किसी एक की भी हानि हो जाने पर आत्मा अल्प के समान प्रतीत होने लगता है, वह ही इसका दुःख माना जाता है ।।२०९।।

३. ममता और अहन्ता एक ही जगह क्रमशः समाविष्ट हो जाती हैं—यह उप पादन पहले हो चुका है । प्रजा-धन पर्यन्त आत्मा का विभूति सम्बन्ध रहता है, इस कारण ही धन आदि के नाश होने पर भी आत्मा के अंश की हानि होती है—इसलिये आत्मा में विकलता हो जाती है ।

इस अंश हानि क्रम में जब एक-एक कला का विनाश होकर धन आदि अन्य के अधिकार में चले जाते हैं तब उस वैभव के अपनी महिमा से अलग हो जाने पर आत्मा दुःखी

हो जाता है। उदर शब्द यहां अधिकार का द्योतक है। अपने उदर में आया पदार्थ अपने अधिकार में रहता है, परकीय हो जाने पर उसमें अन्तर पड़ जाता है ॥२१०॥

४. यद्यपि वह धन आदि सर्वथा नष्ट न होकर अन्य के अधिकार में तब भी रहता है तथापि अपने और उस निज के कहे जाने वाले धन आदि में स्वत्व का व्यवधान हो जाता है—अत दुःख का उदय हो जाता है। (तैत्तिरीय ब्रह्मानन्द वल्ली अ. ७) की श्रुति में यही कहा गया है—"यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते अथ—तस्य भयं भवति" इत्यादि। उदर स्थिति भाव में अन्तर आ जाने पर भय रूप दुःख होता है यह ही श्रुति वचन का आशय है।

वो महा आर्ति रूप दुःख ही इसकी मृत्यु कहलाती है, उससे विपरीत निज का समृद्धि भाव आनन्द कला को बढाने वाला होता है। यदि यह मृत्यु भाव न आवे तो आनन्द कला की सत्ता बनी रहती है—वह सत्ता ही आनन्द रूप में सबको इष्ट होती है ॥२११॥

५. वह मृत्यु ही महा दुःख रूप है क्योंकि उसमें उक्त भूतचिति का वियोग हो जाता है। जैसे यह मृत्यु महा दुःख रूप मानी जाती है, वैसे ही उससे विपरीत समृद्धि आनन्दमय होती है।

संसार में जिस पदार्थ की सत्ता होती है—उसकी ही प्राप्ति होती है और जो कुछ ज्ञान रूपेण पाया जाता है उसकी यहां सत्ता मानी जाती है। सत्ता की सिद्धि भाति अर्थात् ज्ञान से ही होती है—अतः सत्ता भाति सिद्ध है। इस ही प्रकार से जिस पदार्थ की सत्ता होती है उसका ही ज्ञान होता है—असत् का ज्ञान नहीं होता—अतः भाति भी अस्ति सिद्ध होती है। और इस सत्ता और उसकी उपलब्धि से ही रस रूप आनन्द प्राप्त होता है—इस तरह सत्ता-ज्ञान और आनन्द एकत्र अविनाभाव से रहते हैं ॥२१२॥

१. वेद में तथा स्मृतियों में रस की व्याख्या सच्चिदानन्द रूप से होती है, उससे सत्ता, चेतना और आनन्द ये तीन धर्म फलित होते हैं। ये सत्ता, चेतना, आनन्द परस्पर भिन्न हैं, अथवा अभिन्न हैं, इसकी विवेचना संशय तदुच्छेद वाद नाम के ग्रन्थकर्ता के ग्रन्थ में विस्तार से हुई है। उसका ही संकेत इस ग्रन्थ में भी संक्षेप से किया जाता है। व्यवहार में यद्यपि सत् पदार्थ का धर्म सत्ता, ज्ञान अथवा चेतना आत्मा का धर्म और आनन्द भी आत्मा का धर्म माना जाता है, किन्तु पहले ज्ञान होता है—उस ज्ञान से फिर आनन्द का अनुभव होता है, इस प्रकार पूर्व और पश्चात् क्रम से ज्ञान से आनन्द भिन्न है यह कहकर तीनों के भेदभाव की ही ख्याति है—न्याय आदि दर्शनों में भी इनकी भिन्नता का ही निरूपण हुआ है, तथापि गहन विचार करने पर इनकी अविनाभाव रूप एकता ही प्रतीत होती है। क्योंकि जाना जा रहा है—इसलिये अमुक पदार्थ 'है'—यह सत्ता बनती है, ज्ञान होने के बिना सत्ता की सिद्धि कथमपि संभव नहीं होती—इस प्रकार सत्ता का आधार ज्ञान है यह प्रतीति होती है। इससे ज्ञान और सत्ता एक दूसरे के आश्रित होने से इनकी अविनाभाव रूप एकता सिद्ध होती है, यह श्लोक के पूर्वार्ध में कहा गया। इन दोनों का भेद मानने वाले यह कहते हैं कि कुछ पदार्थ केवल सत्ता सिद्ध होते हैं, अर्थात् उनकी संसार में सत्ता तो होती है किन्तु वे ज्ञान के विषय नहीं बनते—जैसे गहन वन में वृक्षों में रहने वाले सूक्ष्म जन्तु आदि होते तो हैं किन्तु कोई उनको देख नहीं पाता, इस तरह उपलब्धि न होने पर भी सत्ता तो उनकी मानी ही जाती है। कुछ पदार्थ केवल ज्ञान सिद्ध होते हैं, जैसे दिखाई देने

वाले पदार्थों में एक, दो आदि संख्या तथा उनका छोटा-बड़ा परिमाण। इनकी कल्पना अन्य पदार्थों के अपेक्षा भाव से मनुष्यों द्वारा बुद्धिमात्र से की जाती है, उन पदार्थों में कोई एकत्व, द्वित्व आदि धर्म नहीं होता। नैयायिक वर्ग इनमें अपेक्षा बुद्धि से जो एकत्व आदि की उत्पत्ति मानते हैं वह तो केवल 'असत् की प्रतीति नहीं होती' इस नियम की रक्षा करने के लिये बच्चों को बहलाना मात्र है—जब तक अपेक्षा बुद्धि रहती है तब तक ही उनकी स्थिति रहती है—यह कह देने पर भी बुद्धि के अतिरिक्त कल्पना तो पदार्थ कल्पना नहीं मानी जा सकती। जिन पदार्थों की वास्तविक सत्ता है वे ही अस्ति रूप से सिद्ध होते हैं और जो केवल ज्ञान सिद्ध हैं वे भाति सिद्ध माने जाते हैं, ऐसा व्यवहार यहां उनके द्वारा किया गया है। उनके मत में कुछ पदार्थ ऐसे हैं—जिनकी सत्ता तो है किन्तु जो जाने नहीं जाते और कुछ ऐसे हैं जिनका ज्ञान तो होता है किन्तु उनकी कहीं सत्ता नहीं है। जिनका अस्तित्व भी है और जो ज्ञान के विषय भी बनते हैं वे घट-पट आदि हैं जिनमें अस्ति-भाति दोनों हैं। उक्त विवेचना द्वारा उनका तात्पर्य है कि सत्ता और उसकी उपलब्धि रूप ज्ञान अविनाभाव रूप से एक नहीं है—इनको पृथक्-पृथक् ही मानना चाहिये। इस विषय का खण्डन श्लोक के उत्तरार्ध से ग्रन्थकार कर रहे हैं कि जिस अस्ति भाव से अर्थात् सत्ता से आप पदार्थों को सिद्ध करना चाहते हैं वह सत्ता स्वयं भाति अर्थात् ज्ञान से ही सिद्ध होती है। घट-पट आदि में हमारा अस्तित्व रूप ज्ञान होता है, इस भाति स्वरूप ज्ञान के अतिरिक्त सत्ता नाम का कोई अन्य पदार्थ उन घट आदि द्रव्यों में किसी ने कभी नहीं देखा है, अन्य दर्शनशास्त्रों में तो नैयायिकों द्वारा मानी गई उक्त सत्ता का स्पष्ट खण्डन कर दिया गया है, उन ग्रन्थों की विवेचना को देखकर ही इस विषय की जिज्ञासा को जिज्ञासु जन शान्त कर सकते हैं। नैयायिक भी अनवस्था दोष के भय से सत्ता की सत्ता को स्वीकार नहीं करते, एवं च सत्ता कहीं भी सत्ता के द्वारा सिद्ध नहीं की जाती वह तो स्वतः सिद्ध ही है। (वैशेषिक सूत्र १ अ. २ पा.) में भगवान् कणाद ने स्पष्ट कहा है कि 'सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्' अर्थात् सामान्य अथवा विशेष का परिचय ज्ञान सापेक्ष होता है। वह ही बात यहां कही गई है कि भाति अर्थात् ज्ञान से अस्ति अर्थात् सत्ता सिद्ध होती है। भाति पद से जो ज्ञान कहा जाता है—वह तो आत्मा में केवल उस ज्ञान की सत्ता ही है—ज्ञान का कोई अन्य ज्ञान नहीं हुआ करता। नैयायिक जो अनुव्यवसाय रूप ज्ञान का ज्ञान मानते हैं उसे अन्य दर्शनों में अनवस्था दोष के कारण निराकृत कर दिया है। इसलिये 'अस्ति से ही भाति' होती है यह उक्ति समुचित है। इस प्रकार सत्ता की सिद्धि ज्ञान से और ज्ञान की सिद्धि सत्ता से—इन दोनों का परस्पर आश्रितत्व रूप अविनाभाव ही सिद्ध होता है, पृथक् भाव सिद्ध नहीं होता दोनों एक रूप ही हैं। रस नाम का आनन्द तो है भी और जाना भी जाता है किन्तु सत्ता और ज्ञान से भिन्न अवस्था में नहीं जाना जाता। ज्ञान ही आनन्द रूप होता है इसका उपपादन अभी पूर्व किया जा चुका है। इस तरह सच्चिदानन्द की एकरूपता ही सिद्ध होती है—यह तात्पर्य है।

न[1] भाति पूर्वास्ति रथास्ति पूर्वा न भातिराभ्यां न विनाकृतो वा।
रसोऽपि लभ्येत मतं तदेकमव्याकृतं व्याक्रियते त्रिधा तु ।।२१३।।

आनन्दविज्ञानरसप्रतिष्ठास्वेकत्वमित्थं यदुदाहरन्ति ।
तच्चाविनाभाववशेन बोध्यं न चान्यदन्येन विनाकृतं स्यात् ॥२१४॥

[2]ज्योतिः प्रतिष्ठा विधृतिश्च भिन्नाः शयं न वक्तुं न विचिन्तितुं वा ।
किं स्यादभातं कथमप्रतिष्ठं भायान्नभायादधृतं न च स्यात् ॥२१५॥

[3]एकैव सत्ता प्रथते यदेषां तस्मात्त्रयं तत्पुनरेकमिष्टम् ।
विज्ञानमेषां त्रिविधं पृथक्स्यात् तस्मात्त्रिधा व्याक्रियते तदेकम् ॥२१६॥

[4]सत्ता प्रभिन्ना प्रतिपत्तिभेदतः सत्ता प्रभेदादपि धीः प्रभिद्यते ।
रसस्तु भिद्येत तयोः प्रभेदतस्तथा च सामान्यविशेषसंभवः ॥२१७॥

रसे प्रतिष्ठावशतः पृथक्त्वं क्वचित्तु विज्ञानवशात् पृथक्त्वम् ।
क्वचित् पुनः स्यादुभयोः पृथक्त्वाद्रसे पृथक्त्वं तदिदं निरूह्यम् ॥२१८॥

सूक्ष्म विचार करने पर तो न पहले ज्ञान हो जाने पर तदनन्तर सत्ता मानी जा सकती है, और न पहले से सत्ता रहने पर तदनन्तर उपलब्धि रूप ज्ञान ही माना जा सकता है। एवं च इन दोनों के बिना कहीं रस की प्राप्ति भी नहीं होती—अतः यह ही मानना समुचित है कि इन तीनों में परस्पर कोई भेद नहीं है। एक ही तत्व तीन रूपों में विभक्त हो रहा है ॥२१३॥

१. पूर्व कथित का स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि—सत्ता और ज्ञान रूप उपलब्धि का पूर्व अपर भाव बुद्धि द्वारा निश्चित नहीं किया जा सकता—व्यवहार में यद्यपि यह ही कहा जाता है कि-क्योंकि अमुक पदार्थ जाना जाता है अतः उसकी सत्ता है किन्तु ज्ञान के अनन्तर यदि सत्ता मानी जावे तो अनिवार्य प्रश्न यह उठता है कि पहले असत् रहने पर उसका ज्ञान कैसे हो गया? इसलिए ज्ञान पूर्वक सत्ता है—यह नहीं कहा जा सकता। इस ही प्रकार यदि ये माना जाय कि पहले पदार्थ की सत्ता है इसलिए जाना जाता है—अतः पदार्थ की सत्ता ही पहले है तो यह विचार भी समुचित नहीं है—क्योंकि अभी पहले ही कहा जा चुका है कि ज्ञान से अतिरिक्त सत्ता नाम का कोई पदार्थ होता ही नहीं—अतः श्लोक में सत्ता पूर्वक भाति रूप ज्ञान नहीं होता यह जो कहा गया है वह ठीक ही कहा है एवं च यह जो कहा गया कि गहन अरण्य रूप वन में वृक्षों में रहने वाले कीड़े आदि को कोई नहीं जानता—फिर भी उनकी सत्ता तो है ही—यह कथन भी युक्ति संगत नहीं है—क्योंकि यदि कोई भी नहीं जानता तो उनकी सत्ता है—यह कैसे कहा जा सकता है? यदि यह कहा जाय कि देखकर न जाने पर भी उन कीट आदि का अनुमान तो किया जा सकता है तो कहना होगा कि अनुमान भी तो ज्ञान ही है—अतः उनकी ज्ञान सिद्धता आ ही जाती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, अथवा शब्द प्रमाण से भी जिस पदार्थ का ज्ञान न हो सके उसकी सत्ता का व्यवहार नहीं किया जा सकता। अतः शिष्ट विद्वान् विचारकों का निश्चित मत यही है कि—एक ही मूल तत्व तीन रूपों में विभक्त हो रहा है—इनमें परस्पर कोई भेद नहीं है। यह विषय ही अग्रिम श्लोक से भी स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार आनन्द, विज्ञान, रस और प्रतिष्ठा में जो एकता शिष्ट जन बताते हैं—वह इनके परस्पर अविनाभाव के कारण ही जाननी चाहिये, इनमें से कोई भी एक दूसरे के बिना नहीं रहता है ।।२१४।।

पूर्व प्रकरण जिनका परिचय दिया जा चुका है, वे ज्योति, प्रतिष्ठा, विधृति भी सत्ता, चेतना और आनन्द रूप हैं । चेतना रूप ज्योति, सत्ता रूप प्रतिष्ठा और आनन्द रूप विधृति है । ये ज्योति, प्रतिष्ठा और विधृति भी अविना भाव प्रक्रिया से एक रूप है, इनको भिन्न-भिन्न कहना तो दूर की बात है, इनका भेद भाव सोचा भी नहीं जा सकता । जिसकी प्रतिष्ठा रूप सत्ता न होवे उसका भान भी कैसे हो सकता है, और भान चेतना या ज्योति के बिना विधृति रूप आकर्षण मय आनन्द की सम्भावना ही नहीं हो सकती ।।२१५।।

२. ज्योति, प्रतिष्ठा, और विधृति की एकरूपता का विवरण जो पहले किया जा चुका है—उसका स्मरण करा रहे हैं । यद्यपि ज्योति, विधृति और प्रतिष्ठा की मन, प्राण और वाक्रूपता पहले विवरण में बताई गई है, तथापि उनकी अब यहां सत्ता, चेतना, आनन्द रूपता भी कही जा रही है—इन सबका अविनाभाव (एक दूसरे के बिना न रहना) के कारण रस रूप से ऐक्य रहता है ।

कथित ज्योति आदि में एक ही ब्रह्ममयी सत्ता सर्वत्र व्याप्त रहती है इस दृष्टि से विचार करने पर तीनों भावों की एकता सिद्ध होती है और उस मूल तत्व में माया बल के संसर्ग से जब विज्ञान का प्रसार होता है तब सत्ता, चेतना, आनन्द रूप अथवा ज्योति, प्रतिष्ठा, तथा धारणा रूप तीन प्रकार पृथक्-पृथक् हो जाते हैं, इस तरह एक ही मूल तत्व तीन भागों में विभक्त हो जाता है । अनेक में एक तत्व की खोज को ज्ञान और एक मूल तत्व का अनेक रूप में प्रसार को विज्ञान कहा जाता है, यह विवेचना आरम्भ में की जा चुकी है ।।२१६।।

३. सब की सत्ता रूप से एकता और विज्ञान भेद से भिन्नता होती है, यह समझना चाहिये । एक ही मूल तत्व का विभिन्न रूप में भास होने से प्रकार भेद हो जाता है, और हमारे भान में वह प्रकार भेद ही आया करता है यह विचार दृष्टि रखनी चाहिये । ये तात्पर्य है ।

प्रतिपत्ति अर्थात् प्रत्यक्ष भान के भेद के कारण सत्ता में भेद हो जाता है, फिर सत्ता भेद से ज्ञान में भेद आता है, और सत्ता तथा ज्ञान में भेद का भास होने पर मूल रस में भेद भासित होने लगता—उससे ही सामान्य, विशेष भाव बन जाते हैं ।।२१७।।

४. स्पष्ट जानकारी के लिए विवरण किया जा रहा है कि—कहीं ज्ञान भेद के कारण सत्ता भेद भासित होता है, तो कहीं सत्ता भेद के कारण एक ज्ञान में भी भेद सा प्रतीत होने लगता है । इन दोनों के भेद से रस में भी भेद भाव सा प्रतीत होता है । इस रस के भेद भान से ही सामान्य विशेष भाव होता है, यह तात्पर्य है । विभिन्न प्रकार की स्वरूप सत्ता रहने पर भी अनन्त संख्या वाली गायों की आकृति के एक रूप होने से सब गाय हैं ऐसी एक रूप बुद्धि ही होती है— इसलिए आकृति को सामान्य इस नाम से कहा जाता है । फिर स्वरूपतः आकार के एक होने पर भी सींगों में और गल कम्बल आदि में कुछ विलक्षणता होने से उनमें भिन्नता की प्रतीति होती है, उसे ही विशेष नाम से व्यवहार किया जाता है । ये सामान्य तथा विशेष का भेद बुद्धि द्वारा ही

किया जाता है—इसका ही रस में आरोप हो जाता है, प्रत्यक्ष व्यवहार में यह समारोपित भाव ही परिलक्षित होता है, यह तात्पर्य है।

रस में पार्थक्य कहीं तो प्रतिष्ठा अर्थात् सत्ता के भेद से प्रतीत होता है, कहीं माया बल जनित विज्ञान के कारण भेद प्रतीति होती है, कहीं दोनों की विभिन्नता के कारण भेदाभास होता है, सदा एकरूप रहने वाले रस में भेद प्रतीति के ये ही कारण होते हैं ॥२१८॥

[1]उष्णीषवासो वरतन्तुतूलमृद्विज्ञानभेदेऽपि न सत्तया पृथक् ।
सत्तास्वनन्तास्वपि गौरितीष्यते यदेकमेतत् प्रतिपत्त्यपेक्षया ॥२१९॥

[2]तेनाऽत्र धर्मा अमृता इमे त्रयो भिन्ना अभिन्नाश्च परस्पराश्रयाः ।
रूपं यदेकं परमुच्यतेऽमृतं तत्रैष मृत्युर्बहुधेत्य नृत्यति ॥२२०॥

(२७) अथ दुःखसुखाधिकरणम्

[3]आत्मा सदानन्दमयोऽस्त्ययं वा स सर्वदा दुःखमयोऽस्ति किं वा ।
भयं स दुःखं लभते कथं वा किमस्ति दुःखं किमिदं भयं वा ॥२२१॥

अत्रोच्यते द्वैधमिदं निरुक्तं रसो बलं चेति पृथक् स्वभावम् ।
रसोऽयमात्मा बलमात्मशक्तिः स नित्यमानन्दमयो रसत्वात् ॥२२२॥

उष्णीश अर्थात् पगड़ी के उदाहरण द्वारा भेद में भी एकरूपता दिखाई जा रही है—शिर का वेष्टन करने वाली इस पगड़ी में अच्छे सूत, उन सूतों में रूई, उसमें मृत्तिका मूल रूप में, इतने विज्ञान भेद से पगड़ी का निर्माण होने पर भी प्रत्यक्ष में एक मात्र पगड़ी का ही व्यवहार होता है—उन विज्ञानमय भेदों पर किसी की दृष्टि नहीं जाती, एक मात्र पगड़ी की ही सत्ता मानी जाती है, इस ही प्रकार अनन्त संख्या वाली गौओं की पृथक्-पृथक् सत्ता रहने पर भी प्रत्यक्ष व्यवहार में एक मात्र गौ शब्द का ही प्रयोग किया जाता है ॥२१९॥

१. कथित विषय को उदाहरण द्वारा दृढ़ कर रहे हैं—उष्णीश में वस्त्र अनुगत रहता है—उस वस्त्र में तन्तु रूप सूत रहते हैं, उस सूत में रूई अनुगत होती है, उसमें भी मृत्तिका की अनुगति रहती है—इस तरह उन सबका विज्ञान अंश पृथक्-पृथक् रहने पर भी सत्ता रूप में पगड़ी एक ही होती है—कारण की सत्ता कार्य द्वारा ग्रहण की जाती है, मृत्तिका की सत्ता से ही रूई की सत्ता बनती है, रूई की सत्ता से सूत की सत्ता होती है—यह विवरण पूर्व हो चुका है। ये सत्ता के एक होने पर भी विज्ञानमय बुद्धि भेद का उदाहरण है। गौ में सींग, स्तन, चरण आदि में सत्ता के पृथक् भाव में होने पर भी गौ यह बुद्धि एक ही होती है, यह बुद्धि के एक भाव में होने पर भी सत्ता भेद का उदाहरण है।

ये तीनों सत्ता, चेतना, आनन्द रूप धर्म अमृत हैं, ये भिन्न रूप में भासित होने पर भी वास्तव में अभिन्न हैं और परस्पर आश्रित हैं। परतत्व रूप अमृतमय तत्व सदा एकरूप ही होता है—उसमें बहु रूपा मृत्यु का नृत्य होता रहता है—उससे ही भिन्नता की प्रतीति होती है ॥२२०॥

२. उपसंहार करते हुए कहते,हैं कि—सत्ता, चेतना, आनन्द ये तीनों धर्म अमृत अर्थात् नित्य हैं, ये कभी एक दूसरे के बिना नहीं रहते इसलिए अभिन्न कहे जा सकते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान में भेद के कारण विविधता भी देखी जाती है—जैसा कि पहले विवरण हुआ है—उससे भिन्न भी कहे जा सकते हैं। दोनों बात कैसे उचित मानी जा सकती है? वह ही बता रहे हैं कि अमृत नाम का रस सबमें अनुस्यूत रहता है और वह एक है उसके कारण सब एक रूप हैं। मृत्यु नाम का बल नाम, रूप, क्रियास्वरूप होता है—वह सर्वत्र नाना भाव में ही नृत्य करता है—उसका ही किया हुआ यह नाना भाव है, यह तात्पर्य है।

आत्मा के विषय में सर्व साधारण के चित्त में ये जिज्ञासा होती है कि—यह आत्मा सर्वदा आनन्द स्वरूप है? अथवा सर्वदा दुःखमय है? आत्मा भयाक्रान्त तथा दुःखी कैसे हो जाता है? एवं च भय और दुःख का वास्तविक रूप क्या है? आदि ।।२२१।।

३. शंका यह होती है कि—यदि आत्मा की सदा आनन्दमयता मानी जाती है—तो प्राणियों को जो प्रत्यक्ष भय तथा दुःख की प्रतीति होती है इसका समुचित समन्वय कैसे किया जा सकता है? अधिकतर संसार में दुःख की प्राप्ति ही अधिक होती देखी जाती है। इससे तो आत्मा की दुःख रूपता ही अनुभव सिद्ध होती है। यहां तक कि विद्वान् आचार्यगण तो लौकिक सुख को भी दुःख रूप ही बताते हैं। योग सूत्र 'परिणाम ताप संस्कार दुःखैर्गुण विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' के अनुसार भोग के परिणाम में दुःख, भोग साधनों को एकत्रित करने में परिश्रम जनित मनस्ताप रूप दुःख, संस्कार जनित दुःख इत्यादि क्रम से सूत्रकार विवेकी पुरुष के लिए लौकिक सुख को भी दुःख रूप ही बता रहे हैं। बौद्ध दर्शन तो आत्मा की दुःख रूपता ही मानता है। इसकी विवेचना के लिए ही इस प्रकरण का आरम्भ किया जाता है। भय और दुःख का स्वरूप भी यहां विस्तार से विवेचित हो रहा है। यहां जो प्रतिपादन किया जा रहा है—उसका सार यह है कि—रस और बल नाम के दो मूल तत्व आरम्भ में बताये गये हैं—उनमें रस आनन्द रूप है उसमें बल के संसर्ग से भय तथा दुःख का उदय होता है। माया रूप बल का सम्बन्ध न होने पर तो आत्मा में भय दुःख शोक आदि किसी प्रकार का विकार संभव नहीं हो सकता—क्योंकि आत्मा सदा एक रूप निश्चल होता है। माया नाम के बल से घिर जाने पर ही आत्मा में भय दुःख आदि उत्पन्न होते हैं, उस अवस्था में भी रस जिसमें प्रधान होता है उस अक्षर पुरुष में भय-कम्पन्न आदि कभी नहीं होते, कर्म प्रधान क्षर पुरुष में तो भय दुःख आदि प्रवृत्त होते हैं। जीव रूप प्राणियों में भी जोकि कामना रूप-कर्म प्रधान होते हैं—उनमें ही विशेषतः भय दुःख आदि का प्रसार होता है, उनमें कर्म की ही प्रधानता होने से उनका आत्मा भी कर्ममय हो जाता है। ज्ञान प्रधान प्राणियों में भय आदि का प्रसार नहीं हो पाता अथवा होता भी है तो अल्प ही होता है। इस प्रकार यहां आत्मा के दो रूप बताये जा रहे हैं—जिनको निष्कल (कला शून्य) आत्मा तथा कार्य आत्मा पद से कहा गया है। मुख्य आत्मा में कभी दुःख आदि नहीं होते माया के घेरे में प्रबलता से बंध जाने वाले आत्मा में वे सब होते हैं—यह तात्पर्य है। उन भय आदि की प्रवृत्ति किस प्रकार होती है यह मूल में ही स्पष्ट रूप में बताया जा रहा है। ये श्लोक अति सरल है इनकी व्याख्या आवश्यक नहीं है— अतः आवश्यकतानुसार इनमें कहीं-कहीं ही टिप्पणी रूप व्याख्या की गई है।

उक्त विषय में कथन यह है कि रस और बल ये दो मूल तत्व बताये गए हैं, इन दोनों का स्वभाव भिन्न-भिन्न है। रस आत्मा रूप है, बल आत्मा की शक्ति है। आत्मा रस रूप होने के कारण सदा आनन्दमय ही होता है ॥२२२॥

आत्मा द्विधा कश्चिदखण्ड एकः स निष्कलः कर्मभिरस्ति तस्मात्।
नायं विचाली न भयं न दुःखं तस्यास्ति शोको न जरा न कामः ॥२२३॥

कर्मात्मनाम्ना त्ववरो य आत्मा स सर्वकामः सकलः सकर्मा।
क्षरोऽक्षरश्च द्विविधः स तत्राऽक्षरोऽविचाली न स दुःखयोगी ॥२२४॥

[1]यः प्रज्ञ आत्मा क्षर एष सोऽयं विचाल्यते कामवशात् स दुःखी।
तस्यैव दुःखं च भयं च मन्ये प्रज्ञस्य स द्वन्द्वमयो निरुक्तः ॥२२५॥

[2]आत्मा विचाल्येत भयं तदुक्तं या चात्महानिः खलु तन्नु दुःखम्।
स्वास्थ्यं हि तस्याविचलत्वमुक्तं या त्वात्मवृद्धिः सुखमुच्यते तत् ॥२२६॥

[3]अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं यत्कामहान्याह तदात्महानिम्।
आत्मा हि गृह्णाति जहाति कामं कुतो विहीयेत सकामहान्या ॥२२७॥

[4]अत्रोच्यते काम समर्पितः स्यादासत्क्यनासक्तिवशाद् द्विधाऽयम्।
काम प्रसक्तस्य सकाम आत्मा कामानुगः काममयस्वरूपः ॥२२८॥

कामात्मनः काममयस्य चात्मा कामेषु तेष्वेव विभक्त आस्ते।
कामोऽस्य यावानुपहन्यतेऽयं तावांस्तदात्माऽप्युपहन्यतेऽस्य ॥२२९॥

[5]अथापि वा तस्य विभूतिरस्मिन् कामेऽस्तिकामे विहते हता सा।
आत्मोदरेऽभूदिदमन्तरं यत् कामस्य हान्या तदवैति दुःखम् ॥२३०॥

[6]अप्राप्तकामं यदि कामयेत तत्रापि कामावपनार्थमात्मा।
संवर्धते तत्र न यावदेति कामं स तावत् समुपैति दुःखम् ॥२३१॥

उस आत्मा के दो रूप हो जाते हैं, इनमें मुख्य एक, सदा अखण्ड एक रूप ही रहता है—उसमें कर्म द्वारा कोई कला विभाग न होने से वो निष्कल कहा जाता है। यह आत्मा कभी विचलित नहीं होता, इसमें भय, दुःख, शोक, जरा तथा कामना आदि कुछ भी नहीं होते ॥२२३॥

आत्मा का दूसरा रूप कर्मात्मा कहा जाता है, सम्पूर्ण कामना इसकी ही होती है, ये सकल अर्थात् सखण्ड भी है, ये ही सकर्मा अर्थात् कर्म का कर्त्ता भी है। क्षर तथा अक्षर रूप में ये आत्मा दो प्रकार का है, इनमें अक्षर आत्मा निश्चल है उससे दुःख का योग नहीं होता। कर्म फल का भोक्ता अक्षर नहीं होता यह पूर्व कहा जा चुका है ॥२२४॥

इससे अन्य क्षर आत्मा है इसको प्रज्ञ आत्मा कहते हैं, कामनाओं के वशीभूत होकर ये विचलित होता है अतः दुःख का अनुभव भी यही करता है। भय दुःख आदि सारे विकार प्रज्ञ के ही माने जाते हैं-काम-क्रोध आदि जितने भी द्वन्द्व कहे जाते हैं वे सब इससे ही सम्बद्ध होते हैं—अतः ये द्वन्द्व रूप होता है ॥२२५॥

१. क्षर को ही प्रज्ञ आत्मा नाम से कहा जाता है—इसमें ही सम्पूर्ण कामनाओं का समावेश होता है—अतः कामात्मा भी क्षर ही कहा जाता है।

जिस अवस्था में आत्मा विचलित हो जाय उस स्थिति को भय कहा जाता है, यह विचलन आत्मा के स्व स्वरूप की हानि है—इसको ही दुःख कहते हैं। आत्मा के अविचल भाव को स्वस्थ अर्थात् स्व स्वरूप में स्थित स्वास्थ्य कहा जाता है, ये ही आत्मा की वृद्धि है—इसको ही सुख कहा जाता है ।।२२६।।

२. माया बल विशिष्ट क्षर आत्मा व्यावहारिक आत्मा है, इसके अवयवों के विचलन को व्यवहार में भय कहा जाता है। अवयवों की क्षति को दुःख कहा जाता है। अविचल भाव को स्वास्थ्य कहते हैं—अवयवों की वृद्धि को सुख कहा जाता है—इस प्रकार आत्मा के चार स्वरूपों का निर्वचन किया गया है। यद्यपि वास्तव में आत्मा के अवयवों का विचलन अथवा उनकी हानि कभी नहीं होती तथापि उसमें समाविष्ट होने वाली कामनाओं का विचलन तथा हानि होने से भय-दुःख आदि होते हैं, यह कथन का अभिप्राय समझना चाहिये।

कामनाओं की हानि होने से आत्मा की हानि होती है इस मान्यता को कुछ विद्वान् अशुद्ध मानते हैं, उनका कथन है कि आत्मा तो बाहर से आने वाली कामनाओं को कभी ग्रहण करता है तो कभी छोड़ देता है, इस स्थिति में उन बाहरी कामनाओं की हानि हो जाने से आत्मा की हानि होना कैसे सम्भव हो सकता है? ।।२२७।।

३. इस विषय में शङ्का होती है कि—कामनाएं तो बाहर से आने वाली आगन्तुक होती हैं—आत्मा उनको ग्रहण करता है और त्याग भी कर देता है, तब उनकी हानि हो जाने से आत्मा की हानि कैसे कही जा सकती है? अतः कामनाओं की हानि से आत्मा की हानि होती है, यह मत रिक्त अर्थात् अशुद्ध है।

इस विषय में वक्तव्य यह है कि—जिसको कामात्मा कहा गया है—कामनाओं के भोक्ता होने के कारण कहा गया है, यह काम भोग आसक्ति तथा अनासक्ति इन दो रूपों में देखा जाता है। भोग्य पदार्थ के साथ गहरी संलग्नता को आसक्ति कहते हैं और बिना किसी लगाव के सामान्य आवश्यक भोग को अनासक्त भोग कहते हैं, इस तरह आसक्त आत्मा और अनासक्त आत्मा के रूप में प्रज्ञात्मा के दो भेद हो जाते हैं। जो मनुष्य कामनाओं में अत्यन्त आसक्त रहता है– उसका आत्मा भी सकाम होते हुए कामनाओं के पीछे लगा रहता है अर्थात् काममय ही उस आत्मा का स्वरूप हो जाता है ।।२२८।।

४. कथित शङ्का का समाधान करते हैं कि—काम प्रसक्ति दो तरह से होती है—एक काम में आसक्त होकर और अन्य अनासक्त भाव में। जो गहरे लगाव के साथ आसक्त भोक्ता होता है—वह कामनाओं को अपने ऊपर आरोपित कर लेता है—इसलिए काम उसके आत्मा रूप ही हो जाते हैं। फलस्वरूप उन कामनाओं की हानि से जो आत्म हानि मानी जाती है वह उचित ही है। श्रीमद्भगवद्गीता में ये ही आसक्ति संग पद से कही गई है।

कामनामय जिस मनुष्य का जीवन व्यवहार चलता है उस कामात्मा पुरुष का आत्मा भी उन अनेक कामनाओं में बंट कर तन्मय ही रहता है। उन विभिन्न कामों में से

जिस कामना की जितनी हानि हो जाती है, उतनी ही हानि उसके आत्मा की भी हो जाती है ॥२२६॥

यद्यपि वे सब कामरूप इच्छा आत्मा से भिन्न ही होती है तथापि उनमें आत्मा का पूर्वोक्त विभूति सम्बन्ध तो रहता ही है– अतः उनमें से किसी भी कामना के नष्ट हो जाने पर वह सम्बन्ध टूट जाता है, फलतः जो काम अब तक आत्मा के उदर अर्थात् अधिकार में था उसमें अन्तर पड़ जाता है, यह अन्तर ही दुःखदायक हो जाता है। इस प्रकार कामना के नाश से आत्मा दुःखी भासित होने लगता है ॥२३०॥

५. लौकिक पदार्थों की कामनाएं यद्यपि आगन्तुक होने से आत्मा से पृथक् ही होती हैं, तथापि उनमें आत्मा का विभूति संसर्ग रहता है। उस संसर्ग में रुकावट आ जाने पर काम में और आत्मा में दूरी हो जाती है। दूरी हो जाने पर भय प्राप्ति की व्याख्या उपनिषत् के प्रमाण से पहले की जा चुकी है।

यहां एक अन्य विचार उपस्थित होता है कि प्राप्त पदार्थों की हानि से दुःखी होना तो उचित है, किन्तु जिन पदार्थों की अभी कामना मात्र है –प्राप्ति नहीं हुई है—उनके लिए दुःखानुभव क्यों होता है ? उसके लिए कहते हैं कि यद्यपि पदार्थ प्राप्ति नहीं हुई किन्तु उस पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा शक्ति जागरित हो जाने से आत्मा भी वृद्धिभाव में आमुख हो गया है—ऐसी अवस्था में जब तक वह पदार्थ मिल न जावे तब तक दुःख होना स्वाभाविक है ॥२३१॥

६. जो हमको पहले प्राप्त हैं उन धन, वनिता आदि के वियोग से विभूति संसर्ग के टूट जाने से दुःखी होना तो उक्त प्रकार से उचित मान लिया गया किन्तु अप्राप्त वस्तु की इच्छा रखने वाले को— जब वह नहीं मिलती तब भी दुःखानुभव होता है—वह उक्त नियम से कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसका ही समाधान करते हैं कि अप्राप्त अवस्था में भी प्राप्त करने की कामना के जाग जाने से— उसे अपने अधिकार में ले लेने के लिए आत्मा की वृद्धि हो चुकी। किन्तु वस्तु प्राप्त न होने से आत्मा का अंश खाली रह गया—-अतः पूर्णता न होने से दुःख का का उदय होता है, यह तात्पर्य है।

इत्यात्मनः केवलकामहान्याऽथवापि कामानुगतात्महान्या।
आसक्तिमान् काममयः स दुःखं भयं च नित्यं लभते सुखं वा ॥२३२॥

[1]भयं नु दुःखेन भयेन दुःखं समन्वितं रूपमुदेति तस्मात्।
दुःखं न चेन्नास्ति भयं भयं वा न चेन्न दुःखं समुदेति तत्र ॥२३३॥

[2]अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं दुःखं न चोदेति भयं विनेति।
आकस्मिकाघातवशात्स्वहानौ मृतौ च दुःखं क्रमते न भीतिः ॥२३४॥

[3]यदन्नमात्मा यतनेऽशनायया संगृह्यते तत्र सुयोगतः सुखम्।
अयोगहीनातिविरुद्धयोगतः प्रज्ञापराधात्त्विह दुःखमुद्भवेत् ॥२३५॥

[४]द्वेधात्र तद्दुःखमिह प्रवर्तते प्रज्ञामुपक्रम्य शरीरमेति वा।
भूतान्युपक्रम्य धियं समेति वा रुजैव तत्रास्ति भयं न दृश्यते ।।२३६।।
प्रज्ञप्रकम्पः प्रथमं हि दुःखं प्रज्ञाङ्गकम्पाद्भयमुग्रदुःखम्।
प्रज्ञावसादोऽतिशयेन दुःखं दुःखस्य काष्ठा परमात्मनाशः ।।२३७।।
[५]दुःखं चतुः संस्थमिति ब्रुवन्ति तत्र द्वितीयं भयमेव दुःखम्।
प्रज्ञस्य कम्पे यदि वाऽवसादे शून्यात्मता दुःखमिदं न भीतिः ।।२३८।।
[६]कामावसादस्तु दरिद्रताख्यं स्यादात्मकम्पोभयनाम दुःखम्।
आत्मावसादः किल शून्यदुःखमित्थं त्रिधा केचन दुःखमाहुः ।।२३९।।
[७]अत्रोच्यते नास्ति भयादृते तद्दुःखं न कम्पेन विनाऽवसादः।
स्यादात्मनोऽथास्ति न कामहानौ चेदात्मकम्पो न तदाऽस्ति दुःखम् ।।२४०।।

इस प्रकार केवल जो प्राप्त होकर काम रूप में आ चुके हैं—उनकी हानि से अथवा जो प्राप्त न होकर भी इच्छा रूप में आत्मा के अनुगत हो रहे हैं—उनकी हानि से अथवा लाभ से जो दुःख, भय तथा सुख का भी अनुभव होता है वह नितान्त काममय आसक्ति वाले पुरुष को ही नित्य होता है ।।२३२।।

लोक व्यवहार में कहीं दुःख के कारण भय होता है कहीं भय से दुःख होता है, इस तरह दुःख और भय का मिला जुला सा रूप उदित होता है इससे यह माना जाता है कि यदि दुःख नहीं होता तो भय भी नहीं होता और भय यदि नहीं होता तो वहां दुःख का उदय भी नहीं होता ।।२३३।।

१. विचलन रूप घबराहट के बिना अवसाद रूप दुःख नहीं होता इसलिए यह माना जाता है कि भय के बिना दुःख नहीं होता है।

इस विषय में यह वक्तव्य है कि 'भय के बिना दुःख नहीं होता यह मान्यता तो अशुद्ध है क्योंकि जहां अकस्मात् किसी आघातवश निज की महा हानि हो जाती है—अथवा मृत्यु हो जाती है—वहां दुःख का संक्रमण तो अति तीव्र होता है किन्तु पूर्वानुगत भय नहीं होता ।।२३४।।

२. यहां ६ श्लोकों में यह शङ्का रूप विचार उठाया जा रहा है—कि भय के बिना दुःख नहीं होता यह मत रिक्त अर्थात् अशुद्ध है। जहां अचानक मकान आदि के गिर जाने से तीव्र आघात लगता है—वहां देह सम्बन्धी भय का किसी प्रकार का पूर्व सम्बन्ध नहीं होता, तीव्र दुःखानुभव ही सहसा देखा जाता है।

इसका ही अन्य दृष्टान्त—'अन्न को प्राप्त करने की आन्तरिक स्थिति को लोक में भूख और वेद में अशनाया कहते हैं' इस अशनाया द्वारा जो अन्न आत्मा रूप आयतन में अर्थात् अन्न रखने के स्थान में संग्रहीत किया जाता है ।।२३५।।

३. वह अन्न स्वेच्छानुसार सुखपूर्वक यदि उपलब्ध हो जाता है तो सुखानुभव होता है—नहीं मिलने पर अथवा कम मिलने पर दुःख होता है। यदि सुयोग से अधिक मिले हुए अन्न को अपने बुद्धि

दोष रूप लापरवाही से अधिक मात्रा में खा लिया तो अथवा कुपथ्य भोजन कर लिया जाय तो दुःख तो भोगना पड़ता है किन्तु वहां भी पहले से भय का अनुभव नहीं होता।

दुःख की प्रवृत्ति दो प्रकार से लोक में देखी जाती है, एक तो बुद्धि में पहले से अनुमानतः दुःख का चित्र बनकर फिर शरीर में कष्ट का अनुभव होना, इस स्थिति में भय पूर्वक दुःख प्रवृत्त होता है। दूसरे प्रकार में पहले सहसा शरीर में कष्ट का आ जाना तदनन्तर बुद्धि में उसका प्रविष्ट होना, इस दूसरे प्रकार में शरीर गत पंचभूतों में विकार उत्पन्न होकर रोगाक्रान्त तो मनुष्य हो जाता है किन्तु पूर्वानुमान न होने से भय पहले से नहीं होता ।।२३६।।

४. प्रथम प्रज्ञा अर्थात् बुद्धि में संक्रमित होकर जब शरीर में दुःख की प्रवृत्ति होती है—उस स्थिति में तो भय पूर्वक दुःख की अनुभूति होती है, किन्तु जब शरीर पहले दुखाक्रान्त हो जाय तदनन्तर प्रज्ञा उस दुःख का अनुभव करे वहां रोग जनित दुःख का अनुभव ही होता है, पहले से भय का अनुगमन नहीं होता।

दुःख के चार प्रकार होते हैं, प्रज्ञ आत्मा में कम्पन (घबराहट) दुःख की प्रथम अवस्था है, प्रज्ञ के अङ्गभूत मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण के प्रकंपित होने पर जो भय होने लगता है वह दुःख की उग्रता होती है, जिस दुःख से प्रज्ञा की समझने की शक्ति ही नष्ट हो जाय वह अत्यन्त दुःख अवस्था है, और जिस दुःख से आत्मा का शरीर सम्बन्ध ही टूट जाय वह दुःख का अन्तिम रूप नाश अवस्था होती है। अर्थात् चतुर्थ अवस्था में मृत्यु हो जाती है ।।२३७।।

उक्त चार संस्था दुःख की विज्ञ जन बताते हैं, इनमें जो द्वितीय क्रम की अवस्था है—जिसमें प्रज्ञ आत्मा के अङ्गभूत बुद्धि रूप अन्तःकरण में भय का समावेश हो जाता है। उसमें तो भय जनित दुःख होता है, इसके अतिरिक्त जहां आत्म कम्पन रूप घबराहट होवे, अथवा जिस स्थिति में बुद्धि लोप होकर आत्मा में शून्यता आ जाय वहां दुःख ही होता है पहले से भयानुगमन नहीं होता ।।२३८।।

५. पूर्व श्लोक में जो चार प्रकार का दुःख कहा गया—उसमें द्वितीय संख्या वाले क्रम में ही भय—पूर्वक दुःख का अनुभव होता है। अन्य तीन स्थितियों में दुःख की भय द्वारा उत्पत्ति अनुभव में नहीं आती।

कुछ विज्ञजन दुःख के तीन प्रकार मानते हैं, १ कामनाओं की पूर्ति न होकर कामनानाश दरिद्र भाव रूप दुःख, २ आत्म कंपन जनित भय रूप दुःख, ३ अन्तःकरण की क्रिया शून्यता से आत्मशून्यता रूप दुःख। सर्वथा नाश रूप मृत्यु भाव को वे दुःख में नहीं गिनते ।।२३९।।

६. कुछ विद्वान् उक्त चार प्रकारों का तीन में ही अन्तर्भाव मान लेते हैं, यह प्रक्रिया भेद मात्र है, कोई मौलिक भेद नहीं है।

इस विषय में वस्तु विचार यह है कि—भय के बिना कभी दुःख नहीं होता अर्थात् दुःख से पूर्व भय की स्थिति रहती हो है, इस ही तरह कंपन रूप घबराहट के बिना कभी

आत्मशून्यता नहीं होती। यदि कामनाओं की हानि हो जाने पर भी यदि आत्म कंपन न हो तो दुःख नहीं होता ॥२४०॥

७. इस श्लोक द्वारा लोक व्यवहार की सारी स्थितियों में दुःख की भय पूर्वकता ही सिद्ध करते हैं—श्लोक के उत्तरार्द्ध के आरम्भ में जो 'स्यात्' पद आया है—उसका सम्बन्ध पूर्वार्द्ध से जुड़ा हुआ है—कंपन के बिना अवसाद रूप शून्यता नहीं होती– इसलिए भय के बिना दुःख नहीं होता यह युक्ति विचार है। कामना हानि हो जाने पर भी यदि आत्मा कंपन रूप घबराहट नहीं होती—स्थिरता बनी रहती है तो दुःख भी नहीं होता। यह तात्पर्य है।

[1]किन्त्वात्मनः सप्तपरिग्रहस्थे कम्पे भयस्यानुभवो धियास्ति ।
प्रकम्पिते त्वात्मनि न प्रसादो द्रष्टुस्ततो नानुभवो भयस्य ॥२४१॥

[2]तत्कालमृत्यौ तु भयं क्षणेन स्थानेषु सप्तस्वपि सर्प्यमाणम् ।
गृह्ये त नात्यन्तिकवेगहेतोर्न गृह्यते दुःखमपीह तद्वत् ॥२४२॥

[3]अथास्तु वा दुःखमिदं समस्तं भयस्वरूपं पृथगात्मकं वा ।
यथा तथा वास्तु तथापि कामासक्त्यात्मनो दुःखमिदं भयं च ॥२४३॥

[4]कामेष्वनासक्तिमितोय आत्मा न कामघातादयमेति घातम् ।
नायं विचाल्येत विचालहेतोरभावतः संस्थितधीरिहोक्तः ॥२४४॥

आत्मास्थिरो यस्य न तस्य दुःखं स्थिरो विचालीति विरुद्धमेतत् ।
ततः स्थितप्रज्ञ इह स्ववित्तादिकामहान्यापि न दुखःमेति ॥२४५॥

आसक्तिरज्ञानवशात्तु तस्मिन् प्रवर्तते ज्ञानवशात्त्वसक्तिः ।
अज्ञानमेवास्ति भयस्य हेतुर्विज्ञानमेव त्वभयं वदामः ॥२४६॥

[5]कामानुसक्तो हि बलाधिकं यत् पश्यत्यकस्मादगृहीत पूर्वम् ।
बिभेति तस्माच्चकितोपसर्पत्यसौ पुनः शान्तिमुपैति बुद्ध्वा ॥२४७॥

अन्तःप्रवेशे नियमं न वेत्ति यो बिभेति धीमान्प्रविशन्नृपालये ।
अज्ञातदेशे प्रविशन् बिभेत्यसौ दुर्गेऽपि निःशङ्कमुपैति शिक्षितः ॥२४८॥

भयं ततोऽज्ञानवशात्प्रजायते भयस्य मात्रा तदबोधमात्रया ।
प्रशान्तिमात्रापि च बोधमात्रया सर्वत्र दृश्येत विवेकशालिनाम् ॥२४९॥

कंपन रूप भय का हेतु यह होता है—कि आत्मा के सात परिग्रह रूप जो अन्न पहले कहे गये हैं उनमें आत्मा की स्थिति रहती है—उनमें से किसी का भी विलग हो जाना कंपन का हेतु बनता है—उस कंपन से बुद्धि के द्वारा भय का अनुभव होता है। जब आत्मा ही प्रकम्पित हो जावे—तब आत्मा तो विभूति संसर्ग से द्रष्टा मात्र होता है—कंपन से उस द्रष्टा भाव के विलुप्त हो जाने पर आत्मा में प्रसाद अर्थात् ग्रहण करने की शक्ति नहीं रहती अतः भय का अनुभव नहीं होता ॥२४१॥

१. पहले सात अन्नों के प्रकरण में आत्मा के जो सात अन्न रूप परिग्रह कहे गये हैं, उनमें यदि कंपन (विलगभाव) होता है तो भय का अनुभव होता है। इस अनुभव की व्याख्या शीघ्र ही आगे की जायगी। इसके अतिरिक्त यदि आत्मा ही प्रकम्पित हो जाय—तब तो दृष्टा रूप आत्मा का प्रसाद अर्थात् ग्रहण करने का सामर्थ्य ही नहीं रह पाता अतः भय का अनुभव नहीं होता। भय तो होता है किन्तु उसका अनुभव नहीं होता—यह तात्पर्य है।

तत् क्षण जो मृत्यु हो जाती है, उस अवस्था में तो भय क्षण मात्र में सातों स्थानों में प्रसर्पित हो जाता है—उस प्रसर्पण का इतना तीव्र वेग होता है कि अनुभूति रूप में उसका ग्रहण नहीं हो पाता—अतः दुःखानुभव भी नहीं होता ॥२४२॥

२. जब अकस्मात् बिजली गिर जाने आदि से मृत्यु होती है तब भय और दुःख दोनों के अति वेग से प्रसरित होने से उनकी अनुभूति नहीं हो पाती, किन्तु वे दोनों हुए ही नहीं यह नहीं कहा जा सकता—अति शीघ्रता होने से स्पष्ट अनुभव उन दोनों का नहीं होता यह ही वहां कहना होगा।

चाहे दुःख की भय रहित स्वतन्त्र स्थिति मानी जाय अथवा भय सहित स्थिति मानी जाय, इसमें हमारा कोई विशेष आग्रह नहीं है, तथापि ये दुःख और भय काम की अत्यन्त आसक्ति में ही कामासक्त पुरुष को अनुभूत होते हैं। यह निश्चित सिद्धान्त है ॥२४३॥

३. भय और दुःख को पृथक्-पृथक् माना जाय अथवा भय के बिना भी दुःख की स्थिति मानी जाय—उसमें हमारा आग्रह नहीं है, किन्तु विशेष कामासक्ति से ही भय और दुःख प्रवृत्त होते हैं—इस विचार में कोई विवाद नहीं हो सकता।

जो प्रज्ञ आत्मा अभ्यास द्वारा कामनाओं से अनासक्ति पा चुका हो—उसे कामनाओं की हानि हो जाने से निज हानि का अनुभव नहीं होता, एवं च स्व स्वरूप से विचलित करने वाले हेतु अनासक्त पुरुष के आत्मा में प्रवेश ही नहीं कर पाते अतः वह कभी विचलित भी नहीं होता, उसकी संज्ञा ही स्थित प्रज्ञ होती है। वह कभी दुःखी नहीं होता है ॥२४४॥

४. यह ही कारण है कि जो कामनाओं में अनासक्ति रूप सम्बन्धों के अभाव को पा जाता है अर्थात् अनासक्त हो जाता है—वह कामनाओं की अर्थात् पुत्र, धन आदि की हानि के अन्तः प्रवेश न पाने के कारण उस लोक में मानी जाने वाली महा हानि से भी दुःखी नहीं होता—क्योंकि उसके आत्मा में कामनाओं का प्रवेश न होने से आत्मा का आधार उनको नहीं मिलता—अतः दुःख नहीं होता। वह ही 'स्थित प्रज्ञ' कहा जाता है। स्थिरता और चंचलता ये दोनों परस्पर विरुद्ध भाव हैं। अतः स्थिर प्रज्ञ पुरुष में चलन स्वभाव वाला दुःख प्रवृत्त नहीं होता, यह तात्पर्य है।

जिसका आत्मा स्थिर भाव में प्रतिष्ठा पा चुका है, उसे कभी दुःख नहीं हो सकता। स्थिर भी है और विचलित भी होता है यह कहना तो परस्पर विरुद्ध होने से व्याहत है। अतः जो स्थित प्रज्ञ हो जाता है उसे अपनी धन आदि कामनाओं की हानि से भी दुःख नहीं होता। क्योंकि उन कामनाओं में उसका आसक्तिरूप आत्मभाव रहता ही नहीं है ॥२४५॥

लौकिक पदार्थों की कामना में आसक्ति का कारण मूलतः अज्ञान (अविद्या) अर्थात् अज्ञान से मिला हुआ ज्ञान-अज्ञान' ही होता है—उसके कारण ही पुरुष की आसक्ति

रूप प्रवृत्ति होती है, यदि अज्ञान का अ हट जाय और स्वाभाविक आत्मा स्वरूप रूप ज्ञान का उदय हो जाय तो वह आसक्ति रूप संगति टूट कर अ सक्त भाव आ जाने से लगाव ही नहीं रहता, अतः अज्ञान को ही भय का हेतु मानना होगा, वास्तविक ज्ञान सहित जो विज्ञान मार्ग है—वह तो दावे के साथ अभय मार्ग कहा जा सकता है ।।२४६।।

कामनाओं से बंधा हुआ मनुष्य जब किसी अधिक बलशाली को अकस्मात् देखता है जिसे पहले कभी नहीं देखा था तो प्रथम दर्शन में वह उससे डर जाता है और चकित होकर उसके समीप जाकर जब उसकी वास्तविकता को जान लेता है तब निर्भय होकर शांत हो जाता है। इससे स्पष्ट यही होता है कि अज्ञान से ही भय होता है और विज्ञान से शान्ति ।।२४७।।

५. यहां अज्ञान से भय की उत्पत्ति का प्रतिपादन करते हैं—पहले कभी न देखे हुए पदार्थ को देखकर तत्काल तो अज्ञानवश भयभीत हो जाता है, किन्तु पीछे वास्तविकता का ज्ञान हो जाने पर घबराहट शान्त हो जाती है। जितनी मात्रा अज्ञान की होती है—उतनी ही भय मात्रा का उदय होता है और जितना अंश ज्ञान द्वारा स्पष्ट हो जाता है उतने अंश का भय भी निवृत्त हो जाता है।

वह बुद्धिमान् मनुष्य जो राजमहल में प्रवेश करने के नियमों को नहीं जानता वह महल में प्रवेश करते समय भयग्रस्त रहता है, इसही प्रकार किसी अनजानी जगह में प्रवेश करते हुए भी डरता है, दोनों में अज्ञान ही कारण है। इसके ठीक विपरीत जिसकी ज्ञान परिधि में पहले से परिचय है—वह अति कठिन दुर्गम स्थान में निःशंक बढता चला जाता है ।।२४८।।

विवेकशाली विद्वानों की मान्यता यही है कि अज्ञान हेतुक ही भय की प्रवृत्ति होती है और उसमें भी जितनी मात्रा अज्ञान की होती है—भय की मात्रा भी उतनी ही होती है, इसही प्रकार ज्ञान अवस्था में भी जितनी मात्रा का ज्ञान होता है उतनी ही मात्रा में शान्ति का अनुभव भी होता है व्यवहार में सर्वत्र यही देखा जाता है ।।२४९।।

[1]प्रज्ञा भयेऽस्मिन्विचलत्यवश्यं शान्तौ पुनः सा स्थिरतामुपैति ।
प्रज्ञा यदुत्सीदति चात्मनः सा भयस्य काष्ठा म्रियते तदासौ ।।२५०।।

यदा[2] ह्यधिप्रज्ञमुदेति कम्पनं तस्या विभूतिर्विषयेभ्य उत्क्रमेत् ।
नाभौ प्रकम्पात्तमसः प्रसङ्गतः स्युः प्राणवागादिषु विक्रियाः क्रमात् ।।२५१।।

प्राणः सकम्पो भवतीति दुर्बलोऽप्यसौ भयोद्भूतबलात्पलायते ।
वाग्वा सकम्पा भवतीति बिभ्यतो मुखादकस्माद्भयवागुदीर्यते ।।२५२।।

वायुः सकम्पो भवतीति कम्पनं गात्रेऽधिकं श्वास उदेति भूयसा ।
तेजः सकम्पं भवतीति शोषणं मुखेऽनुतप्तश्वसनोष्णवर्ष्मता ।।२५३।।

जलं सकम्पं भवतीति विग्रहः प्रस्वेदपूर्णः सहसाभिजायते ।
[3]मृद्वा सकम्पा भवतीति गौरवात् स्तब्धासृगुत्सन्नगतिश्च मूर्छितः ।।२५४।।

इत्थं चिरायात्र भयोपसर्पणे चिरं विकारक्रमतोऽतिदुर्बला।
निर्मूलमुत्सन्नतरा यदात्मनः प्रज्ञा भवेत् तर्ह्यचिरान्म्रियेत सः ॥२५५॥

प्रज्ञाल्पमात्राल्पबलाश्लथास्य चेदाभासते तत्र चिदल्पयत्नतः।
प्रज्ञाल्पमात्राऽविधृताऽप्रतिष्ठिता विचाल्यतेऽज्ञानबलप्रणोदिता ॥२५६॥

[१]विचाल्यमाने जलवन्न भाति चेत्प्रज्ञे चिदात्मा मरणं तदुच्यते।
प्रज्ञां नितान्तप्रचलान्तरामनु स्युर्नो चिदाभासविभूतयस्तदा ॥२५७॥

प्रज्ञानतोऽल्पे तु भये प्रवर्तिते प्रज्ञानकम्पादुदियन्ति विक्रियाः।
सा प्राप्य विज्ञानमिह प्रतिष्ठिता तेनैव चालं विधृता प्रसीदति ॥२५८॥

भय की अवस्था में प्रज्ञा—(परिणाम सोचने वाली बुद्धि) अवश्य विचलित हो जाती है, यह सामान्य स्थिति है—इस सामान्य जगत् में से जिस मनुष्य की प्रज्ञा सदभ्यास वश स्थिर हो जाती है—वह शान्ति पा जाता है। भय की जिस अन्तिम अवस्था में—इस प्रज्ञा का ही उच्छेद हो जाय आत्मा की इस प्रज्ञा का नष्ट होना भय की अन्तिम सीमा है वहां मरण हो जाता है ॥२५०॥

१. भय अवस्था में प्रज्ञा प्रचलित हो जाती है—अर्थात् निर्बल हो जाती है, जब तक प्रज्ञा में विवेक रूप बल रहता है—तब प्रज्ञा बलवती होती है—वह स्थिर प्रज्ञ की प्रज्ञा होती है—उस स्थिर प्रज्ञ की प्रज्ञा लौकिक अल्प आघात से विचलित नहीं होती, अतः स्थिर प्रज्ञ के भय तथा दुःख नहीं होते। भय की अन्तिम काष्ठा (सीमा) तो मरण है।

प्रज्ञ आत्मा की शक्ति भूत प्रज्ञा में जब कम्पन उदित हो जाता है तब विषयों से उसका विभूति सम्बन्ध भी टूट जाता है। नाभि केन्द्र में प्रकंपन हो जाने से तमोगुण की अधिक प्रसक्ति हो जाती है—उसके कारण प्राण-वाक् आदि में विकार उत्पत्ति क्रमशः हो जाती है ॥२५१॥

२. प्रज्ञा में प्रकंपन होने पर प्रज्ञा का विषयों में से विभूति रूप सम्बन्ध भी विच्छिन्न हो जाता है। उससे भयभीत होकर प्राज्ञ अपने स्वरूप से भी विच्युत हो जाता है। नाभिकेन्द्र में जहां-जहां कंपन प्रवृत्त होता है वहां तमोगुण का व्यापार आरंभ हो जाता है, उससे विविध विकार उत्पन्न होते हैं। आत्मा का अंशभूत प्रथम परिग्रह (अधिकृत संपत्ति रूप) प्रज्ञा है। उसके अनन्तर प्राण आदि छह परिग्रह हैं—उनका दिग्दर्शन आगे कराया जा रहा है।

भय के कारण जब प्राण प्रकंपित होता है तब दुर्बल मनुष्य भी भय-जनित नवीन बल के उदित हो जाने से भीत होकर आसन छोड़कर भाग पड़ता है। वाक् जब कम्पित होती है तो भयग्रस्त के मुख से चीत्कार निकल पड़ता है ॥२५२॥

शरीर गत वायु जब प्रकंपित होता है तो शरीर में श्वास प्रश्वास की गति अति तीव्र हो जाती है, शरीरस्थ अग्नि के प्रकंपित होने पर मुख सूख जाता है, गरम श्वास आने लगता है तथा सारा शरीर गरम हो जाता है ॥२५३॥

भय अवस्था में शरीर गत जल के प्रकंपित हो जाने पर सहसा सारा शरीर पसीने से गीला हो जाता है। इस ही प्रकार शरीर गत पार्थिव अंश के कंपित हो जाने पर गुरुता बढ जाने से रक्त की गति रुक जाती है आदमी स्तब्ध हो जाता है, गति विहीन होकर मूर्छित हो जाता है ।।२५४।।

३. भय ग्रस्त हो जाने पर कभी तो अतिवेग से भाग पड़ता है तो कभी पैरों में जकड़न हो जाती है—एक कदम भी नहीं चल पाता—इसका हेतु बताते हैं, कि प्राण में कंपन होने पर निर्बल खाट में पड़ा हुआ मनुष्य भी भाग पड़ता है, शरीर की अवयव भूत पृथ्वी के कंपन से गुरुता के कारण स्तब्धता आ जाती है। मृत् पद से यहां शरीर की अवयव रूप पृथ्वी का संकेत है।

इस प्रकार भय की प्रवृत्ति यदि चिरकाल तक रहे तो उक्त विकारों का क्रम भी चिरकाल तक चलता है—उससे आत्मा की प्रज्ञा शक्ति निर्मूल (आधार हीन) होकर उखड़ जाती है—तब मनुष्य की मृत्यु शीघ्र हो जाती है ।।२५५।।

जब प्रज्ञा की मात्रा अल्प रह जाती है तो विवेक रूप प्रज्ञा का बल भी ढीला पड़ जाता है—उसका आभास मात्र होता है। यह अल्प मात्रा की प्रज्ञा धारणा शक्ति से शून्य हो जाती हैं अतः सुप्रतिष्ठित नहीं रहती, यह अज्ञान बल से प्रेरित होकर थोड़े से प्रयत्न से ही विचलित हो जाती है ।।२५६।।

जैसे कंपमान जल में प्रतिबिम्ब का भान नहीं होता—वैसे ही प्रज्ञा के चलायमान हो जाने पर प्रज्ञ में चेतन आत्मा का आभास नहीं हो पाता—उस अवस्था को ही मरण कहा जाता है। प्रज्ञा जब अति चंचल हो जाती है तब चेतना को आभासित करने वाले विभूति संसर्ग भी नहीं हो पाते ।।२५७।।

४. भय से मृत्यु कैसे हो जाती है इसकी उपपत्ति बता रहे हैं। प्रज्ञा में जब तक आत्मा का प्रकाश रहता है तब तक जीवन स्थिति मानी जाती है। जैसे कांपते हुए जल में प्रतिबिम्ब का भान नहीं होता वैसे ही प्रज्ञा की अति कंपित अवस्था में आत्मा का प्रकाश नहीं हो पाता—तब ही मृत्यु कही जाती है—यह तात्पर्य है। जब भय की मात्रा अल्प होती है—तब प्रज्ञा का विचलन भी अल्प ही होता है—अतः विकार ही उत्पन्न होते हैं—आत्मा प्रकाश की रुकावट नहीं होती—अतः मृत्यु भी नहीं होती। अर्थात् विचलित प्रज्ञा पुनः विज्ञान रस पाकर सुस्थिर हो जाती है। इस प्रकरण द्वारा अज्ञान से भय का होना और ज्ञान से भय की निवृत्ति सिद्ध की गई।

[1]अथाहुरेतन्मतमस्ति रिक्तं भयं यदज्ञानकृतं वदन्ति।
पश्यामि तु ज्ञानकृतं भयं स्यादज्ञानतो निर्भयतामुपेयात् ।।२५९।।

वटेऽत्र यक्षो वसतीति जानन् बिभेति भूयो वटमागतस्तम्।
अजानता निर्भयमत्र रात्रौ सुस्थीयते नापि दिवाऽत्र भीतिः ।।२६०।।

राज्ञो गृहे सर्वजनः प्रवेशं नार्हत्यथो साहसिकः प्रविश्य।
दण्डेन निस्ताडनमर्हतीति जानन्प्रवेशाय बिभेति भूयः ।।२६१।।

यो बालिशो दीनजनस्य भूपतेर्नेहान्तरं वेत्ति न वा नृपालये ।
वेत्ति प्रवेशे नियमं स निर्भयं स्वैरं प्रवेशाय मति करोति हि ।।२६२।।

तस्माद्भयं ज्ञानत एव संभवत्यज्ञानमस्ति शरणं जडात्मनः ।
[२]ज्ञानाद्भयं चेत्कथमुच्यतेऽमृतं विज्ञानमानन्दमयं किलाभयम् ।।२६३।।

अत्रा[३]हुरज्ञानकृतं न तद्भयं न त्वेव विज्ञानकृतं क्वचिद्भयम् ।
ज्ञानं यदज्ञानवृतं तदागमान्मुह्यन्ति सर्वे भयहेतुरस्ति तत् ।।२६४।।

विज्ञानमात्मा हि यथास्ति यस्य तत्तथैव तिष्ठन्नपहन्यते न तत् ।
अज्ञानकालेऽपि तदप्रणोदितं कथं विचाल्येत कुतो भयं भवेत् ।।२६५।।

[४]विज्ञानमात्मा हि यथास्ति यस्य तत् विज्ञानमन्यत्परिगृह्य वर्धते ।
तदात्मवृद्ध्या रसमश्नुते तथाऽऽनन्दः स तस्मान्न भयं तदा भवेत् ।।२६६।।

[५]ज्ञानं यदज्ञानवृतं भवेत् तदा तदागमादिन्द्रियमार्गतः क्रमात् ।
प्रज्ञाश्लथाङ्गाल्पबलाऽप्रतिष्ठिता च्यवेत चाज्ञानबलावृताऽऽहृता ।।२६७।।

प्रज्ञान आत्मा में भय की अल्प मात्रा के प्रवृत्त होने पर प्रज्ञान में कंपन होता है—उससे विकारों का उदय हो जाता है । प्राज्ञ आत्मा की वही प्रज्ञा जब विज्ञान रस पाकर पुनः प्रतिष्ठित हो जाती है और वह विज्ञान ही उस प्रज्ञा को पूर्णतया धारण किये रहता है—अतः प्रज्ञा का प्रसाद बढता है ।।२५८।।

कुछ विचारकों के मत में—अज्ञान से भय होता है—इस मान्यता को अशुद्ध माना जाता है, उनके कथनानुसार ज्ञान हो जाने पर ही भय की प्रवृत्ति मानी जाती है—अज्ञान में तो आदमी निर्भय रहता है ।।२५९।।

१. यहां पांच सरलार्थक श्लोकों द्वारा शङ्का उठाई गई है । अज्ञान से भय होता है यह बात बुद्धि में बैठती नहीं है—व्यवहार में तो ज्ञान होने पर ही भय प्रवृत्ति देखी जाती है—इसका ही उपपादन करते हैं ।

जब आदमी जान लेता है कि इस वट वृक्ष में यक्ष का वास है तो फिर उस बट वृक्ष के पास आने से वह घबराता है, और जा आदमी इस यक्ष वास की बात नहीं जानता वह निर्भय होकर रात में भी उस वट के नीचे सुखशयन करता है, न उसे दिन में भय होता है, और न रात में ।।२६०।।

राजमहल में सर्वसाधारण का प्रवेश नहीं होता, कोई दुःसाहसिक जन यदि सहसा वहां प्रविष्ट हो जाता है तो डंडे की मार खाकर लौटता है, तब यहां घुसने पर डंडे पड़ते हैं—यह जानकर वह फिर वहां घुसने से डरता है ।।२६१।।

इसके विपरीत जो अज्ञानी दरिद्री और राजा का अन्तर नहीं पहचानता और नहीं राजमहल में प्रवेश पाने के नियमों को जानता है—वह तो निर्भय होकर यथेच्छ प्रविष्ट होने का विचार रखता है ।।२६२।।

इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि भय का उदय ज्ञानपूर्वक ही होता है, जो निरे मूढ कहे जाते हैं ऐसे जड़ात्माओं के लिए अज्ञान तो निर्भय शरण है। अब प्रश्न यह उठता है कि यदि ज्ञान भय का हेतु है तो फिर ज्ञान को अमृतमय, विज्ञानमय, आनन्दमय, सर्वथा अभय स्वरूप कैसे कहा जा सकता है ।।२६३।।

२. उक्त कथनानुसार जब ज्ञान होने पर ही भय होता है यह मान लिया गया, तब आत्मा-अमृत, विज्ञान, आनन्दमय कैसे कहा जाता है ? यहां आकर शङ्का क्रम का उपसंहार किया गया।

पूर्व श्लोकों में कथित शंका का समाधान करते हैं—कि वास्तविक विचार करने पर तो भय की उत्पत्ति न तो अज्ञान से होती है और न विज्ञान से—भय तो वहां होता है जहां ज्ञान अज्ञान से आवृत हो रहा हो, यह अज्ञान स्वयं आगन्तुक है—इसके आ जाने पर सब मोहित हो जाते हैं—अतः अज्ञान से घिरा हुआ ज्ञान ही भय का हेतु है, शुद्ध ज्ञान नहीं वह तो अमृत ही है ।।२६४।।

३. समाधान करते हैं कि भय का हेतु न तो ज्ञान है और न केवल अज्ञान है, अपितु ज्ञान में जब आवरण रूप अज्ञान का प्रवेश होता है—तब भय होता है। गीता अ.५ श्लोक–२५ में 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्तिजनावः' कहा गया है, अर्थात् अज्ञान से ज्ञान ढका रहता है उससे ही प्राणियों को मोह होता है। कथित उदाहरणों में भी 'वट वृक्ष पर यक्ष का वास है' यह तो ज्ञान का अंश है, उस यक्ष के निराकरण के उपाय का ज्ञान नहीं है—यह उस ज्ञान पर अज्ञान का आवरण है। इस ही प्रकार 'राजद्वार में सहसा प्रवेश नहीं करना चाहिये—यह तो ज्ञान है, कैसे प्रवेश करना चाहिये यह ज्ञान नहीं है—अतः ये अज्ञान से घिरा हुआ ज्ञान है। इस प्रकार सर्वत्र परीक्षा करनी चाहिये,

जो विज्ञान को आत्मा के रूप में ग्रहण कर चुका हो उसका वह विज्ञान सदा तद् रूप ही रहता है—उसका अपघात नहीं होता। अज्ञान अवस्था में भी उस आत्म विज्ञान में किसी प्रकार की हल चल नहीं होती, फिर भय क्यों होगा ।।२६५।।

वह विज्ञानमय आत्मा जिसका जैसा होता है—वह अन्य विज्ञान को ग्रहण करके बढता है—उससे आत्मा की वृद्धि होकर रस की प्राप्ति होती है अतः उससे तो आनन्द लाभ होता है, भय नहीं हुआ करता ।।२६६।।

४. अब भिन्न-भिन्न प्रकृति के पुरुषों के भेद से वैज्ञानिक रीति से सुख, दुःख भय आदि का उपपादन करते हैं—जो विज्ञान को आत्मारूप से ग्रहण कर लेता है—उसका वह आत्मा रूप विज्ञान सदा एक रूप ही रहता है—उसकी विचलता न होने से वहां भय आदि की सम्भावना नहीं होती। प्रज्ञा के साथ एकरूपता पाये हुए विज्ञान की शिक्षादि द्वारा वृद्धि होने पर तो सुख ही होता है—भय आदि नहीं होते, यह बात ही उक्त दो पद्यों द्वारा कही गई है।

वह ज्ञान जो अज्ञान से ढका हुआ होता है, इन्द्रियों के मार्ग से उसका आगमन होता है, उस अज्ञानावृत ज्ञान से प्रज्ञा के अङ्ग शिथिल हो जाने से अतः उसका बल अल्प हो जाने से प्रज्ञा की प्रतिष्ठा स्थिर नहीं रह पाती, अज्ञान के बल से आघात पाकर वह स्व स्थान से च्युत हो जाती है—तब ही कम्पन होता है ।।२६७।।

५. जिस पुरुष की प्रज्ञा के अङ्ग शिथिल होते हैं—वह प्रज्ञा, बल में भी अल्प हो जाती है, उस पुरुष के नेत्र आदि इन्द्रिय मार्ग से आये हुए अज्ञान से घिरे हुए ज्ञान से अज्ञान द्वारा आघात पाई हुई प्रज्ञा अपने स्थान से विच्युत हो जाती है—यह विच्युति ही कम्पन है और यह कम्पन भाव ही भय का प्रधान हेतु है।

[1]इत्थं हि मात्राकृतबन्धने भवेत् क्वचिच्छ्लथत्वं दृढताऽथवा क्वचित्।
वज्रेऽस्ति बन्धोऽतिदृढोऽथ तूलके श्लथः स एवं निखिलेषुकल्प्यताम् ॥२६८॥

[2]श्लथः स बन्धो विपुलोऽपि दुर्बलो दृढस्तु कार्श्येऽपि बली घनास्थिवत्।
बलाधिकश्चेच्छ्लथबन्धनोऽप्ययं काले ध्रुवं स्याद् दृढबन्धनः क्रमात् ॥२६९॥

प्रज्ञस्य बन्धोऽपि शिशोः श्लथः पुरा ततो बिभेत्यल्पविभीषयाऽप्यहो।
यदा तु विज्ञानमुपार्जितं क्रमात् सहैव तेनात्र विधीयते बलम् ॥२७०॥

यथा यथा ज्ञानवशाद्बलोदयः प्रज्ञस्य बन्धोऽपि बलैर्दृढो भवेत्।
यावत्तु बन्धे दृढता ततः क्रमात् प्रज्ञो विचाल्येत न वा विभीषया ॥२७१॥

विज्ञानसंगेन बलं यदागतं प्रज्ञं तदा योजयति प्रतिष्ठया।
अज्ञानसंगेन बलं यदागतं प्रज्ञप्रतिष्ठा च्यवते ततः क्रमात् ॥२७२॥

तदेतदज्ञानकृतो भयोदयोऽन्ततो मतो ज्ञानकृतः शमक्रमः।
विज्ञानतः प्रज्ञधृतौ बलोदयान्नोद्वेगशोकाकुलतार्तिसंभवः ॥२७३॥

[3]विज्ञानतो बन्धनमुक्तिरिष्यते न बन्धनं क्वापि तथापि संप्रति।
प्रज्ञस्य विज्ञानवशेन बन्धनं यदुच्यते तन्न च नोपपद्यते ॥२७४॥

[4]विकाशि विज्ञानमिदं विकाशनस्वभावतो बन्धनमोचनं भवेत्।
तच्चानुगृह्णाति विशिष्य कर्म यत् तदेव विस्फोटयतीति निश्चितम् ॥२७५॥

[5]प्रतिग्रहेणैतदनुग्रहेण प्रवर्ततेऽनुग्रहतस्तमोनुत्।
प्रतिग्रहादस्य तु मर्त्यकार्यानुयोगयोग्या मलरूपसिद्धिः ॥२७६॥

अधिक अथवा अल्प मात्रा से किए गए बन्धन में कहीं शिथिलता रहती है कहीं अत्यन्त दृढता हो जाती है—जैसे वज्र अर्थात् हीरे में बन्धन मात्रा अत्यन्त दृढ है, इसके विपरीत रुई के गालों में वह बन्धन अत्यन्त शिथिल है, इस ही प्रकार से संसार के सब पदार्थों में यह दृढ, शिथिल भाव दिखाई दे सकेगा ॥२६८॥

१. प्रज्ञा में शिथिलता और दृढता कैसे होती है—इसकी प्रक्रिया बताते हैं कि—सम्बन्ध में ही दृढता अथवा शिथिलता होती है, अर्थात् बल—का रस के साथ सम्बन्ध दृढ है अथवा शिथिल है। उदाहरणतः हीरे के हार में दृढ और रुई में शिथिल वैसे ही यहां अथवा सर्वत्र अनुसंधान करना समुचित है।

मात्रा में अधिक होने पर भी यदि बन्धन शिथिल होता है तो मोटा ताजा आदमी भी दुर्बल ही माना जाता है, इसके विपरीत जिसकी हड्डियां घनभाव में दृढता से बंधी हुई

होती है वह शरीर से कृश होता हुआ भी अधिक बलवान् होता है। शिथिल बन्धन वाला यदि बल में कभी अधिक होता है तो कालान्तर में निश्चित रूप से उसके बन्धन मजबूत हो जाते हैं। अथवा यह अर्थ भी होता है कि आरम्भ में यदि शिथिल बन्ध वाला अधिक बल वाला प्रतीत होता है तो कालान्तर में दृढ बन्धन वाला ही विजयी होता है ॥२६९॥

२. बड़ी मात्रा में होने पर भी बन्ध यदि शिथिल होता है तो वो दुर्बल ही माना जाता है, मात्रा में अल्प होने पर भी यदि बन्ध दृढ होता है तो कृश पुरुष भी बलवान् सिद्ध होता है। अतः जिसने अध्ययन तो बहुत किया हो परन्तु अधीत विषय को दृढता से प्रज्ञा में प्रविष्ट नहीं किया हो—उसकी प्रज्ञा शिथिल रहती है। इसके विपरीत जिसने अध्ययन तो अल्प ही किया हो परन्तु अधीत का अभ्यास दृढता से किया हो—उसकी प्रज्ञा दृढ होती है। शिथिल प्रज्ञा वाले को भय होना आगे के श्लोक में बल के दृष्टान्त से दिखाया गया है।

शिशु अवस्था में तो प्रज्ञ का बन्ध भी पहले शिथिल ही होता है—इस कारण वह अल्प भय के कारण भी चकित होकर भीत हो जाता है, आगे शिक्षा क्रम से उसकी विज्ञान मात्रा जब बढ जाती है तो साथ ही बल वृद्धि भी हो जाती है ॥२७०॥

जैसे-जैसे ज्ञान बढता है, साथ ही बल का उदय भी होता है और उस बल से प्रज्ञ के प्रज्ञा बन्ध में भी दृढता आ जाती है। और बन्ध में जितनी दृढता आ जाती है, उस ही क्रम से वह प्रज्ञ पुरुष विभीषिकाओं से विचलित नहीं होता ॥२७१॥

विज्ञान संगति से जो बल का आगमन होता है वह प्रज्ञा बंध को दृढ करता हुआ प्रज्ञ की प्रतिष्ठा को बढाता है, इसके विपरीत अज्ञान की संगति जो बल का आगमन होता है उससे प्रज्ञ की प्रतिष्ठा क्रमशः विच्युत होती है ।२७२॥

इस प्रकार अन्ततः अज्ञान जनित भय का उदय माना जाता है और ज्ञान द्वारा भय का शमन होता है। विज्ञान द्वारा प्रज्ञ की धारणा शक्ति अधिक बलवती हो जाने से उद्वेग रूप घबराहट, शोक, आकुलता तथा कष्टानुभव नहीं होते ॥२७३॥

विज्ञान से बन्धन मुक्ति पहले कही गई है—बन्धन वृद्धि विज्ञान का फल कभी नहीं होता, फिर यहां प्रज्ञ की जो विज्ञानवश बन्धन दृढता बताई जा रही है वह कैसे समुचित मानी जाय? तो कहते हैं कि ऐसा माना ही नहीं जाता है ॥२७४॥

३. यहां शंका उठाते हैं कि—विज्ञान से बन्धन मोचन पहले कहा गया है—अब यहां विज्ञान से बन्धन की दृढता कैसे कही जा रही है? तो कहते हैं यह बात सिद्ध ही कहां हो पाती है।

विज्ञान तो स्वभाव से ही विकासशील है, और विकास भाव से बन्धन का छुटकारा होता है किन्तु विकासशील विज्ञान विशेषतया जब कर्म को ग्रहण करता है—तब वह कर्म ही बन्धन कारक होता है यह सुनिश्चित है ॥२७५॥

४. विज्ञान विकासशील है, विकास होने पर बन्ध से मुक्ति होती है, वहां भी विज्ञानमय ब्रह्म तो स्वयं क्रिया करता नहीं अतः वह न तो मोचक है और न बन्धक, किन्तु विकासमय विज्ञान जो कर्म को ग्रहण करता है—वह कर्म ही बन्धन का विस्तार करता है। जिस कर्म को ग्रहण

किया जाता है वह कर्म प्रतिग्रह रूप में अथवा अनुग्रह रूप में प्रवृत्त होता है। आत्माभिमुख कर्म अनुग्रह रूप होता है—उससे मुक्ति होती है। आत्मा से पराङ्‌मुख कर्म का सम्बन्ध प्रतिग्रह रूप होता है—उससे संसाराभिमुख होकर सांसारिक व्यवहार में दृढता आती है—बन्धमोचन नहीं होता। अतः संसाराभिमुख विज्ञान बन्धन की दृढता ही करता है। यह तात्पर्य है।

कर्म की प्रवृत्ति जो प्रतिग्रह अथवा अनुग्रह रूप में होती है—उसमें अनुग्रह रूप प्रवृत्ति तमोगुण को हटाने वाली होती है। और प्रतिग्रह प्रवृत्ति से मृत्यु लोक के कार्य संपादन को अनुकूलता होकर बन्धन की दृढता रूप मलभाव की वृद्धि होती है ॥२७६॥

५. इस प्रकरण का तात्पर्य यह है कि—"पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः" इस वेद वचन के अनुसार इन्द्रियां आत्मा से पराङ्‌मुख अर्थात् बहिर्मुख प्रवृत्त होती हैं। अतः इन्द्रिय जनित विज्ञान भी स्वभावतः बहिर्मुख होता है—वह संसाराभिमुख होकर कामनाओं को ही भासित करता है। इसके विपरीत योग साधना द्वारा अथवा ज्ञान द्वारा समुत्पन्न वासनाओं के क्षय के द्वारा प्रयत्नपूर्वक उस विज्ञान को आत्मा की ओर अभिमुख किया जाता है तब वह विज्ञान संसार से पराङ्‌मुख जो आत्मा है उसके अभिमुख होकर, आत्मा को ही भासित करता है। उस अवस्था में कामना निवृत्ति होकर आत्मभूत वह विज्ञान मुक्ति साधक हो जाता है। अन्य प्रकार से भी इस विषय को इस तरह स्पष्ट किया गया है कि—अव्यय पुरुष की कला के रूप में एक कला विज्ञान नाम से पहले कही गई है, और अव्यय पुरुष सबका आधारभूत आकाश स्थानीय है यह भी पहले स्पष्ट कर दिया गया है। इस प्रकार विज्ञान आकाश स्थानीय हुआ—उसमें समागत अक्षर पुरुष की कला प्राण, आप्, वाक्, अन्नाद और अन्न बताई गई हैं। अब विचार किया जाय तो आकाश स्थानीय विज्ञान में जितनी मात्रा से अन्नाद (अग्नि) और अन्न रखे गए—वे विज्ञान के बढने पर उतनी मात्रा का अन्न यदि विस्तृत आकाश में फैला दिया जाय तो अन्न और जल के अंशों को अधिक स्थान में प्रसरित कर देने पर बन्धन की शिथिलता स्वभाव सिद्ध हो जाती है—उससे क्रमशः मुक्ति मार्ग की ओर अभिमुखता हो जाती है और अल्प मात्रा के उस बन्धन के विलीन हो जाने पर क्रमशः मुक्ति सिद्ध हो जाती है। इससे विपरीत संसार के अभिमुख होकर जब विज्ञान अधिक मात्रा में प्रविष्ट होता है तब विज्ञान रूप आकाश की वृद्धि के साथ साथ कामना रूप अन्न की भी वृद्धि हो जाती है तब अन्न का कण कणशः प्रसार नहीं हो पाता, अतः बन्धन भी शिथिल नहीं होता, अपितु अन्न के बल रूप होने के कारण बल ही अधिक मात्रा में प्रविष्ट हो जाता है—उससे बन्धन की दृढता ही बढती है। और बन्धन के दृढ हो जाने पर धैर्य मात्रा बढती है अतः प्रज्ञ में धीरता के कारण भय आदि निवृत्त हो जाते हैं, और सांसारिक व्यवहार की चतुरता का विस्तार होता है, वह अधिक से अधिक मात्रा में बढती है। इस तरह संसार की ओर अभिमुख विज्ञान प्रज्ञ आत्मा की सांसारिक व्यवहार चतुरता को विस्तृत करता है। उससे भय आदि की प्रवृत्ति नहीं होती। आत्मा के अभिमुख विज्ञान अर्थात् आत्म विज्ञान जो अन्न के बिना भी बढता रहता है—वह क्रमशः मुक्ति की ओर अभिमुख करता है। अन्न की वृद्धि का वहां अभाव होने पर जो पूर्व संचित अन्न है उसका विज्ञान आकाश में प्रसार हो जाने से बन्धन में शिथिलता आ जाती है

यह पूर्व कहा जा चुका है । इस प्रकार बन्धन की दृढता करना अथवा बन्धन से मुक्त कर देना ये दोनों बात युक्ति द्वारा सिद्ध होती है—यह सूक्ष्म विचार भावुकजनों को करना चाहिये । कथित दोनों प्रकारों से विज्ञान शोक दुःख आदि को हटाने वाला ही होता है—अतः विज्ञान साधना के लिये यत्न अवश्य करना चाहिये । इस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया से रस रूप आत्मा का तात्विक भाव ग्रन्थकर्त्ता ने संक्षेप में बताया है ।

प्रज्ञस्थ विज्ञानमिदं पराङ्मुखं कामान् पराचो हि सदाऽवभासयेत् ।
प्रज्ञे परावर्तितमानसादिदं गच्छेत् तदात्मज्ञतया स मुच्यते ।।२७७।।

विज्ञानमाकाशममुष्य वर्धनादन्नादकोऽन्नं च विसारि जायते ।
विवृद्धमाकाशमनुप्रसारणादन्नस्य बन्धः क्रमशो विहीयते ।।२७८।।

सहैव चान्नेन यदा तु वर्धते विज्ञानमस्मिन्न तदान्नबन्धनम् ।
विशीर्यतेऽन्नस्य च न प्रसारणं तद्बन्धमुक्त्यै तु निरन्नवर्धितम् ।।२७९।।

सहैव चान्नेन यदा तु वर्धते विज्ञानमेतद्विधृतान्न संचयम् ।
प्रज्ञस्य संवर्धयते धृतिं क्रमाद् धृतेश्च मात्रामनु तद्भयक्षयः ।।२८०।।

तथा च विज्ञानमिदं हि बाह्यानर्थान् दधत् प्रज्ञसमर्थता कृत् ।
अन्तर्मुखं प्रज्ञगतं तु मुक्त्यै तमस्तदुत्साद्य रसं तनोति ।।२८१।।

।। इति परविद्याध्याये रसाधिकारो द्वितीयः ।।

प्रज्ञ आत्मा में स्थित यह विज्ञान जब आत्मा से पराङ्मुख (बहिर्मुख) होता है तब उस बहिर्मुखता में यह सदा कामनाओं को ही प्रकाशित करता है और जब मन प्रज्ञ आत्मा की ओर लोट आता है तब यह विज्ञान आत्मज्ञान द्वारा मुक्ति करा देता है ।।२७७।।

विज्ञान रूप आकाश में प्रज्ञ की वृद्धि से अन्नाद और अन्न दोनों का प्रसार हो जाता है और उस महान् आकाश में अन्न के कणशः बिखर जाने से अन्न का बन्धन भाव क्रमशः छूट जाता है ।।२७८।।

आत्मा से पराङ्मुख अवस्था में उस आकाश में इसकी वृद्धि के साथ अन्न की भी जब वृद्धि होती रहती है—तब अन्न सम्बन्धी बन्धनगति टूटती नहीं है और न अन्न का कणशः बिखरा ही होता है—अतः उस अवस्था में बन्धन की दृढता ही होती है । बन्धन मुक्ति के लिये तो बिना अन्न के विज्ञानाकाश में वृद्धि आवश्यक है ।।२७९।।

जब वह विज्ञान अन्न वृद्धि के साथ-साथ बढता है—तब अन्न का अधिक संचय होने से प्रज्ञ की धारणा शक्ति बढ जाती है और धैर्य मात्रा के बढ जाने से उसके साथ ही भय का नाश हो जाता है ।।२८०।।

इस प्रकार अन्न सहित वृद्धि में यह विज्ञान लौकिक बाहरी पदार्थों को वृद्धिपूर्वक धारण करता हुआ प्रज्ञ आत्मा में सामर्थ्य भाव लाता है और यह ही विज्ञान अन्तर्मुख होकर जब प्रज्ञ आत्मा का अनुगमन करता है तब मुक्त होने के लिये तमोगुण को हटाकर रस का

विस्तार कर देता है। इस तरह लौकिक उन्नति तथा मुक्ति दोनों में विज्ञान सहायक होता है, यह तात्पर्य है ।।२८१।।

।। पर विद्या अध्याय में द्वितीय रसाधिकार पूर्ण ।।

(२८) अथ मूलबलाधिकरणम्

रसो[१]ऽमृतं ब्रह्म बलं तु मृत्युः कर्मेति सामान्यतया यदुक्तम् ।
तयोः पुनर्ब्रह्म निरूपितं प्रागतः परं कर्म निरूपणीयम् ।।१।।
[२]रसप्रधानप्रतिपोत्तशास्त्रं वेदान्त इत्याह हि सोऽन्तवेदः ।
बलप्रधानोऽत्र विचारभागः सांख्यं हि संख्यानमिदं बलानाम् ।।२।।
[३]रसे बले चात्र यथा परस्परस्वरूपसंसर्गत आत्मसृष्टयः ।
तथैतयोरेव पुनः स्वरूपवत् संसर्गतः शक्तिरपीह सृज्यते ।।३।।
[४]यत्रैतदभ्यादधतीह किञ्चित्सोऽत्ता यदाधीयत एतदन्नम् ।
यदाद्यमत्तोभयमेकमूतमाख्यायतेऽत्तैव तदा न चाद्यम् ।।४।।
[५]रसे न भुक्ते तु बले रसोऽसावात्मा वृषासौ त्रिविधः परादिः ।
बलेन भुक्ते तु रसे बलं तच्छक्तिर्नु योषा महदादिरेषा ।।५।।

रस अमृतमय ब्रह्म स्वरूप है और बल मृत्यु रूप—बल को ही सामान्यतया कर्म कहा गया है। रस-बल ही सृष्टि के मूल तत्व हैं। इन दोनों में से ब्रह्म का निरूपण प्रथम किया गया, इससे आगे कर्म का निरूपण करना है ।।१।।

१. बल की तीन अवस्था प्रारम्भ में कही गई हैं—बल, शक्ति और कर्म। उनमें संसार का सर्वमूल रूप कर्म है- वह विशेष विवरण सापेक्ष है। रस, अमृत, ब्रह्म ये शब्द परस्पर पर्याय हैं, इस त्रिक का अर्थ एक ही है। इस ही प्रकार बल, मृत्यु, कर्म ये तीन भी एकार्थ ही हैं।

विश्व में रस रूप ब्रह्म की प्रधानता का वास्तविक ज्ञान कराने वाला शास्त्र वेदान्त इस नाम से कहा गया है, वेद अर्थात् ज्ञान का वह अन्त है, अन्तिम ज्ञान है। बल प्रधान विचारक शास्त्र-सांख्य है, वह बलों की संख्या निरूपण करता है ।।२।।

२. रस और बल का निरूपण करने वाले शास्त्र भी भिन्न दो नाम के हैं, रस की प्रधानता का निरूपण करने वाला शास्त्र वेदान्त नाम से कहा जाता है। वेद अर्थात् ज्ञान का वहां अन्त हो जाता है, ज्ञातव्य सीमा है वेदान्त। उससे आगे कुछ जानने योग्य रहता ही नहीं है। यह वेदान्त शब्द का व्याकरण रूप निर्वचन है। दूसरा बल की प्रधानता का निरूपक शास्त्र—सांख्य कहा गया है। क्योंकि बल बहुत होते हैं, उनमें संख्या क्रम रहता है—रस तो 'एकमेवाद्वितीयम्' है –अतः एक मात्र होने से उसमें संख्या क्रम संभव नहीं है। एकत्व कोई संख्या नहीं है, वह तो सबका आधार स्वरूप है—यही दार्शनिकों की मान्यता है। अतः अनन्त बलों की पृथक्-पृथक् गण संख्या कर देने के कारण बल प्रधानता निरूपक शास्त्र सांख्य है, यह सांख्य शब्द का निर्वचन हुआ है।

सृष्टि की सर्वारम्भ अवस्था में रस और बल का जो विकार रहित परस्पर स्वरूप संसर्ग हुआ उससे सारे विश्व के आत्मा रूप अव्यय पुरुष आदि की सृष्टि हुई। तदनन्तर स्वरूप संसर्ग विशिष्ट युगल भावापन्न उन दोनों का पुनः स्वरूप संसर्ग के समान ही संसर्ग होने से बल प्रधान शक्तियों का आविर्भाव होता है ।।३।।

३. रस में स्वरूप सम्बन्ध से बल के संमेलन से अव्यय-अक्षर-क्षर रूप आत्माओं का आविर्भाव होता है, यह पहले पुरुष निरूपण में स्पष्ट किया जा चुका है। इस ही प्रकार स्वरूप-संसर्ग के समान ही संसर्ग-विशेष से बल-प्रधान शक्तियों का आविर्भाव होता है यह भाव है।

इस बल प्रधान उत्पत्ति क्रम में अत्ता (भोक्ता) और अन्न की प्रक्रिया चलती है, जिसमें जो कुछ भोग्य पदार्थों का अधान किया जाता है—वह अत्ता अर्थात् खाने वाला कहा जाता है और जो रखा जाता है—वह अन्न होता है। खाने वाला स्वरूपतः रहता है—अन्न विलीन हो जाता है। जब अत्ता और अन्न एक रूप हो जाते हैं, तब अत्ता ही बचता है अन्न नहीं बचता ।।४।।

४. दोनों की इस स्वरूप संसर्ग सृष्टि में एक अत्ता, दूसरा अन्न होता है। उनमें जिसका स्वरूप आगे व्यवहार योग्य रहता है—वह अत्ता कहलाता है, जिसका व्यवहार आगे विलीन हो जाता है—वह अन्न होता है। अन्न का अत्ता में आधान किया जाता है, जिसमें आधान किया जाता है—वह आहित वस्तु का आधार बनता हुआ आगे अवशिष्ट रहता हुआ 'अत्ता' होता है। और जिसका आधान किया जाता है—जिसका स्वरूप दूसरे में लुप्त हो जाता है, वह अन्न कहा जाता है। अत्ता वृषा नाम से ख्यात होता है और अन्न को योषा कहा जाता है। यह वैदिक परिभाषा है। जब दोनों का एकीकरण हो जाता है तब अत्ता तो शेष रहता है, अन्न का तो विलीनीकरण होकर नाम भी शेष नहीं रहता।

जब रस बल का भोक्ता बनता है तब आत्मा रूप से रस ही शेष रहता है, तब यह रस वृषाभाव में पर (अव्यय), अक्षर और क्षर रूप होकर त्रिविध हो जाता है। पर पुरुष रूप यह सर्वादि भाव है। आगे के क्रम में जब बल रस का भोक्ता बनता है—तब बल रूप से ही आगे व्यवहार प्रवृत्ति होती है, तब रस और बल की सम्मिलित अवस्था भी त्रिविध होकर शक्ति, योषा तथा महान् नाम से ख्यात होती है। बल प्रधानता का ये सबसे आदि का भाव है ।।५।।

५. पूर्वोक्त को ही स्पष्ट किया जा रहा है—जहां रस ने बल का भोग कर लिया अर्थात् बल विलीन होकर रस का स्वरूप ही शेष रह गया वहां वे आत्मा पर, अक्षर, क्षर नाम से ख्यात हो गये। जहां बल ने रस का भोग किया—अर्थात् बल के रूप से ही आगे व्यवहार प्रवृत्त हुआ, वहां रस–बल की संमिलित अवस्था को शक्ति नाम से और योषा नाम से व्यवहार किया जाता है यह तात्पर्य है। यद्यपि सर्व विकार रहित रस का भोग होना सम्भव नहीं होता तथापि बल की प्रधानता के कारण वैसा व्यवहार हुआ है—अतः व्यवहार दृष्टि से मुक्त भाव का उपचार मात्र है। यह बात पहले ग्रन्थकर्त्ता ने अनेक प्रकार से स्पष्ट कर दी है। वह योषा रूपिणी शक्ति भी महान आदि रूप से तीन प्रकार की आगे व्याख्यात होगी।

[1]बलं हि संसृज्य रसे स्वरूपतो विवर्तते तत्र बलं विलीयते ।
विलक्षणस्तेन रसो बलाशनात् स सर्वकामः स्वशक्तिभिः स्मृतः ।।६।।

[2]रसोऽपि संसृज्य बले स्वरूपतो विवर्तते तत्र रसो न भासते ।
बलं तु तत् प्राश्य रसं विलक्षणं सद्रूपतो भाति युनक्ति चात्मना ।।७।।

[3]आत्मा यथा ब्रह्मतयेष्यतेऽयं शक्तिस्तथा ब्रह्मतयेव वेद्या ।
ब्रह्म द्विधोदेति वृषा च योषा योषैव शक्तिर्नु वृषा स आत्मा ।।८।।

स्वरूप संसर्ग से बल रस में विलीन होकर तद्रूप हो जाता है, अर्थात् रस का अन्न होता है—इस बल रूप भोजन से उस निर्विकार रस में विलक्षणता आ जाती है, पहले वो निष्काम था अब अपनी बल रूप शक्तियों सहित वह सर्वकाम हो गया। अर्थात् बल रूप माया विशिष्ट रस सर्वकाम है ।।६।।

१. बल रस से संसृक्त होकर जहां स्वरूप से विवर्तित हो जाता है अर्थात् रस रूप से ही प्रतीत होने लगता है। बल का पृथक् रूप में व्यवहार न होने से उस अवस्था में बल विलीन सा हो गया ऐसा कहा जाता है, जैसी जल में तरंगों की विलय अवस्था देखी जाती है। विलीन हो जाने पर भी वह बल रस में कुछ विलक्षणता का आभास करा देता है। वास्तव में रस में कोई विलक्षण भाव नहीं होता—वह सर्व विकार रहित माना जाता है, जैसा कि निर्विकाराधिकरण में मूल में ही विस्तार से विवरण हुआ है। इस वस्तु स्थिति में भी बल ही माया रूप से वहां विलक्षणता की प्रतीति कराता है। उस विलक्षणता का स्पष्टीकरण करते हैं कि 'स सर्वकामः'। रस तो स्वयं निर्विकार है, न उसमें कोई कामना है—न वो किसी कर्म का कर्त्ता है। वह ही रस बल विशिष्ट हो जाने पर सकाम भी हो जाता है और कर्त्ता भी। अतएव 'स ऐक्षत्', 'सोऽकामयत' इत्यादि वेद वाक्यों द्वारा रस में जो समीक्षा तथा कामना कही गई है—वह माया बल विशिष्ट ब्रह्म के लिये ही समझनी चाहिये। ब्रह्म के दो रूप वेदान्त ग्रन्थों में 'शुद्ध ब्रह्म' तथा 'माया शवलित विशिष्ट ब्रह्म' नाम से ख्यात हुए हैं। शुद्ध ब्रह्म में जगत् कर्तृत्व आदि कोई भाव नहीं है। माया विशिष्ट ब्रह्म के ही उत्पादन, पालन तथा संहरण आदि भाव होते हैं। इस अवस्था में बल शक्ति रूप हो जाता है। अतएव श्रुति में तथा स्मृतियों में शक्ति विशिष्ट ब्रह्म कहकर स्तवन किया जाता है।

आगे सृष्टि क्रम में रस भी बल में संसर्ग करके स्वरूप से विवर्तित हो जाता है—उस अवस्था में रस का भास नहीं हो पाता बल ही प्रधान हो जाता है, उस विलक्षण रस का भोग कर लेने पर बल स्वयं सत्ता रूप में भासित होने लगता है, वह अपने आपको आत्मा ही मान लेता है ।।७।।

२. जहां रस बल से संसर्ग करता है—अर्थात् जो संसर्ग बल प्रधान होता है— वहां रस ही स्व स्वरूप से विवर्तित हो जाता है। रस का भान न होना ही विवर्त है। इसे ही आवरण नाम से कहा जाता है। वहां बल ने मानो रस को खा लिया या निगल सा लिया हो। वास्तविक विचार में तो रस को निगल जाना संभव नहीं होता, तथापि असंभव को भी संभव दिखा देने वाली माया से रस का आवरण हो जाता है—यह नहीं भूलना चाहिये। बल स्वयं रस को

निगल कर अर्थात् अपने में आवृत कर सत् रूप हो जाता है—सत्ता स्वयं बल का रूप ग्रहण कर लेती है, उस अवस्था में बल को ही सत् कहा जाता है, इतना ही नहीं वह बल आत्म भाव से भी मुक्त हो जाता है, अर्थात् अपने आपको ही आत्मा मानने लगता है। संसार की प्रत्यक्ष अवस्था में यह ही देखा जाता है। संसार में बल ही प्रधान होता है, रस रूप अमृतमय प्रकाशक, मूल आत्मा तो आवरण में ढका सा रहता है।

जैसे सबका आत्मा—रसब्रह्मस्वरूप है, वैसे ही बल रूप शक्ति को भी ब्रह्म-स्वरूपिणी ही समझना चाहिये। ब्रह्म स्वयं योषा और वृषा इन भावों में उदित होता है, योषा ही शक्ति है, वृषा आत्मा है।।८।।

३. आत्मा अर्थात् रस भी ब्रह्म है और शक्ति नाम से कहा जाने वाला बल भी ब्रह्म है। स्पष्ट यह कि ब्रह्म स्वयं ही योषा रूप से और वृषा रूप से दो प्रकार का भासित हुआ है। शक्ति योषा नाम से कही जाती है और आत्मा वृषा नाम से। (बृहदारण्यक उपनिषत् तृतीय अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण में) "आत्मैवेदमग्रआसीत् पुरुष विधः"—सृष्टि की सर्वादि अवस्था में यह आत्मा ही एक मात्र पुरुष रूप था, यह विचार उपक्रम रूप से उठाकर आगे पुरुष रूप का गहन विवेचन किया है कि "सहैतावानास, यथा स्त्री पुमां सौ संपरिष्वक्तौ, स इममेवात्मानं द्वेधा अपातयत्, ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्' इत्यादि। अर्थात् रस बल संयुक्त यह पुरुष रूप दोनों का सम्मिलित युगल रूप है—जैसे स्त्री और पुरुष संपृक्त हो रहे हों। माया विशिष्ट ब्रह्म ने इस युगल भाव को देखकर स्वयं को स्त्री और पुरुष इन दो भावों में विभक्त कर लिया, उनमें पुरुष की पति रूप से और स्त्री की पत्नी रूप से आगे प्रवृत्ति हो गई। आगे उन दोनों से ही सारे प्राणियों की सृष्टि बताई गई है। भगवद् गीता में भी—

ममयोनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।(अ. १४–३)

कहकर इस ही विषय को स्पष्ट किया है। इस प्रकार शक्ति स्वरूपिणी योषा और आत्मा रूप वृषा ये दोनों ही ब्रह्म स्वरूप ही हैं, अर्थात् ब्रह्म के ही अतात्विक अन्यथा भाव रूप विवर्त हैं।

[१]विस्रंसमानो रसदो रसं हि यः प्रदाय भूयः पृथगेव तिष्ठति।
वृषा स योषा तु रसं निजान्तरे विधार्य कृत्वाऽवयुतिं सृजत्यदः।।९।।

येनात्मना या तु युनक्ति शक्तिः सा तस्य योषा पुरुषस्य सिद्धा।
[२]क्षरस्य योषा प्रकृतिश्च योनिः स्यादक्षरस्याथ परस्य माया।।१०।।

माया च योनिः प्रकृतिश्च दृष्टाः सांकर्यतोऽपि व्यपदिश्य भावाः।
[३]शक्त्या प्रकृत्या जनितं तु भोग्यं भोक्तात्मना भुक्तमुपक्षिणोति।।११।।

[४]योनौ भवन्तः क्षरभूतभावाः भोक्तार आत्मान इमे ह्यभोग्याः।
यन्मायया किञ्चिदुदेति रूपं न भोक्तृ नो भोग्यमिहाक्षरं तत्।।१२।।

¹स्वरूपसंसर्ग इहोदितस्त्रिधा बन्धोऽपि योगोऽपि विभूतिरित्यपि ।
तैर्जायते शक्तिरियं त्रिधा तमो रजश्च सत्वं च गुणा इमे त्रयः ।।१३।।

वृषा और योषा का लक्षण—रस प्रदान करने वाला आत्मा जो क्षरित होकर रस प्रदान करके फिर स्वतन्त्र रूप से पृथक् ही स्थित रहता है– वह वृषा कहलाता है और योषा वह है जो उस रस को अपने अन्दर धारण करके तथा उसमें निज अंश को सम्मिलित करके सन्तान की सृष्टि करती है ।।६।।

१. योषा और वृषा भाव क्या हैं इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं—अपने स्वरूप भूत रस को जो अन्यत्र समर्पित करता है, और रस दान कर देने के अनन्तर स्वयं पृथक् रहता हुआ ही स्वतन्त्र स्थित रहता है—वह वृषा है । विस्रंसमान (क्षीण होते हुए) पद का प्रयोग लोक दृष्टि से किया गया है—लोक में देखा जाता है कि जो अपने आत्मभूत रस को योषा में आधान करता है—वह स्वयं विस्रंसित अर्थात् क्षीण हो जाता है यह तात्पर्य है । ब्रह्म की विलक्षणता तो यह है कि वह अपने रस को अन्यत्र संक्रमित करके भी कभी क्षीण नहीं होता 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' इसकी व्याख्या में यह स्पष्ट विवरण हो चुका है । योषा उस रस भाग को अपने भीतर धारण करती हुई उसमें 'अवयुति' करके अर्थात् अपने अंश को भी उसमें मिलाकर सन्तान रूप से सृष्टि करती है—यह लोक में देखा जाता है—उसके समान ही रस और बल का भी विचार करना चाहिये । सृष्टि करने वाला तो बल ही होता है—वह रस को अपने में ग्रहण करके आत्म स्वरूप हो जाता है—उससे सर्जन करने में समर्थ हो जाता है यह तात्पर्य है । रस तो बल में अनुप्रविष्ट होकर भी स्व स्वरूप से बिकार शून्य ही रहता है—क्षीण भी नहीं होता, यह विषय निर्विकार अधिकरण में दृष्टान्त सहित स्पष्ट कर दिया गया है ।

जो शक्ति जिस आत्मा से संयुक्त होती है—वह उस आत्मा स्वरूप पुरुष की योषा सिद्ध होती है । क्षर पुरुष की योषा का नाम प्रकृति है, अक्षर पुरुष की योषा का नाम योनि और पर अर्थात् अव्यय पुरुष की योषा का नाम माया है ।।१०।।

२. क्षर-अक्षर-अव्यय इन तीन पुरुषों से संयुक्त शक्ति के नामों का भेद बताते हैं—क्षर की योषा-शक्ति प्रकृति नाम से कही जाती है, अक्षर की शक्ति योनि नाम से, और पर—अव्यय की शक्ति माया नाम से कही गई है । निर्विकार पर अर्थात् अव्यय पुरुष में वह योषा केवल मिति रूप सीमा भाव का भास ही कराती है—अतः माया नाम से कही जाती है । अक्षर पुरुष तो गर्भ ग्रहण करके क्षर आदि को उत्पन्न करता है—अतः वह योनि है, क्षर पुरुष में तो वह योषा पूर्णतया संपृक्त होकर प्रकर्ष से कार्य करती है अतः उसे प्रकृति कहा जाता है । इन माया, योनि और प्रकृति शब्दों का संकर भाव रहता है—अतः सबका प्रयोग सबके लिये होता है—यह आगे श्लोक में बता रहे हैं ।

माया, योनि, प्रकृति इन योषा बोधक शब्दों का परस्पर सांकर्य भाव में व्यवहार देखा जाता है, अर्थात् सामान्यतया किसी का प्रयोग तीनों में से किसी के लिये भी कर दिया जाता है । क्षर पुरुष से संपृक्त प्रकृति शक्ति के द्वारा उत्पादित भोग्य पदार्थों का भोग तो

क्षर आत्मा कर लेता है—अतः वह क्षीण हो जाता है अर्थात् उस शक्ति में ही लीन हो जाता है। स्थूल रूप में संपृक्त हो जाता है यह तात्पर्य है ।।११।।

३. प्रकृति रूपिणी शक्ति संसार के भोग्य पदार्थों को उत्पन्न करती है, वे सारे भोग्य क्षर आत्मा के द्वारा मुक्त होकर क्षीण हो जाते हैं, प्रकृति में ही विलीन हो जाते हैं यह तात्पर्य है।

योनि रूप अक्षर पुरुष की योषा शक्ति से उत्पन्न होने वाले क्षर भावात्मक तत्व भोक्ता आत्मा रूप होते हैं ये भोग्य नहीं होते। अव्यय पुरुष से सम्बद्ध माया शक्ति द्वारा जो अक्षर नामक पुरुष रूप उदित होता है—वह अक्षर न तो भोक्ता होता है, न भोग्य ही। 'इस असक्त पुरुष को ही सेतु कहा गया है'। यह ही पूर्ण पुरुष है विराट् ।।१२।।

४. अक्षर पुरुष तो योनि रूप योषा में क्षर पुरुष को उत्पन्न करता है—वह तो आत्मा रूप भोक्ता है भोग्य नहीं है। पर की माया शक्ति जिस पुरुष तत्व को प्रकट करती है—वह न तो भोग्य होता है न भोक्ता ही—अतः उस पुरुष को अक्षर यह नाम दिया गया है—क्योंकि वहां क्षरण होता ही नहीं।

स्वरूप संसर्ग पहले बन्ध, योग, विभूति भेद से तीन प्रकार का बताया गया है। इन तीन स्वरूप संसर्गों से बलरूपिणी शक्ति तीन रूपों में विभक्त हो जाती है—वे तम, रज और सत्व तीन गुण प्रकृति के रूप माने जाते हैं ।।१३।।

५. पहले संसर्ग प्रकरण में स्वरूप संसर्ग के बन्ध आदि तीन भेद कहे गए हैं, उनसे रस की प्रधानता रहने पर वाक्, प्राण और मन ये तीन आत्मा प्रादुर्भूत होते हैं ये भी कहा गया है। उन ही संसर्गों में से शक्ति की प्रधानता रहने पर बन्ध संसर्ग से तमोगुण, योग से रजोगुण तथा विभूति संसर्ग से सत्वगुण प्रादुर्भूत होता है यह समझना चाहिये। श्लोक में संसर्गों का और उनसे समुत्पन्न शक्तियों का उलटे क्रम से पाठ छन्द के अनुरोध से किया गया है। सूक्ष्म से स्थूल क्रम का विचार करने पर प्रथम विभूति संसर्ग से सत्वगुण, योग से रजोगुण तथा तीसरी अवस्था में बन्ध संसर्ग से तमोगुण की उत्पत्ति होती है यह अनुसंधेय है। यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ये तीनों गुण बल में ही अन्य बल के संसर्ग से होते हैं। 'आत्मा के आवृत्त हो जाने से इनमें बल की ही प्रधानता रहती है।

तमो रजः सत्वमयी हि शक्तिः शक्तिर्न सा यत्र न तत्त्रयं स्यात्।
[१]त्रिधा पुनः सात्मरसानुयोगान्महानहङ्कार उतापि मात्रा ।।१४।।

शुद्धं बलं शुद्धरसं निगीर्य यद्रूपतो व्यक्तिमगान्महान् सः।
महत्पुनर्यत्र बलानुबन्धिरसं प्रभुङ्क्ते तदहङ्कृतिः स्यात् ।।१५।।

अहङ्कृतिर्यत्रपुनः प्रभुङ्क्षते रसं बलाढ्यं तदुदेति मात्रा।
मात्रा पुनश्चेद्बलवद्रसं तं भुङ्क्ते ततः स्यात् विविधोऽत्र [२]कायः ।।१६।।

महत्यमुष्मिंश्च गुणान् विदुस्तान् विक्षेपकामावरणप्रभेदात्।
[३]स्यात्सत्वमिच्छावरणं तमः स्याद्रजस्तु विक्षेपमुदाहरन्ति ।।१७।।

गुणा अहङ्कारगतास्त्रयस्ते ज्ञानं क्रिया चार्थ इति प्रभेदात् ।
द्रव्यं तमोऽर्थः स रजः क्रिया स्याद् ज्ञानं तु सत्त्वं प्रतिपादयन्ति ।।१८।।

मात्रा गतास्ते च गुणास्त्रयः स्युः प्रज्ञा तथा प्राण उतापि भूतम् ।
[४]मात्राभिराभिस्तु पृथक् कृताभिर्मिथोऽन्विताभिः सकलं जगत् स्यात् ।।१९।।

[५]मात्राभिराभिः क्रियते हि रूपं सोऽणुः प्रसिद्धोऽथ तदन्वयेन ।
याः स्युर्महाभूतकला हि तासां स्कन्धोऽयमाभाति विभाति यद्वत् ।।२०।।

[६]न चातिरिक्तं महदादिभिः स्यात् किञ्चित् क्वचित् तत्प्रकृतिस्त्रिधैव ।
त्रैगुण्यमन्यत्तु यदेव दृष्टस्थानेषु चैष्वेव गतं तदाहुः ।।२१।।

शक्ति सर्वत्र तमोमयी, रजोमयी, तथा सत्वमयी होती है । ये तीनों गुण नहीं हैं तो शक्ति भी नहीं है अर्थात् ये तीन गुण शक्ति रूप ही हैं । यद्यपि बल प्रधान सर्ग में बल का बल से ही संसर्ग होता है किन्तु मूल आत्मा का रस तो सर्वत्र अनुगत रहता ही है । उसही रस के अनुयोग से आगे वह शक्ति फिर तीन रूपों में विभक्त होती है, वे रूप हैं महान् (बुद्धि), अहंकार, और मात्रा ।।१४।।

१. ये शक्ति आत्मागत रस से संयुक्त होकर महान्, अहङ्कार, तन्मात्रा इन तीन रूपों में क्रमशः आ जाती है, यह तात्पर्य है । जैसे रस की प्रधानता में मन-प्राण-वाक् से अव्यय, अक्षर और क्षर इन तीन पुरुषों के प्रादुर्भाव की व्याख्या हुई है । वैसे ही बल की प्रधानता में बल जब रस को निगल लेता है अर्थात् रस माया आवरण में ढक जाता है—बल की प्रधानता रहती है, उससे महान्, आदि की उत्पत्ति होती है—यह तात्पर्य है । इनकी उत्पत्ति स्पष्ट रूप से आगे दिखाई जा रही है ।

शक्ति से महान् तत्व की उत्पत्ति का क्रम—शुद्ध एक जातीय बल शुद्ध रस को निगल कर अर्थात् आवरण में लेकर आगे जिस रूप में प्रकट हुआ—उसे महान् कहते हैं । यह महान् फिर जब नवीन बल सम्बन्धी अनुगत रस का भोग करता है, तब अहङ्कार की उत्पत्ति होती है ।।१५।।

अहङ्कार आगे जब बल संयुक्त रस का भोग करता है—अर्थात् सचेतन होता है, तब भूत तन्मात्रा उत्पन्न होती हैं । आगे फिर वे तन्मात्रा जब बल संयुक्त रस को पाकर सचेतन होती हैं—रस को आवृत कर लेती हैं, स्वयं प्रधान भाव में प्रकट होती हैं तब संसार के ये विविध प्रकार के शरीर बनते हैं ।।१६।।

२. तन्मात्राओं द्वारा पुनः बल संयुक्त रस के निगले जाने पर अर्थात् मात्राओं के पुनः रस योग में जब रस का आवरण होकर उसकी मुख्यता हट जाती है, मात्रा प्रधान होती हैं तब काया नाम के ये विविध शरीर उत्पन्न होते हैं ।

उस महान् नाम के तत्व में उक्त तीनों गुणों की पहचान, विक्षेप, कामना और आवरण रूप में होती है । उनमें क्रमशः सत्वगुण इच्छा (कामना) रूप, तमोगुण आवरण रूप और रजोगुण विक्षेप रूप माना जाता है ।।१७।।

३. महत् तत्व में जो तीन गुण काम-विक्षेप-आवरण शब्दों से कहे जाते हैं—उनमें पूर्व पद्य में छन्द के अनुरोध से क्रम टूट गया था—अतः स्पष्ट कर रहे हैं—कि सत्वगुण इच्छा रूप में प्रकट होता है—यह इच्छा ही काम नाम से प्रसिद्ध है, तमोगुण आवरण और रजोगुण विक्षेप रूप में। इस ही प्रकार आगे अहंकार और तन्मात्रा में तीनों गुणों का प्राकट्य दो पद्यों में स्पष्ट बताया है।

अहंकार में वे सत्वादि गुण—ज्ञान, क्रिया और पदार्थ भेद से तीन प्रकारों में परिवर्तित हो जाते हैं। उनमें तमोगुण से पदार्थ रूप द्रव्य को उत्पत्ति, रजोगुण से क्रिया रूप चेष्टा की तथा सत्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है ।।१८।।

भूत तन्मात्राओं से सम्बद्ध वे तीनों गुण प्रज्ञा, प्राण और भूत रूप में बदल जाते हैं। पृथक्-पृथक् इन भूत तन्मात्रा रूप शक्तियों के परस्पर संयुक्त हो जाने पर सारे संसार की उत्पत्ति होती है ।।१९।।

४. तन्मात्राओं के भेद शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। इनके परस्पर संबद्ध हो जाने पर सारे जगत् की उत्पत्ति होती है। इस तन्मात्रा जन्य जगत् उत्पत्ति की व्याख्या पुराणों में तथा सांख्य दर्शन में स्पष्ट रूप से हुई है।

उत्पत्ति क्रम बताते हैं कि—इन तन्मात्राओं के परस्पर सम्बद्ध हो जाने पर प्रथम अत्यन्त अणु भाव का रूप होता है—वह परमाणु नाम से प्रसिद्ध है—इससे समन्वित होकर आगे पृथ्वी-जल आदि स्थूलभूतकला बनती हैं—उन सबका स्कन्ध रूप यह परमाणु होता है इसके आधार पर ही प्रत्येक वस्तु अपने-अपने रूप में भासित हो रही है ।।२०।।

५. मात्रा एकत्रित होकर अणु को उत्पन्न करती हैं। जिस अणु को न्यायशास्त्र में सबके कारण रूप में स्वीकार किया है। उन अणुओं के परस्पर संयोग से महाभूत कला अर्थात् पृथ्वी आदि महाभूतों के अवयव उत्पन्न होते हैं। वे ही जगत् रूप से दृश्यमान होते हैं।

महान्, अहङ्कार और तन्मात्रा इस त्रिक के अतिरिक्त कहीं अन्य कुछ भी नहीं है, प्रकृति इन तीन रूपों में ही वर्तमान है। एक अन्य त्रैगुण्यात्मक रूप प्रकृति का जो शास्त्र में कहा गया है—उसका इन तीनों में ही अन्तर्भाव मानना चाहिये ।।२१।।

६. महान्, अहङ्कार और मात्रा के अतिरिक्त जगत् में कहीं भी अन्य कुछ भी दृश्यमान नहीं है। अतः प्रकृति को इन तीन रूपों में ही देखना समुचित है। सांख्य दर्शन आदि में 'मूल प्रकृति रविकृतिः' कहकर जो मूल प्रकृति रूप त्रैगुण्यभाव पृथक् व्याख्यात हुआ है, वह पृथक् विचार दृष्टि में कहीं उपलब्ध न होकर इन महान् आदि में अन्तर्भूत होता हुआ ही वह माना जा सकता है। अतः वह शास्त्र वचन मूल प्रकृति का स्वरूप कथन मात्र है, पृथक् उपलब्धि में तात्पर्य नहीं है। अतः जिन मूल गुणों का आधार पाकर महान्, अहङ्कार और मात्रा इन तीनों का विकास हुआ है उस मूल प्रकृति को सांख्य में अभोग्या ही कहा गया है—उस मूल रूप में विकार नहीं होता।

[1]परस्य शक्तिर्महदुच्यते महानसौ गृहीत्वा परतः परं रसम् ।
स्वरूपसर्गाद् द्विविधः स उद्भवत्यात्माऽक्षरः शक्तिरहङ्कृतिस्तथा ।।२२।।

अथाक्षरस्यापि च शक्तिरिष्यतेऽहङ्कारनामा रसमक्षरादसौ ।
प्राप्य स्वरूपेण मिलन् क्षरात्मना तच्छक्तिरूपेण च जायते पृथक् ।।२३।।

परस्य शक्त्येत्थमुदेति सोऽक्षरोऽक्षरस्य शक्तिश्च पृथक् स्वरूपगा ।
तथाऽक्षरस्यापि च शक्तितः क्षरः क्षरस्य शक्तिश्च पृथक् प्रजायते ।।२४।।

[2]परस्य वाक्प्राणमनांसि चात्मनो रूपाणि सन्त्येकबलानि तेन च ।
परोऽयमात्मा त्रिपुटी त्रिकोशवान् त्रिखण्ड एवं त्रिबलश्च कथ्यते ।।२५।।

तथैव चैतन्महतस्त्रयो गुणा भवन्त्यमी सत्त्वरजस्तमोऽभिधाः ।
यतो विभिन्नैकबलास्ततो महानयं त्रिकोशस्त्रिबलश्च भाव्यते ।।२६।।

महत्यमुष्मिंस्त्रिबले परात्मनो रसस्य सर्गात् त्रिबलस्य योऽक्षरः ।
प्रवर्तते तस्य च तानि षड्बलान्येवात्मरूपाणि पृथग् भवन्ति हि ।।२७।।

तेनायमष्टादशखण्ड इष्यतेऽक्षरः स्वरूपानुगतात्मभिस्त्रिभिः ।
अहंकृतिश्चाक्षरवद्धि षड्बलैरष्टादशांशा स्वगुणैस्त्रिभिर्मता ।।२८।।

अहंकृतोऽष्टादशखण्डवत्यथाऽक्षरस्य चाष्टादशखण्डशालिनः ।
सर्गेण रूपाणि भवन्ति चात्मनः षट्त्रिंशदंशानि पृथक् ततः क्षरः ।।२९।।

षट्त्रिंशदंशैस्त्रिभिरात्मभिः कृतः क्षरोऽयमात्माऽष्टशतेन खण्डवान् ।
मात्रापि तद्वत् त्रिभिरात्मनो गुणैः कृता सखण्डाष्टशतेन जायते ।।३०।।

[3]क्षरस्य तावन्मितिशालिनो रसः संसृज्य तावन्मितमात्रया पुनः ।
यद्रूपमुत्पादयतीह तज्जगद्भूवेदणुस्कन्धविशिष्टरूपवत् ।।३१।।

महान् आदि उक्त तीनों शक्ति रूपों का त्रिपुरुष सम्बन्ध—पर नामक अव्यय पुरुष की शक्ति 'महान्' नाम की है। यह महान्-शक्ति अव्यय पुरुष से उस मूल रस को पाकर अर्थात् सचेतन होकर स्वरूप संसर्ग से तद्वत् होती हुई दो रूपों में आविर्भूत होती है। अक्षर पुरुष रूप में—जो सम्पूर्ण विश्व का आत्मा बनता है—तथा अहङ्कार रूप योषा शक्ति रूप में जो विश्व योनि है ।।२२।।

१. तीन पुरुषों का तीन शक्तियों से क्रमशः सम्बन्ध होने पर पुरुष से रस ग्रहण करके आगे वह शक्ति पुरुष और प्रकृति के रूप से ही क्रमशः उत्पत्ति करती है यह स्पष्ट किया जा रहा है। पर शब्द अव्यय का वाचक है।

तदनन्तर—अक्षर पुरुष सम्बद्ध अहंकार रूपा शक्ति अक्षर पुरुष से रस ग्रहण करके तत् स्वरूप होती हुई क्षर पुरुष आत्मा को प्रकट करती है और स्वयं उसकी शक्ति के रूप में पृथक् प्रकट होती है—इस प्रकार क्षर तथा मात्रा शक्ति का उदय होता है ।।२३।।

इस प्रकार पर पुरुष की शक्ति से अक्षर पुरुष का उदय होता है और अक्षर की शक्ति पृथक् रूप धारण कर लेती है, वैसे ही अक्षर पुरुष की शक्ति से क्षर पुरुष का उदय होता है और क्षर की शक्ति पृथक् प्रकट होती है ।।२४।।

पर पुरुष (अव्यय) के वाक्, प्राण, मन आत्मा के अर्थात् स्वयं के रूप हैं– उसकी कला हैं । वे परस्पर अविनाभाव के कारण एक बल रूप ही हैं । इन तीनों से पुटित होने से सर्वात्मा यह पर पुरुष त्रिपुटी पुरुष कहा जाता है, एवं च किसी कोश के समान ये वाक् आदि एक दूसरे में निहित रहते हैं अतः त्रिकोश वाला भी पर पुरुष कहलाता है, कला रूप से इन वाक् आदि के खण्ड मानने पर यह त्रिखण्ड भी माना जाता है । इस ही तरह वाक् आदि तीन शुद्ध बल विशिष्ट होने से यही अव्यय पुरुष त्रिबल भी कहा जाता है ।।२५।।

२. पच्चीसवें पद्य से इकतीसवें पद्य तक की टीका ३१वें पद्य में की जायगी ।

इस ही प्रकार महान् नाम की शक्ति के ये सत्व, रज, तम नाम के गुण होते हैं, ये विभिन्न होते हुए भी सदा अविनाभाव से एकत्र रहते हुए एक बल रहते हैं, इन तीनों से विशिष्ट यह महान् भी त्रिकोश और त्रिबल कहा जाता है ।।२६।।

इस त्रिबल रूप महत् तत्व में, वाक् आदि त्रिबल विशिष्ट अव्यय पुरुष के रस संसर्ग से जो अक्षर पुरुष प्रकट होता है—उसके मातृ पितृ स्थानीय महान् और अव्यय माने जायेंगे, उन दोनों के वे ६ बल जो उनके आत्मारूपेण अंशभूत थे वे पृथक् होकर अक्षर में आ जाते हैं—फलतः अव्यय त्रिबल था तो अक्षर षड्बल हो जाता है ।।२७।।

अव्यय सम्बन्धी वाक् प्राण और मन अक्षर में पूर्वानुगत स्वरूपतः होते हैं, अब इन छहों का प्रत्येक से सम्बन्ध होने से वे तीन षड्गुणित होकर १८ हो गये—इससे यह अक्षर पुरुष १८ खण्डों वाला माना जाता है । इस ही प्रकार अहंकार रूप शक्ति भाव भी अक्षर के समान १८ अंशों वाला हो गया । अहंकृति में भी स्वाभाविक वे तीनों गुण अनुगत हैं, उन तीन का छह से योग प्रत्येक का होने पर छह गुना होकर १८ अंश हो जाते हैं ।।२८।।

उक्त प्रकार से शक्ति रूप अहंकार के १८ अंश और अक्षर पुरुष के १८ अंश सिद्ध हुए । इनसे आगे की सर्ग प्रवृत्ति में जो क्षर आत्मा का प्राकट्य हुआ उसमें अक्षर से पृथक् होकर छत्तीस बलांश आये—इस तरह यह क्षर पुरुष ३६ अंशों से युक्त हुआ ।।२९।।

स्वाभाविक वे तीनों अंश इस क्षर में भी पूर्वानुगत होते हैं—उन तीनों में प्रत्येक का ३६ से योग होने से गुणित होकर यह क्षर पुरुष १०८ अंशों वाला बन जाता है । क्षर पुरुष की योषा भाव में स्थित मात्रा शक्ति भी अपने स्वाभाविक तीन गुणों युक्त होती हुई ३६ से गुणित होकर १०८ खण्डवाली हो जाती है ।।३०।।

माया सीमा में घिरे हुए क्षर पुरुष का जब योषा रूप मात्रा शक्ति से रस संसर्ग होता है उससे समुत्पन्न रूप ही जगत् कहलाता है—अनन्त अणुओं का स्कन्ध एक विशिष्ट रूप वाला बन जाता है ।।३१।।

३. २५वें पद्य से ३१वें पद्य तक का आशय सम्मिलित रूप से यहां स्पष्ट किया जाता है—अव्यय पुरुष को पर पुरुष कहा जाता है, उसके स्वरूप में मन, प्राण, वाक् नाम के तीन अंश अन्तर्भूत रहते हैं, वे शुद्ध बल के सम्बन्ध से प्रादुर्भूत होते हैं—इसलिये एक एक बल से युक्त ही होते हैं। इससे पर आत्मा—अव्यय पुरुष त्रिपुटी रूप-मन-प्राण-वाक् इन तीन पुटों से युक्त होता है, यह तात्पर्य है। उन ही तीन कोशों से यह त्रिकोश वाला माना जाता है। वाक् प्राण में सन्निविष्ट रहती है, प्राण मन में और मन विशिष्ट परात्पर में इस तरह परस्पर एक दूसरे के आश्रित रहने से ये कोश भी कहे जाते हैं—खड्ग कोश (म्यान) की तरह, अथवा अनाज रखने के कोश की तरह। इन तीनों खण्ड रूप मानने पर अव्यय को त्रिखण्ड भी कहते हैं, तीनों में तीन शुद्ध बल रहते हैं अतः उसे त्रिबल भी कहा जाता है। इस ही प्रकार अव्यय के शक्ति रूप महत् तत्व में भी सत्व, रज, तम तीन गुण रहते हैं—अतः वह त्रिगुण है। वे गुण भिन्न-भिन्न एक-एक बल रूप ही हैं, वे भी एक-दूसरे में सन्निविष्ट हैं तमोगुण रजोगुण में, रजोगुण सत्व में और सत्वगुण शुद्धबल में इस तरह आधार आधेय भाव से विचार करने पर कोश रूपता से महान् रूपा शक्ति भी त्रिकोशा हो जाती है। त्रिबलता तो स्पष्ट कही ही गई है। आगे मन-प्राण-वाक् में एकत्रित तीन बलों से विशिष्ट इस त्रिबल अव्यय पुरुष का सत्व-रज-तम रूप तीन बलों से युक्त महत् तत्व से सर्ग अर्थात् संसर्ग होने पर जो अक्षर पुरुष प्रादुर्भूत होता है; उसमें पुरुष भाव के तीन बल और महान् के तीन बल, इस तरह छह बल तो मानो माता पिताओं से जनित स्वरूपान्तर्गत होते हैं—इसलिये अक्षर षड्बल तो स्वभाव से होता है। उसके निज रूप में भी मन-प्राण-वाक् प्रविष्ट रहते ही हैं। उनमें प्रत्येक का उन छहों बलों से सम्पर्क होने पर षड्गुणित होकर अक्षर १८ खण्ड वाला कहा जाता है। ६ बल मन में, ६ प्राण में और ६ वाक् में इस तरह १८ स्पष्ट हैं। इस ही प्रकार अक्षर की शक्ति रूप अहंकृति (अहंकार) भी मातृ पितृ जनित छहों बलों से युक्त होकर षड्बला होती है, वहां भी सत्वगुण में ६, रज में ६ और तम में ६ इस तरह वह शक्ति भी १८ बल वाली हो जाती है। उनसे उसके भी १८ खण्ड हो जाते हैं। यहाँ २६वें पद्य में छन्द के अनुरोध से अहंकृति इस शब्द के स्थान में क्विप् प्रत्ययान्त 'अहंकृत्' शब्द ग्रन्थ में निविष्ट हुआ है। आगे १८ बल संयुक्ता अहंकृति रूपिणी शक्ति का जब १८ बल विशिष्ट अक्षर पुरुष से संसर्ग होता है तब क्षर पुरुष प्रादुर्भूत होता है—वह मातृ पितृ जनित निज स्वरूपान्तर्गत ३६ बलों का स्वामी होता है। क्षर पुरुष में भी मन, प्राण, वाक् का समन्वय रहता ही है। उन तीनों में प्रत्येक के ३६ अंश विशिष्ट हो जाने पर यह क्षर पुरुष १०८ बल विशिष्ट हो जाता है। वैसे ही तन्मात्रा नाम की क्षर की शक्ति भी १०८ बल विशिष्टा हो जाती है। ये इतने बलों से युक्त क्षर पुरुष जब इतनी ही बल विशिष्टा अपनी शक्ति से संसर्ग करके जिस रूप को उत्पन्न करती है—वह ही अणुओं के स्कन्ध रूप से जगत् कहलाता है। यहां भी क्षर पुरुष से रस ग्रहण किया जाता है—मात्रा उसमें बल का आधान करती है। इससे यह सूचित किया गया कि इतने सारे बलों के परस्पर ग्रथन से ही स्थूलता का प्रादुर्भाव होता है। ये विषय पहले मूल में आत्माधिकरण प्रकरण के अन्त में २७१-२७२ श्लोक में कहा गया था, उन श्लोकों का अर्थ यहां सुस्पष्ट हो सकेगा इसलिये वहां हमने व्याख्या नहीं की थी यहां की कथित रीति से उनके अर्थ का अनुसन्धान कर लेना चाहिये।

(२६) ¹मतभेदाधिकरणम्

अथाहुरात्मेव च शक्तिरेषा चतुष्पदी तत्र च मूलशक्तिः ।
अव्यक्तरूपा प्रथमोऽस्ति पादस्त्रयोऽन्यपादा महदादयः स्युः ।।३२।।

१. जिस मत का प्रतिपादन किया गया, उसमें महान्, अहंकार और मात्रा ये तीन ही शक्ति रूप बताये गए हैं—उन शक्तियों का कोई मूल रूप अन्य नहीं बताया गया । इस मतभेद में तो यह दिखाया जा रहा है कि—जैसे अव्यय-अक्षर और क्षर पुरुषों की पूर्व मूल अवस्था परात्पर पद द्वारा पुरुषाधिकरण में प्रतिपादित हुई है—उससे आत्मा चतुष्पाद कहा जाता है । वैसे ही महान् आदि तीनों शक्तियों की भी पूर्व मूल अवस्था अव्यक्त नाम से व्यवहार में गणनीय है । उससे शक्ति के भी चार पाद हो जाते हैं । अव्यक्त अवस्था अवश्य स्वीकरणीय है यह ही इस अधिकरण में प्रतिपादन किया जा रहा है ।

चतुष्पाद आत्मा के समान योषा शक्ति भी चतुष्पदी है—उनमें महान् आदि की मूल शक्ति अव्यक्त रूपा है, यह अव्यक्त ही शक्ति का प्रथम पाद है, अन्य तीन चरण महान् आदि हैं । यह ही विद्वानों का कथन है ।।३२।।

अव्यक्तमस्तीह¹ रसे बलं ध्रुवं न चेत् किमेतेन रसेन युज्यते ।
किं व्यक्तिमायाति परत्र का पुनः शक्तिः स्वभावः प्रकृतिश्च जायते ।।३३।।

²अव्यक्तमेकं बलमिष्यते रसप्रयुक्तमेतत् परतस्त्रिधा भवेत् ।
न चादितस्तत् त्रिविधं पृथक्कृतं स्यान्निर्विशेषे तु रसे प्रसुप्तितः ।।३४।।

³युगानि दिव्यानि सहस्रसंख्यया ब्राह्मं भवेत् पुण्यमहस्तथैव ।
रात्रिः सहस्रेण मिता युगानामहस्तु सृष्टिः प्रलयश्च रात्रिः ।।३५।।

अव्यक्ततो व्यक्तय उद्भवन्ति चाहरागमे ताश्च निशागमे पुनः ।
तत्रापि यन्तीत्यवशोऽन्हि संभवो विश्वस्य नाशो निशि चावशो भवेत् ।।३६।।

अव्यक्तमेव प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं तज्जगतोऽस्य बीजम् ।
व्यक्तं भवद् विश्वमिदं प्रतीयादव्यक्तमेतस्य परा गतिः स्यात् ।।३७।।

⁴अव्यक्तरूपादिदमक्षरात्स्यात्सर्वं च तत्रैव लयं प्रयाति ।
क्षेत्रज्ञ आत्मा भवतीह देही शरीरभेदादिह भिद्यते यः ।।३८।।

रस की मूल अवस्था में भी अव्यक्त नाम के बल की स्थिति निश्चित रूप से माननी ही होगी, यदि ऐसा न होवे तो रस से योग ही किसका होगा, तब तो बल के बिना स्पष्ट व्यक्त भाव में प्रादुर्भाव किसका होगा—आगे कौन शक्ति, स्वभाव वा प्रकृति रूप में प्रकट हो सकेगा । अतः मूल अव्यक्त की रस सहकार स्थिति माननी हो होगी ।।३३।।

१. रस में शक्ति विकास होने से पहले ही अव्यक्त बल की स्थिति रहती है—यह स्वीकार करना होगा । यदि मूल अवस्था में मूल बल नहीं होवे, तो रस के साथ योग किसका हो । और बल संसर्ग के बिना आत्मा रूप पुरुष का प्रादुर्भाव भी कैसे सम्भव हो सकता है । शक्ति, स्वभाव,

प्रकृति नामों से कही जाने वाली शक्ति भी कहां से प्रादुर्भाव पा सकती है ? क्योंकि मूल बल की स्थिति के बिना किसी का भी प्रादुर्भाव सम्भव ही नहीं है ।

अव्यक्त मूल बल रस से संयुक्त रहता है—वह ही सर्वात्मा से रस पाकर त्रिविध हो जाता है । यदि यह कहा जाय कि रस के द्वारा सबसे प्रथम ही बल त्रिविध अवस्था में ही उत्पन्न होता है, तो यह मान्यता समुचित नहीं है—क्योंकि रस तो स्वयं निर्विशेष है—वह त्रिविध रूप विशेषता लाने में साधन नहीं बन सकता—अतः प्रसुप्त अवस्था में अव्यक्त रूप बल की स्थिति रस में रहती है—पुरुष सम्बन्ध पाकर आगे त्रिविध विकास उस अव्यक्त बल का ही होता है ।।३४।।

२. उन्मुग्ध अवस्था प्रसुप्त अवस्था है अर्थात् अव्यक्त बल की रस सान्निध्य में स्थिति मात्र है—वह सचेष्ट नहीं है । यदि उन्मुग्ध अवस्था रूप इस अव्यक्त बल की पहले से न मानी जाय तो प्रथम अवस्था में ही बल सत्व, रज, तम रूप तीन विभागों में विकसित कैसे हो सकता है ? जो अव्याकृत अर्थात् अस्पष्ट हो उसका व्याकरण-स्पष्टीकरण अनेक प्रकार से हुआ करता है । कोई बल यदि अव्यक्त-अव्याकृत-अस्पष्ट अवस्था में मूल में है ही नहीं तो विकास रूप व्याकरण किसका होगा ? पुरुष सम्बन्ध से ही बल त्रिविध हो जाता है, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता—क्योंकि पुरुष तो स्वयं निर्विशेष है—वह विशेषाधान में हेतु नहीं बन सकता । इस कारण समुचित मन्तव्य यह ही है कि निर्विशेष सर्वात्मा में बल प्रसुप्त अवस्था में रहता है और वह ही पुरुष की सामीप्य रूप प्रेरणा से जागकर अव्यय पुरुष के अवयव भूत मन, प्राण, वाक् से सम्बद्ध होकर स्वयं भी त्रिविध होकर सत्व-रज-तम-रूप हो जाता है ।

सब शास्त्र मानते हैं कि—एक हजार संख्या के देवताओं की गणना के दिव्य युग का काल ब्रह्मा का पुण्यमय दिवस काल होता है और एक सहस्र दिव्य गुणों की ही रात्रि होती है । उसमें दिवस काल सृष्टि काल होता है और रात्रि प्रलय काल ।।३५।।

३. भगवद् गीता में भी अव्यक्त से ही सृष्टि बताई गई है—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्र विदो जनाः ।। अ० ८–१७
अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ।। ८–१८ इत्यादि

इससे आगे के श्लोक का अर्थानुवाद करते हुए ग्रन्थकार ने पद्य कहा है—मूल है—

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।। ८।१६।

ब्रह्मा के दिवस काल में अव्यक्त बल से ही व्यक्त बलों का उद्भव हुआ करता है और निशा काल में वे सारे व्यक्त भाव अव्यक्त में ही समाविष्ट हो जाते हैं—इस नियत प्रक्रिया से ब्रह्मा के दिवस काल में सृष्टि का चालू हो जाना—उत्पत्ति क्रम का विकास होना,

यह अवश—अपरिवर्तनीय—अवश्यम्भावी व्यवस्था है। वैसे ही रात्रि काल में उसमें लीन हो जाना भी लाचारी है॥३६॥

अव्यक्त से जगत् की उत्पत्ति होती है—उसके आधार पर पोषित होती हुई सृष्टि टिकी रहती है, अव्यक्त ही सर्वाधार जगत् का बीज है। अव्यक्त में से ही व्यक्तभाव में विश्व की प्रतीति होती है—अव्यक्त ही विश्व की अन्तिम गति है॥३७॥

अक्षर पुरुष स्वयं अव्यक्त है—उस अव्यक्त अक्षर से ये सारा व्यक्त विश्व उद्भूत होता है—फिर उसमें ही विश्वका लय हो जाता है। वह अक्षर ही क्षेत्रज्ञ, आत्मा, देही इन नामों से कहा जाता है—शरीर भेद से अक्षर में उक्त नामों का भेद होता है॥३८॥

४. इस प्रकार अव्यक्त से ही जगत् की उत्पत्ति और अव्यक्त में ही जगत् का लय बताया गया—इससे अव्यक्त ही जगत् की परागति (सेतु) बताया गया है। अन्य आचार्यों का तो यह भी कथन है कि अव्यक्त पद से अक्षर पुरुष ही कहा जाता है। भगवद् गीता में भी कहा है–'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तामाहुः परमांगतिम्' (८।२१) अक्षर ही प्रकट भाव में न रहने के कारण अव्यक्त पद से कहा जाता है। उससे सब कुछ उत्पन्न होता है और उसमें ही लीन हो जाता है। वह अक्षर ही क्षेत्रज्ञ, आत्मा, देही इन नामों से कहा जाता है। यद्यपि वह एक ही है—तो भी शरीरों के भेद से भिन्नवत् प्रतीत होने लगता है।

[1]पुनः समाजे विदुषां त्रिधाऽभवंस्तर्कक्रमे विप्रतिपत्तयः पुरा।
आस्ते बलं नास्ति रसोऽथवा बलं बीजं न बीजं तु रसो रसोऽथवा॥३९॥

व्यक्तिं यदव्यक्तमुपैति तस्मादाभाति विश्वं ह्यचरं चरं च।
[2]देही च नात्मा पृथगस्ति तस्मादव्यक्ततोऽन्यः सुगता वदन्ति॥४०॥

[3]अव्यक्ततोऽन्यः पुरुषः स आत्मा पृथग्विधोऽस्त्यक्रियानिर्विकारः।
सचेतनोऽव्यक्तजडस्थितः सन् भोक्ता न कर्ता कपिलोक्तिरेषा॥४१॥

उक्तं यदव्यक्तमिदं तदेकं स्वतन्त्रमेतज्जनयत्यशेषम्।
नापेक्षते स्वात्मरसं विसृष्टावसंगिनं कापिलदृष्टिरेषा॥४२॥

यः [4]प्रत्ययो या प्रकृतिस्तदेतौ भिन्नौ भवेतां हि पृथक्स्वभावौ।
यतोऽस्य सत्ता प्रकृतिर्मता सा स प्रत्ययो येन तु भातिरस्य॥४३॥

[5]क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषो मतस्तैरव्यक्तरूपा प्रकृतिर्हि यस्य।
परोऽक्षरो वा न च दृश्यते तैरव्यक्तमेवाक्षरसंज्ञमाहुः॥४४॥

बहुत समय पहले विद्वानों में सृष्टि उत्पत्ति के विषय में तार्किक क्रम से तीन मत भेद देखे जाते हैं। बल रूपा माया ही मुख्य है—रस की बल से पृथक् कोई सत्ता ही नहीं है यह एक मत है। दूसरों के विचार में संसार का बीज केवल बल है—रस बीज रूप से कारण नहीं है। तीसरे सिद्धान्त पक्ष में रस ही मुख्य कारण है॥३९॥

१. इस प्रकार तीन मत प्रवृत्त हुए यह आरम्भ में पहले कहा जा चुका है—उसका फिर स्मरण कराया जा रहा है—इस विषय में प्राचीन काल में विद्वानों के समाज में जब तर्क विचार प्रवृत्त

हुआ तब तीन मत परस्पर असंगत उपस्थित हुए। बल ही केवल सारे जगत् के रूप में स्थिति पा रहा है— रस नाम की कोई वस्तु बल से पृथक् नहीं है— यह एक विप्रत्तिपत्ति सौगत नाम से कहे जाने वाले बौद्धों की रही। अथवा दूसरा विचार सांख्य का आया कि बल बीज रूप से जगत् का कारण है, रस बीज रूपेण कारण नहीं है— वह केवल साक्षि है, यह दूसरी विप्रत्तिपत्ति आई। यह कपिलोक्त सांख्यवादियों का मत है। अथवा तीसरी प्रतिपत्ति बताते हुए कृष्णद्वैपायन आदि वेदान्त के आचार्य मानते हैं कि रस ही सबका बीज रूप कारण है। ये ही सारे भिन्न भिन्न मत इस मतभेद अधिकरण में विस्तार से निरूपित किये जा रहे हैं।

सुगत नाम से कहे जाने वाले बौद्ध कहते हैं कि—अव्यक्त बल ही व्यक्त भाव में आता है - उससे ही यह चराचर विश्व भासित होने लगता है, उस अव्यक्त से पृथक् देहाभिमानी आत्मा कोई नहीं है ।।४०।।

२. उस अव्यक्त से, अन्य देही—आत्मा कोई नहीं है, अव्यक्त बल ही स्वसंतान क्रम से प्रवाही होता हुआ भ्रमवश नित्य आत्मा रूप से भासित होने लगता है। यह कथन सुगत बुद्ध आदि का है।

कपिलोक्त सांख्य का मत है कि अव्यक्त के अतिरिक्त आत्मा की पृथक् सत्ता तो है किन्तु वह आत्मा निष्क्रिय एवं निर्विकार है, यद्यपि वह सचेतन है तथापि क्रिया शून्य होने से वह सृष्टि कर्त्ता नहीं है, वह जड़ भूत अव्यक्त में प्रतिबिम्बित होता हुआ भोक्ता बनता है साक्षात् कर्तृत्व आत्मा में नहीं है ।।४१।।

३. अव्यक्त रूपा प्रकृति से भिन्न पुरुष नाम से कहा जाने वाला आत्मा है और वह सचेतन भी है, परन्तु वह निर्विकार और क्रिया शून्य है—अतः कर्त्ता नहीं है, वह तो जड़भूत अव्यक्त में प्रतिबिम्ब रूप से स्थित रहता हुआ ही भोक्ता होता है—स्वतन्त्र रूप से भोक्ता नहीं है। यह सांख्यकर्त्ता कपिल का कथन है। अग्रिम पद्य में इसका ही स्पष्ट विवरण है।

अव्यक्त नाम का जो यह तत्व कहा गया है—वह अकेला ही इस सारे विश्व को उत्पन्न करता है। वह जगत् की सृष्टि के लिये आत्मा से रस ग्रहण की अपेक्षा नहीं करता, क्योंकि रस रूप आत्मा तो सर्वथा असंग (निर्लेप) है—वह तो किसी से सम्बद्ध नहीं होता। कपिल के अनुयायी इस दृष्टि से विचार करते हैं ।।४२।।

जैसे व्याकरण शास्त्र में शब्द के अर्थ को बताने वाला प्रत्यय और शब्द की मूल प्रकृति ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं और स्वभाव भी इनके भिन्न हैं। जिसके द्वारा स्वरूप सत्ता शब्द की बनती है वह प्रकृति है—और प्रत्यय वह है जिससे उसका अर्थ रूप भान होता है। इस व्याकरण नियम के समान सांख्य में भी सर्वथा भिन्न स्वभाव वाले प्रकृति प्रत्यय हैं, एक सत्ता रूप अन्य ज्ञान रूप ।।४३।।

४. कपिल के मत का ही विवरण करते हैं—जैसे वैयाकरणों के शास्त्र में प्रकृति और प्रत्यय भिन्न होते हैं, वैसे ही यहाँ कपिल प्रणीत सांख्य में भी प्रकृति और प्रत्यय पृथक्-पृथक् स्वभाव के सर्वथा भिन्न हैं। उनमें—इस दृश्यमान जगत् की जिसके कारण सत्ता बन रही है, अर्थात् जो तत्व कारण बनकर सत्ता रूप से सर्वत्र प्रविष्ट हो रहा है—वह प्रकृति है। प्रत्यय शब्द तो

ज्ञान के अर्थ में प्रसिद्ध है—इससे स्पष्ट यह हुआ कि जगत् में 'भाति' अर्थात् ज्ञान जिससे प्रवृत्त होता है वह चेतन पुरुष है।

कपिल मतानुयायी आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहकर प्रति शरीर में भिन्नत्व मानते हैं और अव्यक्त पद से प्रकृति का ग्रहण करते हैं। उनकी विचार दृष्टि अव्यय और अक्षर तक नहीं जाती, वे अव्यक्त को ही अक्षर नाम दे देते हैं ।।४४।।

५. ये कपिल के अनुयायी क्षेत्रज्ञ रूप में प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न आत्मा मानते हैं, और अव्यक्त पद से प्रकृति का परिचय देते हैं—वह प्रकृति भिन्न-भिन्न पुरुषों से सम्बन्ध बनाती हुई पुरुषों के भेद से भिन्न भाव में भासित होती है। उनके मत में पुरुष पद से केवल क्षर आत्मा ही लिया जाता है। क्षर से भिन्न जिस, पर आत्मा स्वरूप अव्यय पुरुष और अक्षर पुरुष की पहले व्याख्या हुई है—उस पर उनकी विचार दृष्टि गई ही नहीं। अतः वे अव्यक्त को ही अक्षर पद से कहते हैं। यही भगवद् गीता में भी कहा गया है—

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ।। (अ० ७।२४)

[1]क्षेत्रज्ञभिन्नान्पुरुषान्न ते विदुर्भोक्तृनकर्तृनपि तान्प्रचक्षते ।
बीजं यदव्यक्तमिदं तदक्षरं विदुः प्रधानं तु पुमांसमक्षरम् ।।४५।।
[2]परोवरीणंकरसप्रवीणो द्वैपायनः कृष्ण इहान्यथाह ।
प्रधानमव्यक्तमिदं न बीजं बीजं तदव्यक्तमिहाक्षरं यत् ।।४६।।
[3]यदुक्तमव्यक्तममुष्य पुंसः शक्तिस्ततोऽन्योऽपि पृथङ्निरुक्तः ।
अव्यक्तसंज्ञः पुरुषः स आत्मा सनातनो निष्क्रियनिर्विकारः ।।४७।।
सोऽव्यक्त आत्माऽक्षर इत्युदीरितो नश्यत्सु भूतेष्वपि नैष नश्यति ।
परा गतिः सा परमं च धाम तन्निवर्तते प्राप्य न तं क्वचित्पुनः ।।४८।।
[4]अहं त्वहः स्यां क्रमशस्तदों स्यादव्यक्तमोमक्षरमेव गम्यम् ।
ओंकार एव प्रभवः प्रतिष्ठा परायणं सा परमा गतिर्नः ।।४६।।
[5]क्षेत्रज्ञ आत्मा महतो विशेषो योऽन्यः स उक्थान्महतः क्षरात्मा ।
ततोऽस्ति भिन्नः स परोऽक्षरो वाऽक्षरं तमव्यक्ततया समीक्षे ।।५०।।

उक्त मतानुयायी क्षेत्रज्ञ से भिन्न अन्य पुरुष भावों को नहीं जानते हैं। जिनको वे कर्ता न मानते हुए भी भोक्ता पुरुष मानते हैं—वे तो क्षर पुरुष ही हैं। सृष्टि का बीज अव्यक्त को मानते हुए वे अव्यक्त को ही अक्षर समझते हैं। कर्ता भाव प्रधानतया अव्यक्त का मानते हैं और उससे सम्बद्ध पुरुष को अक्षर कहते हैं ।।४५।।

१. अव्यक्त पद से जो अक्षर पुरुष की प्रतीति उनको होती है—इस मान्यता को देखते हुए यह ही कहना होगा कि उसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रज्ञ नाम से कहे जाने वाले अकर्त्ता किन्तु भोक्ता पुरुषों को वे जानते ही नहीं हैं। जिनको अकर्त्ता होते हुए वे भोक्ता मानते हैं तथा कहते हैं—वे तो

वास्तव में क्षर पुरुष ही हैं—क्योंकि अक्षर तो भोक्ता होता ही नहीं यह इस ग्रन्थ में पहले कहा जा चुका है । सबका बीज भूत होने के कारण उनने अव्यक्त को अक्षर नाम दे दिया है । पुरुष को भी अविनाशी होने के कारण अक्षर बता दिया है । इससे यह ही मानना होगा कि जिस वास्तविक अक्षर तत्व का पहले प्रतिपादन किया गया है—उसके वास्तविक-ज्ञान में वे भ्रान्त ही रहे हैं, यह तात्पर्य है ।

स्थूल सूक्ष्म सारे भावों के ज्ञाता, परमयोगी, आत्मज्ञानी कृष्ण द्वैपायन इस विषय में सांख्य मन्तव्य से अन्यथा कहते हैं कि प्रधान नाम से कहा जाने वाला अव्यक्त इस संसार संसार का बीज नहीं है, अपितु अप्रकट अक्षर पुरुष ही वास्तविक बीज है ।।४६।।

२. अब द्वैपायन के मत का विवरण करते है कि – प्रधान को जो अव्यक्त पद से कपिल मतानुयायी बताते हैं—वह जगत् का बीज नहीं है, वास्तविक मूल कारण तो प्रत्यक्ष नहीं दीखने वाला रस प्रधान जो अक्षर है—जिसका अक्षर पुरुष रूप में पहले निर्वचन किया गया है वह ही द्वैपायन के मत से जगत् का बीज है ।

जैसा निरूपण पहले किया गया है, तदनुसार अव्यक्त तो पुरुष की शक्ति है, उस शक्ति का आधार अक्षर पुरुष है, वह क्रिया रहित, निर्विकार नित्य सनातन पुरुष ही सब जगत् का आत्मा है ।।४७।।

३. प्रधान नाम से कहे जाने वाला अव्यक्त तत्व तो पुरुष का शक्ति रूप है । उस शक्ति का आश्रय रस प्रधान जो अक्षर कहा गया है, वह ही आत्मा है, वह यद्यपि निर्विकार है तथापि शक्ति सहकार से वह ही संसार का उत्पादक है, यह पूर्व कथित प्रक्रिया कृष्ण द्वैपायन के मत का अनुसरण करती है । आगे के श्लोक में इसका ही स्पष्टीकरण किया जा रहा है ।

प्रकट रूप में नहीं दीखने वाला वह सर्वात्मा अक्षर पुरुष नाम से कहा गया है, भूत अर्थात् प्राणियों के नाश होते रहने पर भी वह कभी नष्ट नहीं होता, वह ही विश्व की अन्तिम गति है, वह ही सर्वाधार परम धाम है, उसको प्राप्त कर लेने पर प्राणी फिर कभी लोटकर इस मृत्यु लोक में नहीं आता ।।४८।।

ओंकार की प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप दो प्रक्रिया जो पहले कही जा चुकी हैं, उसका ही स्मरण पुनः करा रहे हैं, अक्षर रूप परम धाम में पहुंच जाने पर पुनः यहां लौट कर कभी नहीं आता यह पूर्व कथन, निवृत्ति मार्ग का द्योतक है, उसकी क्रमिक प्रक्रिया बताई जा रही है—प्रवृत्ति में ओम्–अहः–अहम् ये क्रम होता है, अहं भाव सांसारिक अवस्था है, उस अहंभाव का त्याग कर प्रथम अहः रूप काल में परिवर्तन होता है, फिर क्रमशः जहां काल की भी गति नहीं होती उस नित्य सर्वाधार ओम् भाव में परिणति हो जाती है, यह ओम् भाव प्रकट रूप में दिखाई नहीं देता अतः अव्यक्त है—यह ही अक्षर है, यही प्राप्तव्य है । ॐकार ही विश्व का उद्गम स्थान है, वह ही स्थिति भाव रूप प्रतिष्ठा है, वह ही सर्वाधार है, वह ही हम प्राणियों की अन्तिम गति है ।।४९।।

४. यह श्लोक पहले भी आ चुका है—वहां ही इसकी व्याख्या विस्तार से हमने कर दी है, फिर प्रसंग वश यहां ग्रन्थ में उसका निवेश किया गया है । इसकी व्याख्या पूर्व कथित ही अनुसंधेय

है "गीता में इसका स्पष्ट संकेत—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्यहरन् मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमांगतिम् ।। यह किया गया है ।"

क्षेत्रज्ञ नाम से कहा जाने वाला आत्मा तो महत् तत्त्व के साहचर्य से विशिष्ट आत्मा का रूप है । इसके अतिरिक्त उक्थ अर्थात् जगत् का उत्पादक रूप आत्मा भिन्न है, महान् से तो क्षर आत्मा का उदय होता है । इससे भिन्न पर (अव्यय) तथा अक्षर पुरुष हैं । उस अक्षर को ही अव्यक्त रूप से हम मानते हैं ।।५०।।

५. सांख्य में जो पुरुष नाम से स्वीकार किये जाते हैं, वे तो भोक्ता क्षेत्रज्ञ रूप हैं, वे प्रत्येक शरीर में भिन्न-भिन्न हैं, वे महान् नाम की विशेष शक्ति के सहकार से सम्पादित होने से विशिष्ट आत्मा हैं— शुद्ध नहीं, हमारे द्वारा अव्यय, अक्षर, क्षर नाम के जिन तीन पुरुषों की व्याख्या की गई है, वे तो उस भोक्ता क्षेत्रज्ञ से व्यावहारिक दृष्टि में भिन्न हैं, वे समष्टि रूप से उक्थ हैं अर्थात् जगत् के उत्पादक हैं । उस समष्टिभूत अक्षर पुरुष को ही जो अव्यक्त अर्थात् अप्रकट भाव से सर्वत्र प्रविष्ट रहता है, अव्यक्त पद से विचारणीय हम मानते हैं । सांख्यानुयायी भ्रमवश उसे अव्यक्त (प्रधान) नाम से कहते हैं । यह कथनाभिप्राय है ।

[1]क्षेत्रज्ञभिन्ना अपि ये त्रिपूरुषाः परोऽक्षरो वा क्षर इत्ययं महान् ।
भूतात्मवैश्वानरतैजसास्तथा प्राज्ञश्च शारीरक इत्यमीरसाः ।।५१।।

क्षेत्रज्ञ से भिन्न भी रस प्रधान आत्मा हैं, वे अव्यय, अक्षर, क्षर इन तीन पुरुष भावों में तथा महान् आत्मा, भूतात्मा, वैश्वानर आत्मा, तैजस आत्मा, प्राज्ञ आत्मा, शारीरक आत्मा इन नामों से जाने जाते हैं । ये सब रस रूप हैं ।।५१।।

१. व्यावहारिक दृष्टि से विचार करने पर क्षेत्रज्ञ से भिन्न भी, तीन पुरुष आत्मा, उनसे भी अन्य महान्-भूतात्मा, वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा शारीरक आत्मा ये सब रस रूप हैं अर्थात् इनमें रस की प्रधानता रहती है, व्यावहारिक ये आत्मा—रस के ही विकसित रूप है । ग्रन्थकार ने अन्य अनेक ग्रन्थ— पुराण—उत्पत्ति प्रसङ्ग, देवता निवित् आदि में व्यावहारिक आत्मा के १८ भेदों का निरूपण किया है । उन सबका यहां केवल एक पद्य में संकेत कर दिया है । उनका जान लेना आवश्यक है—इसलिये विभिन्न स्थलों में ग्रन्थकार कथित आत्माओं के विस्तार का सार रूप संग्रह हमने अपने पुराण पारिजात नाम के ग्रन्थ में किया है, उसका कुछ अंश यहां दिखाया जाता है । पहले इस ही ग्रन्थ के पुरुष विकास अधिकरण की व्याख्या में अध्यात्म की क्षर कला— पांच बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा, वित्त इन नामों से कही गई हैं । उनमें देवचिति सूक्ष्म शरीर है और भूतचिति स्थूल शरीर है, यह भी वहां कहा गया है । वहा बीजचिति गर्भित देवचिति में अर्थात् कारण शरीर गर्भित सूक्ष्म शरीर में चेतना का आधान करने वाले पांच आत्मा गिने जाते हैं, और भूतचिति रूप स्थूल शरीर में चेतनाधायक नो आत्मा गिने हैं — इस तरह चौदह संख्या हुई, चार ब्रह्म स्वरूप आत्मा जिनकी व्याख्या पहले हो चुकी है—वे परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर रूप हैं । इस तरह शरीर तन्त्र को चलाने वाले ये अठारह व्यावहारिक आत्मा हैं । यद्यपि आत्मा एक ही है और अखण्ड है इसका निरूपण इस ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है—परन्तु वह 'एकमेवाद्वितीयम्' आत्मा न तो कर्त्ता है और न भोक्ता

ही, इस शरीर तन्त्र को चलाने वाला तो माया रूप उपाधि संवलित आत्मा है, उस माया विशिष्ट आत्मा को ही कर्त्ता तथा भोक्ता कहा जाता है, यह निरूपण भी ग्रन्थ में बार-बार किया गया है। उन माया उपाधियों के भेद से ही उक्त अठारह संख्या समझनी चाहिये। अधिदेव रूप आत्मा के ही अंश अध्यात्म और अधिभूत होते हैं, यह भी अन्यत्र कहा गया है। वहां अधिदेव में क्षर कलाओं के रूप से जो पांच मण्डलों की व्याख्या हुई है, उनमें स्वयंभू, परमेष्ठी, सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी ये ईश्वर पक्ष में समष्टि रूप अक्षर पुरुष के आवासरूप भेद हैं, और शान्तात्मा, महान् आत्मा, विज्ञान आत्मा, प्रज्ञान आत्मा, प्राण आत्मा—ये पाँच जीव पक्ष में व्यष्टि रूप अक्षर के आवास भेद हैं। इन आयतन अर्थात् आवास स्थानों में ही अक्षर का स्वरूप ग्रहण किया जा सकता है—इसलिये आवास विशिष्ट आत्मा ही ईश्वर नाम से अथवा जीन नाम से व्यवहार योग्य होता है। समष्टिभूत ईश्वर के अंश ही जीव के आवास रूप से पृथक् पृथक् आत्मा बनते हुए अपने अपने शरीर तन्त्र का संचालन करते हैं। उनमें प्राण रूप आत्मा इन्द्रिय तथा इन्द्रियों का परिचालक शक्ति विशिष्ट चैतन्य रूप होता है। विज्ञान आत्मा बुद्धि विशिष्ट चैतन्य रूप है—वह ही क्षेत्रज्ञ नाम से ख्यात होता है। महान् आत्मा उससे भी पर अर्थात्—सूक्ष्म है—वह परमेष्ठि मण्डल का अंश रूप है, यह ही आकार, प्रकृति (स्वभाव), तथा अहंकार का उत्पादक होता है, यह महत् तत्व विशिष्ट चैतन्य रूप है। शान्त आत्मा स्वयं भू-मण्डल का अंश रूप है—यह सब आत्माओं में सूत्र रूप से अनुस्यूत रहता है, यह अन्तर्यामी रूप है। आत्माओं की यह संस्था रूप परिस्थिति कठोपनिषत् में पूर्णतया ख्यात हुई है—

> इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थो अर्थेभ्यश्च परं मनः।
> मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
> महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
> पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥ (१।३।१०।११)

यहां पदार्थों की इन्द्रियों से जो सूक्ष्म रूपता कही है, उसका विवरण यह है कि, इन्द्रियों के गोलकों अर्थात् आकारों में रहने वाली विशेष शक्तियों द्वारा ग्रहण किये गये रूप, रस आदि सूक्ष्म रूप से शरीर के भीतर प्रविष्ट होकर इन्द्रिय गोलकों में इन्द्रियों को अतिक्रमण करके रहते हैं—इसलिये उनकी इन्द्रियों से परता कही गई है। उससे भी सूक्ष्म भाव में इन्द्रियों के प्रेरक अत्यन्त अणुरूप मन की स्थिति है। उनसे आगे बुद्धि आदि का अपने-अपने नामों से ही सन्निवेश किया गया है। यहां भाष्यकारों ने यद्यपि बुद्धि और महान् आत्मा की व्याख्या व्यष्टि और समष्टि रूप से की है, परन्तु व्यष्टि-समष्टि का यहां कोई प्रसंग ही नहीं है—अतः महान् आत्मा की पृथक् संस्था ही जाननी चाहिये। इस महान् आत्मा का स्पष्टीकरण श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय १४ श्लोक ३-४ में हुआ है—

> मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
> संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
> सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
> तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

यहां स्पष्ट रूप से आकार (मूर्ति) निर्मापक रूप में महान् आत्मा का विवरण हुआ है। प्रत्येक विभिन्न जातीय प्राणियों की जैसी जैसी आकृति नियत होती है—उसकी उत्पत्ति परमेष्ठी के अंश रूप महान् आत्मा द्वारा होती है। "या यस्य प्रकृतिः स्वकर्मजनिता सा किं परित्यज्यते" इत्यादि कवि वाक्यों में जिसका व्यवहार हुआ है--वह अन्तःकरण रूप में भीतर रहने वाली, विशेष रूपिणी, भिन्न-भिन्न प्रत्येक प्राणी में नियत रूप से रहने वाली, स्वभाव नाम से कही जाने वाली—प्रकृति का संपादक भी यह महान् आत्मा ही है। सब आत्माओं में अहंकार रूप से अनुस्यूत (परम्परानुगत सींया हुआ सा) भी यही महान् विराजमान है। इस प्रकार आकृति महान्, प्रकृति महान् तथा अहं-कृति महान् इन तीन संस्थाओं में महान् का विकास होता है, "बुद्धेरात्मा महान् परः" इस श्रुति वचन में इसका ही उपदेश हुआ है। उक्त कठ श्रुति में अहंकार की गणना पृथक् रूप से न करके महान् में ही कथित रूप से अन्तर्भूत कर ली गई है। शान्त आत्मा का निर्देश अव्यक्त पद द्वारा हुआ है—जिसका सूत्रात्मा रूप से ऊपर व्याख्यान हुआ है। ये पांच प्रकार की देव संस्था है यह कहा जाता है।

आगे भूत संस्था का विकास नो प्रकार से होता है—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी नाम के पांच महाभूत प्रसिद्ध हैं। उनमें अनुगत आत्मा का चेतना भाव भूतात्मा नाम से व्यवहृत होता है। ये पंच महाभूत बाहर जिस रूप में दृश्यमान हैं उनमें और शरीर के आकार रूप से जो भूत परिवर्तित हो जाते हैं उनमें विलक्षणता दिखाई देती है। शिला, पत्थर आदि में वैसे विलक्षण विभागों का आविर्भाव नहीं होता, जैसे शरीर में हाथ, पैर आदि रूप में होता विभाग न केवल स्पष्ट होता है अपितु उनमें परस्पर कभी परिवर्तन भी नहीं होता, तदतिरिक्त रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र नाम के धातु एक दूसरे के रूप में परिवर्तित होते हुए पृथक् रूप से आविर्भूत होते हैं, इस विलक्षणता का संपादक भी कोई आत्मा रूप चेतन भाव अवश्य है, वह ही "शरीरात्मा" नाम से व्यवहार में आता है। यह शरीरात्मा ही सब प्रकार चेष्टाओं का अर्थात् कर्म रूप क्रियाओं का आधार है, सब प्रकार के शुभ तथा अशुभ कर्मों का कर्त्ता है। इस शरीरात्मा की ही जागृत, स्वप्न और सुपुप्ति ये तीन अवस्था होती हैं अर्थात् अवस्था त्रय विशिष्ट है ये आत्मा। इस शरीरात्मा का सहचर एक अन्य हंसात्मा है जिसकी व्याख्या 'पुराणोत्पत्ति प्रसङ्ग' ग्रन्थ में श्री गुरुदेव ने इस प्रकार की है कि—

"यह हंसात्मा पार्थिव प्राण और अग्नि प्राण के सम्मेलन से समुत्पन्न अन्न और रस के परिणाम स्वरूप लोम, त्वचा, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र रूप शरीर के धातुओं से कोई संपर्क न करता हुआ भी पंच भूतों से समुत्पन्न किन्तु वायु प्रधान शरीर वाला होता है। यह हंसात्मा हिरण्य मय सूर्य की ज्योति द्वारा विज्ञान युक्त होकर बुद्धि सम्पन्न हो जाता है और नक्षत्र मय चन्द्रमा की ज्योति द्वारा प्रज्ञान युक्त होकर मन सम्पन्न भी हो जाता है, अर्थात् बुद्धि और मन से इसका सम्बन्ध होता है। किन्तु शुभ-अशुभ कर्म जनित संस्कारों से इसका कोई सम्पर्क नहीं होता, अतः इस लोक को छोड़कर यह लोकान्तरों में नहीं जाता। कल्प की समाप्ति पर्यन्त वह इस पृथ्वी लोक में ही पृथ्वी से, ऊपर और चन्द्रमा से नीचे सर्वत्र इच्छानुसार पृथ्वी और चन्द्रमा के बीच में वायुरूप प्राप्त करके जीवित रहता है। कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि कल्प के अन्त में उस हंसात्मा के सब प्रकार के कर्मों के भोग क्षण मात्र में पूर्ण हो जाते हैं। यह हंसात्मा

कभी सोता नहीं है, अपितु शयन करते हुए शरीरात्मा की सब तरह रक्षा करने के लिये सतत् सचेत रहता है। यदि सर्प आदि कोई जहरीला जानवर प्रसुप्त अवस्था में घातक आक्रमण करने आता है तो उस आक्रमण से पूर्व तत्काल पुरुष जाग पड़ता है, यह देखा जाता है। यह जागृति उसके द्वारा ही होती है। इस ही प्रकार रात्रि शयन करने के समय आरम्भ में अमुक समय में जाग पड़ना है—यह सोचकर सोने वाला उस ही समय जाग जाता है, यह सब हंसात्मा द्वारा सम्पादित होता है—यह समझना चाहिये।

इस ही हंसात्मा का विवरण महर्षि मूल श्रुति में दिखा रहे हैं—

> **"स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्यासुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।**
> **शुक्रमादाय पुनरेति स्थानं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः ॥१॥**
> **प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिः कुलायादमृतश्चरित्वा।**
> **स ईयते अमृतो यत्र कामं हिरण्मयः पौरुष एकहंसः ॥२॥**

इस शरीर के अवयव संगठन को कुलाय कहते हैं। उक्त तीनों आत्माओं का वह एक ही कुलाय रहता है। उनमें ये अग्नि का चिति रूप शरीरात्मा जीवन काल में अपने कुलाय से बाहर नहीं जा सकता। और ये हंसात्मा तो मृत्यु लोक सम्बन्धी पंचभूत निर्मित वायु रूप होता है, यह किसी कार्य के लक्ष्य से उस कुलाय से बाहर, बिना किसी शरीराधार के अथवा वायु रूप शरीर द्वारा जाता है और चन्द्रमा से आत्म सम्बन्ध बनाकर अमृतमय हो जाता है, फिर वायु को ही अपनी आधार भूमि बनाकर यथेच्छ विहार करता हुआ अन्य स्थानों से स्वाभिलषित शुक्र रूप बल प्राप्त करके पुनः अपने उस ही कुलाय में अपने पूर्व नियत स्थान में पहुंच जाता है। ये हंसात्मा इस कुलाय (शरीर) से बाहर रहता हुआ भी चन्द्रमा सम्बन्धी सोम मय प्राण सूत्र से बंधा हुआ, अपने इस कुलाय की सदा सावधान रहकर सब ओर से रक्षा करता रहता है, यह शरीर का सर्वथा त्याग कभी नहीं करता, और यह हंसात्मा बहुत बरसों पहले किये हुए कर्म का भी सदा स्मरण रखता है। मृत्यु के अनन्तर पूर्व कुलाय के नष्ट हो जाने पर कोई अनोखा कुलाय बनाकर उसमें प्रविष्ट हो जाता है, कभी प्रत्यक्ष भी होता है, संभाषण भी करता है। जैसा कि महाभारत युद्ध के अनन्तर भगवान् वेद व्यास ने गान्धारी आदि को और पाण्डवों को मृत पुरुषों का दर्शन कराया—यह आश्रम वास पर्व में कहा गया है। यह हंसात्मा मनुष्य के मर जाने के बहुत वर्षों के अनन्तर भी स्मरण करने मात्र से कभी-कभी किसी विशेष बुद्धि योग रूप ज्ञान प्रकार से प्रत्यक्ष आता है और परस्पर संभाषण आदि लौकिक व्यवहारों का निर्वाह करता है। जैसा कि आजकल यत्र-तत्र मण्डलियों में आत्माओं का आवाहन किया जाता है—वहां भी हंसात्माओं का आगमन ही सम्भव होता है। मृत्यु सम्बद्ध चित्य अग्नि से इस शरीर का रूप बनता है। शरीर का संचालक अमृतमय अग्नि तो तीन रूपों से इस शरीर में अनुप्रविष्ट होता है—वे हैं वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। वैश्वानर रूप अमृताग्नि यथा स्थान शरीर के अवयवों का संघटन करता है और उन अवयवों की निज स्थानों में अप्रच्युत रखते हुए रक्षा करता है। यह वैश्वानर शिला, पत्थर आदि अवयवी वर्ग में सर्वसाधारण भाव से सर्वत्र रहता है। दूसरा तैजस आत्मा शरीर की क्रमशः वृद्धि करता है, यह वृक्ष पर्यन्त प्राणियों में जहां-जहां वृद्धि दिखाई देती है वर्तमान रहता है। तीसरा अमृतमय प्राज्ञ-ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख आदि का आधार

बनता है। ये तीनों वैश्वानर आदि आत्मा यज्ञ-आत्मा कहे जाते हैं—इनके द्वारा ही प्रतिक्षण शारीरिक आदान-प्रदान रूप यज्ञ का संपादन होता रहता है। ये तीनों क्रमशः अग्नि, वायु, तथा सूर्य के अंश रूप से वेद में बताये गये हैं। उनमें यह प्राज्ञ पुनः तीन रूपों में विभक्त हो जाता है—वे हैं कर्मात्मा, चिदाभास और चिदात्मा। कर्मात्मा वह है—जिससे प्रेरित होकर यह शरीर शुभ–अशुभ कर्म करता है, और इसको ही मीमांसकों ने उन-उन कर्मों से समुत्पन्न अपूर्व नाम से ख्यात किया है। पुण्य-पाप रूप संस्कार जिसमें समन्वित होते हैं—वह कर्मात्मा है। चिदाभास मुख्य चिन्मय आत्मा का अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब रूप प्रत्येक शरीर में भिन्न रूप से स्थिति पाता हुआ, शरीर में चेतन भाव का आधान करने वाला जीव नाम से विख्यात होता है। इसका विवरण वेदान्त ग्रन्थों में बहुत प्रकार से किया गया है।

उस चिदाभास में प्रतिबिम्ब का आधान करने वाला बिम्ब स्थानीय तो चिदात्मा है, जो ईश्वर का अंश है—सारे प्राणियों में व्याप्त रहने वाला वह एक ही है। वेदान्त वेत्ता इसका ही प्रत्यगात्मा पद से व्यवहार करते हैं।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥

इस कथन के द्वारा श्रीमद्भगवद् गीता में यह चिदात्मा ही प्रतिपादित हुआ है। यह चित्-आत्मा विभूति, श्री, ऊर्क इन तीनों रूपों से विश्व में व्याप्त होता है। ईश्वर द्वारा सृष्टि आरंभ काल में ही ब्रह्म बल, क्षत्र बल, विड्बल, (वैश्यबल) ये तीन प्रकार के बल उत्पन्न किए गए हैं। उनमें ब्रह्मबल विभूति रूप से, क्षत्र बल ऊर्क रूप से और विड्बल श्री रूप से ख्यात होता है। यद्यपि ये तीनों बल सबमें रहते हैं, किन्तु "व्यवहार प्रधानता को मानकर चलता है" इस न्याय से एक-एक बल की प्रधानता मानकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन प्रकार का वर्ण विभाग श्रुति तथा स्मृतियों में प्रसिद्ध हुआ है। इन विभूति, ऊर्क् तथा श्री नाम के बलों का जहां सर्वाधिक उत्कर्ष देखा जाता है—वह व्यक्ति ईश्वर—विभूति अथवा ईश्वर की अवतार कोटि में माना जाता है। यह ही भगवद् गीता में कहा है—

यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्॥ इति (१० अ०)

विभूतिमत् में विभूति शब्द के साथ मतुप् प्रत्यय अतिशयिता (अतिवृद्धि) का द्योतक है, अर्थात् विभूति, ऊर्क और श्री नाम के इन बलों की यद्यपि प्राणिमात्र में व्याप्ति रहती है तथापि सामान्य सीमा से भी बाहर अत्यन्त बढी हुई ईश्वरांश विभूति शक्ति को ईश्वर विभूति अथवा ईश्वरावतार मानना चाहिये—ये तात्पर्य है।

इस प्रकार—शरीरात्मा, हंसात्मा, वैश्वानर, तैजस, कर्मात्मा, चिदाभास, विभूति, ऊर्क और श्री रूप से नो प्रकार के भूतात्मा की व्याख्या की गई। इनमें कर्मात्मा, चिदाभास, विभूति, ऊर्क और श्री ये पांच प्राज्ञ नाम से कहे जाते हैं। उनमें भी विभूति, ऊर्क और श्री ये तीन आत्मा विभाग तो चिदात्मा के हैं। इस प्रकार परात्पर और अव्यय आदि त्रिपुरुष, यों चार प्रकार की ब्रह्म संस्था है। पांच प्रकार की देव संस्था और नो प्रकार की भूत संस्था है, सब मिलाकर आत्मा के १८ विभाग सिद्ध होते हैं। समष्टि रूप में ये ईश्वर के आयतन (आयास) बनते हैं

ग्रौर व्यष्टि रूप में जीव के यह पहले निर्देश किया जा चुका है । ग्रात्मा के ये स्वरूप संक्षेप से मनुस्मृति के बारहवें ग्रध्याय में भगवान मनु ने भी प्रदर्शित किये हैं—

योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते ।
यः करोति तु कर्माणि स भूतात्मोच्यते बुधैः ।।

जीवसंज्ञोऽन्तरात्माऽन्यः सहजः सर्वदेहिनाम् ।
येन वेदयते सर्वं सुखं दुःखञ्च जन्मसु ।।

तावुभौ भूत संपृक्तौ महान् क्षेत्रज्ञ एव च ।
उच्चावचेषु भूतेषु स्थितं तं व्याप्य तिष्ठतः ।।

यहां क्षेत्रज्ञ पद से ब्रह्म परिस्थिति में जिनकी व्याख्या की गई है, वे चार प्रकार के ग्रात्मा ग्रौर उनका ग्रंशभूत चिदात्मा कहा गया है । ग्रौर कर्मात्मा की पाँच विद्या जो भूत संस्था रूप में कही गई हैं, वे भूतात्मा पद से ग्रहण की गई हैं । जीव संज्ञक ग्रन्तरात्मा पद द्वारा चिदाभास का व्याख्यान हुग्रा है । तीसरे श्लोक में महान् पद से पांच प्रकार की देव परिस्थिति शान्त ग्रात्मा ग्रादि का संग्रह किया गया है । शान्तात्मा ग्रादि पाँच ग्रात्माग्रों का ग्रौर परात्पर ग्रादि चार ब्रह्म संस्थाग्रों का भूतात्माग्रों से सम्पर्क कहा गया है । विद्वद्गण इसका समुचित ग्रनुसंधान करें ।

इससे ग्रागे एक श्लोक द्वारा सर्वाधार भूत ग्रव्यय पुरुष की सत्ता, ग्रादि भाव में ग्रवश्य स्वीकार करनी चाहिये, यह स्मरण कराया गया । व्याकरण शास्त्र—कथित प्रकृति—प्रत्यय विभाग का सामंजस्य जो सांख्य की प्रक्रिया में पहले दिखाया गया, उसमें भी वे प्रकृति प्रत्यय परस्पर निरपेक्ष नहीं होते ग्रतः उससे भी ग्रापका मत—बल स्वतन्त्रता रूप सिद्ध नहीं होता, यह एक पद्य द्वारा स्पष्ट रूप से निरूपण किया गया । इस तरह कृष्ण द्वैपायन ग्रादि का सिद्धान्त ही समुचित है—यह दो पद्यों द्वारा प्रदर्शित करके, वहीं वह युक्ति जो प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में ही कही गई थी—उसका स्मरण कराया गया कि—यदि ग्रव्यय पुरुष सत्तारस न देवे तो ग्रसत्—(क्षणिक) स्वभाव वाले बल—ग्रर्थात् कर्म की स्थिति रूप सत्ता ही कैसे सम्भव हो सके । सांख्य मतानुयायियों की क्रिया शक्ति रूपा प्रकृति—जिसे वे मूल कारण रूप मानते हैं, ग्रौर सौगत नाम से कहे जाने वाले बौद्ध भी क्षणिक क्रिया को ही मुख्य कहते हैं । वह क्रिया किसी ग्राधार के बिना स्वरूप धारण नहीं कर सकती—इसलिये उसका ग्राधार नित्य सत्तावान् रस—जिसे सत् कहा जाता है ग्रवश्य मानना चाहिये । यह तात्पर्य है ।

येनाखिलं विश्वमिदं ततं तथा स्थितानि भूतान्यखिलानि यत्र वा ।
परः स ग्रात्मा स परोऽक्षरादपि प्रमाणमेतन्न ततः परं विदुः ।।५२।।

जो एक मूल आत्मा सारे विश्व में व्याप्त हो रहा है, सारा भूतवर्ग जिसके ग्राधार पर स्थिति पा रहा है, पर नाम से ख्यात वह ग्रात्मा ग्रव्यय पुरुष है—वह ग्रक्षर पुरुष से भी पर ग्रर्थात् सूक्ष्म है । सारी सृष्टि का मूलाधार रूप प्रमाण यह ग्रव्यय ही है, इसके अतिरिक्त ग्रन्य सूक्ष्म तत्व ग्रौर कोई नहीं माना जाता ।।५२।।

य: प्रत्ययो या प्रकृतिस्तदेतौ भिन्नौ भवेतामपि नानपेक्षौ ।
न प्रत्ययश्चेदिह युज्यते चेत् ततः स्वरूपं प्रकृतेर्न सिध्येत् ।।५३।।

कृष्णादयो वा कपिलादयो वा यथाहुरेते सुगतादयो वा ।
मतत्रयं तत्र समीक्ष्य मन्मः पश्यन्ति कृष्णादय एव सत्यम् ।।५४।।

न साधु तेषां सुगता विदन्ति न साधु पश्यन्ति च कापिलास्ते ।
परोऽव्ययश्चेन्न रसं प्रदद्यादसत्कथं सद्विधृतं स्फुटं स्यात् ।।५५।।

(३०) प्रकृत्यधिकरणम्

अथास्य यच्छक्तिबलं परात्मनस्त्रिधा [1]चतुर्धाऽस्य निरूपणं मतम् ।
तत्रैकधेहोदितमेव सांप्रतं त्रिधा क्रमादुत्तरतो निरूप्यते ।।५६।।

ज्योतिः प्रतिष्ठाधृतिभिः सभेदं ब्रह्म त्रिधा व्याक्रियते यथेदम् ।
[2]तमोऽशनायाक्रमणप्रभेदं तथैव कर्मापि मतं त्रिधेदम् ।।५७।।

बलं[3] जले हि त्रिपथानुगं भवेदधश्च तिर्यक् च यथोर्ध्वतश्च खे ।
एवं यदत्र त्रिपथानुगं बलं पश्यन्ति तस्मात्प्रवदन्ति तं रसम् ।।५८।।

[4]बलं यदन्तश्चरमस्ति सर्गतस्ततो रसो याति घनात्मतां क्रमात् ।
संवृत्य संवृत्य पृथक् पृथग्भवेद्रूचुस्तदेवावरणाभिधं बलम् ।।५९।।

बलं प्रवाहि प्लवते यतस्ततो रसे प्रवाहोऽयमुदीक्ष्यते जगत् ।
अनाद्यनन्तोऽयमकोष[5]विग्रहस्तच्चाशनायाभिधमुच्यते बलम् ।।६०।।

जो प्रत्यय और प्रकृति भाव बताये गये हैं—वे स्वरूप से भिन्न होते हुए भी परस्पर निरपेक्ष नहीं हैं, अपितु एक दूसरे से इतने सम्बद्ध हैं कि यदि प्रत्यय का योग न हो तो प्रकृति का व्यावहारिक स्वरूप भी नहीं बन पावे ।।५३।।

इस प्रकार कृष्ण द्वैपायन आदि की मान्यता, सांख्य नाम से कही जाने वाली कपिल आदि की मान्यता तथा बौद्धों का क्रियावाद, इन तीनों मतों की समीक्षा करने के अनन्तर हम तो नहीं मानते हैं कि कृष्ण द्वैपायन आदि ही सत्य को पकड़ रहे हैं ।।५४।।

इनमें वास्तविक सचाई को सुगत लोग नहीं जान सके, और कपिल के अनुगामी भी समुचित दर्शन नहीं कर सके—क्योंकि यह तो मानना ही होगा कि पर नाम का अव्यय पुरुष यदि चेतना रस का दान न करे तो असत् स्वरूप वाला—बल वा कर्म सत्तारूप में धारण हो कैसे पा सकता है, अर्थात् कर्म की प्रवाह सत्यता का स्पष्ट दर्शन किसके आधार पर हो सकता है । अतः सर्वाधार अव्यय से चेतना रस पाकर बल-कर्म-शक्ति या प्रकृति सारे विश्व का निर्माण करती है—यह ही सत्य है ।।५५।।

इस पर आत्मा अर्थात् अव्यय पुरुष की जो बल रूपा शक्ति है—वह त्रिविधा है और उन तीनों विधाओं के प्रकार तीन-चार रूप में निरूपित हुए हैं। उनमें सर्वप्रथम एक

त्रिविध भाव सत्व–रज–तम रूप में पहले बताया गया है, अब आगे की क्रमबद्ध त्रिविधता का निरूपण करते हैं ।।५६।।

१. अब अपने लक्ष्यार्थ में प्रकृति आदि शब्दों की योजना बताते हैं । पर आत्मा अव्यय का शक्ति रूप बल त्रिविध होता है, और वह विविधता बल की चार प्रकार से निरूपित होती है यह तात्पर्य है । उनमें एक प्रकार सत्व आदि त्रिरूप से व्याख्यात हुआ है । तीन प्रकारों की व्याख्या आगे की जा रही है ।

जैसे ब्रह्म का विकास ज्योति, प्रतिष्ठा, विधृति इन तीन रूपों में बताया गया है, वैसे ही बल रूप कर्म भी तम, अशनाया और आक्रमण इन तीन भेदों में विभक्त होता है ।।५७।।

२. ज्योति आदि प्रकृष्ट रूपों में जैसे ब्रह्म-रस की त्रिरूपता की व्याख्या हुई है, वैसे ही कर्म रूप बल भी तम, अशनाया, आक्रमण भेद से त्रिविध हो जाता है, अर्थात् सृष्टि प्रक्रिया में बल के ये व्यावहारिक भाव बनते हैं । यह त्रिविधता का दूसरा प्रकार है ।

जैसे बल जल अवस्था में ऊपर, नीचे, तिरछा जाता हुआ त्रिपथगामी होता है । और पहले रस के निरूपण प्रसंग में सरसता रूप समानता से जल सादृश्य रस का कहा गया है । तदनुसार ही इस जल के दृष्टान्त से रस की विवेचना करते हैं कि मूल व्यापक रस में भी ये बल ऊपर, नीचे, तिरछा होकर व्याप्त होता है—वहां भी बल की त्रिविधता रहती है—इस सादृश्य से ब्रह्म को रस नाम दिया जाता है ।।५८।।

३. ग्रन्थ के आरम्भ में संज्ञाधिकरण में रस की सर्जन विषयक प्रवृत्ति का जो हेतु बताया गया है उसका मध्य में यहां पुनः स्मरण करा रहे हैं । यह श्लोक पहले भी आया है । रस शब्द का जल रूप अर्थ लोक प्रसिद्ध है—यहां कथन का तात्पर्य है कि त्रिपथगामी कर्म रस अवस्था में भी देखा जाता है—अतः उसके सादृश्य से ही मूल तत्व भी रस शब्द से कहा गया है ।

तम, अशनाया, आक्रमण बल की इन त्रिविध अवस्थाओं का क्रमशः व्यावहारिक उपयोग बताते हैं—तम और आवरण पर्याय हैं—सर्जन करने के लिए बल जब रस के अन्तर्भूत होकर संचरण करने लगता है तब वह व्यापक रस घन रूप क्रम—क्रमशः होने लगता है, और वह बल क्रमशः उन अनेक घन भावों को बना-बना कर स्वयं पृथक् होता रहता है, उस पृथक् हुए बल की ही संज्ञा आवरण अथवा तम होती है ।।५६।।

४. अब बल की प्रथम अवस्था तम रूपिणी श्लोक में तम के पर्याय आवरण शब्द द्वारा व्याख्या में आई है—संसर्ग होने पर जब बल अन्तश्चर अर्थात् रस में अनुप्रविष्ट हो जाता है, तब रस क्रमशः घन रूप होने लगता है—जैसे तरंगों के भीतर प्रविष्ट हो जाने पर जल में घनता आती है । यह घनता ही रस का अर्थात् ब्रह्म का आवरण है । इस तरह के आवरण कर करके बल पृथक् होता रहता है—अर्थात् निकल पड़ता है । वह पृथक् रूप बल तम नाम से कहा जाने वाला आवरण—सीमा सम्पादक होता है, यह कथन तात्पर्य है ।

अशनाया का विवरण—रस में अनेक बलों का प्रवाह रूप बल प्रवाह क्रम से यत्र तत्र संचरित होता रहता है। यह बलों का प्रवाह ही जगत् रूप से भासित होता है। यह प्रवाह स्वभाषी बल वैदिक परिभाषा में अशनाया नाम से कहा जाता है। सर्वदा रस में संचरण करने वाला यह बल अनादि है और बहुसंख्यक होने से अनन्त भी है। यह अन्य बल को अपने में धारण नहीं करता अतः इसका स्वरूप कोष रूप नहीं होता, अर्थात् प्रत्येक बल अशनाया रूप है ॥६०॥

५. इस पद्य में अशनाया नाम के बल का लक्षण बताया गया है, क्रिया रूप बल संचरण शील होने से अनन्त चेष्टाओं का प्रवाह रूप होता है—जैसे बहते जल में जल की एक-एक बिन्दु को अलग-अलग नहीं देखा जा सकता वह एक ही जल प्रवाह लगता है—वैसे ही अनन्त क्रिया रूप बलों को पृथक्-पृथक् नहीं जाना जा सकता—अतः वह प्रवाह नित्य रूप में मान लिया जाता है। यह प्रवाही बल ही जगत् का उत्पादक होता है, इस बल को अशनाया कहते हैं। अशनाया एक प्रकार की भूख है—जिसके द्वारा बाहरी अपने से अन्य पदार्थ को अपने भीतर ले लिया जाता है। इस अशनाया का विवरण आगे शीघ्र होने वाला है। ये बल कोष रूप नहीं होता—दूसरे किसी बल को अपने में धारण नहीं करता, यह तात्पर्य है।

रसे[1]विवारौपयिकं यतो बलं विवृण्वदन्ते स्वयमेव नश्यति ।
तदुत्क्रमं नाम बलं प्रचक्षते तदित्थमाहुस्त्रिविधं बलक्रमम् ॥६१॥

तमोऽ[2]मृतस्यावरणं तथेच्छाऽमृतेऽशनायाक्रमणं क्रियाऽस्मिन् ।
स्याज्ज्योतिरन्वावरणं विरुद्धं गतिः प्रतिष्ठामनुभूम्नि कामः ॥६२॥

षट्[3]शक्तयस्ताश्च परात्परं परं विभज्यते तच्च पुनर्द्विधा कृतम् ।
रसत्रयं पूरुष एव कथ्यते बलत्रयं तु प्रकृतिर्निरुच्यते ॥६३॥

बलत्रयोत्पादितमर्थजातं रसत्रयेऽस्मिन्पुरुषेऽनुबद्धम् ।
संतानरूपं भवतीह भोगो[4]बलात्स तस्मात्प्रकृतिर्बलं स्यात् ॥६४॥

[5]कृतेस्तु रूपं प्रथमं रसे यत् स्थितं स भावोऽस्ति तदात्मनः स्वः ।
तेनास्य भोक्तुः पुरुषस्य लग्नं बलं तदाहुः प्रकृतिं स्वभावम् ॥६५॥

(३१) बलदशाधिकरणम्

बलं हि मृत्युर्मरणस्वभावं न चैकभावेन सदा स्थितं स्यात् ।
क्षणं क्षणं तत्परिवर्तते यत् ततो विचित्रा जगतः स्थितिः स्यात् ॥६६॥

[6]एकैकखण्डे तु बलस्य भेदात् सुप्ताः प्रबुद्धाः पुनरात्मबद्धाः ।
संतानिता चाथ निरात्मता चेत्येवं दशाः पञ्च भवन्ति नित्याः ॥६७॥

रस को सीमा भाव में विस्तृत करने के उपयोग में आने वाला बल जो सीमा बना-बना कर स्वयं नष्ट हो जाता है—उसे उत् क्रम या आक्रमण नाम से व्यवहार किया जाता है। इस प्रकार बल का क्रम त्रिविध होता है ॥६१॥

१. जिससे रस का सीमाभाव में विस्तार होता है—उस विस्तार का उपाय स्वरूप बल, आक्रमण वा उत्क्रमण नाम से कहा जाता है—यह भाव है।

अमृत रूप रस का आवरण तम है, उस रस में इच्छा रूपा अशनाया होती है, और आक्रमण उसमें क्रिया रूप है। ज्योति आदि भावों में यह आवरण विरोध सहित होता है—अर्थात् आवरण में ज्योति भी अनुगत रहती है, प्रतिष्ठा भाव में गति भी अनुगत है। व्यापक रस में कामना रूप इच्छा अनुगत रहती है ।।६२।।

२. यहां तम आवरण रूप है, अमृतमय रस में अशनाया इच्छा रूप है, आक्रमण क्रिया है। पूर्वोक्त ज्योति, प्रतिष्ठा, विधृति जो मन, प्राण, वाक् रूप बताये गए थे—उनमें ज्योति विरुद्ध आवरण रूप है अर्थात् तम के साथ वहां ज्योति भी अनुगत रहती है, प्रतिष्ठा विरोधिनी गति होती है—वह गति भी प्रतिष्ठा के साथ क्रिया नाम से और आक्रमण नाम से पहले कही गई है। अशनाया रूपा इच्छा तो उस व्यापक अमृतमय रस की सहचारिणी रहती ही है।

ज्योति आदि तीन तथा तम, अशनाया, आक्रमण रूप तीन—ये छह शक्ति बल संमिलित होकर परात् पर निर्विकार पर ब्रह्म को पर अर्थात् अव्यय रूप में विभक्त कर देते हैं, इस तरह ब्रह्म के दो रूप हो जाते हैं। आगे फिर रस के प्रधान भाव में और शक्ति के प्रधान भाव में दो रूप होते हैं। रस की प्रधानता में अव्यय– अक्षर और क्षर पुरुष भाव कहे जाते हैं और बल के तीन भावों को प्रकृति कहा जाता है ।।६३।।

३. ये ज्योति आदि तीन और पहले की तीन ये छह शक्तिरूप, पर नामक अव्यय पुरुष को परात्पर से पृथक् कर देते हैं। परात्पर में ये शक्तिरूप नहीं रहते, पर—अव्यय पुरुष में इनका आविर्भाव हो जाता है—यही परात्पर और अव्यय का भेद है।

विश्व में सारे पदार्थ तीन बल रूपों से उत्पन्न होते हैं—वे तीनों बल रस रूप अर्थात् चेतना रूप तीन पुरुषों से अनुगति भाव से सम्बद्ध रहते हैं, रसानुगत इस बल का सन्तान रूप ये सारा भोग होता है—इस भोग में सर्वत्र बल की ही प्रधानता होती है—अतः बल को ही प्रकृति कहना समुचित है ।।६४।।

४. पूर्व कथित भोग बल हेतुक ही होता है—अतः प्रकृति शब्द का वाच्यार्थ बल ही है, प्राचीन विद्वानों ने भोग के आवास रूप को ही प्रकृति नाम से व्यवहार में लिया है।

रस में कर्म का प्रथम रूप जो रस में ही अव्यक्त भाव से स्थित रहता है—वह रस का स्वभाव अर्थात् निज का भाव—निज की क्रिया कहलाता है—वह रस के निज रूप में अनुगत हो जाता है, उस अव्यक्त क्रिया भाव से ही आगे भोक्ता पुरुष का बल सम्पर्क होता है। ये रसानुगता जो प्रथम कृति है—यह ही प्रकृति कही जाती है। और रस का स्वभाव अर्थात् क्रिया होने से स्वभाव नाम से भी कही जाती है। भाव, भावना, उत्पादना, क्रिया, ये सब क्रिया के पर्याय हैं ।।६५।।

५. कृति अर्थात् क्रिया का प्रथम रूप जो रस में स्थित रहकर—रस का स्व—कहा जाता है—क्योंकि वह रस रूप में अनुगत हो जाता है—घुलमिल जाता है। वह स्वभाव कहा जाता है। और प्रथमा—कृतिः, प्रकति इस व्युत्पत्ति के अनुसार बल को प्रकति नाम से कहा जाता है।

बल मृत्यु रूप है, क्योंकि बल स्वयं मरणशील होता है, यह एक रूप में सदा स्थित नहीं रहता, यह क्षण-क्षण में बदलता रहता है, बल के इस प्रतिक्षण परिवर्तन के कारण ही संसार की विचित्र अवस्थायें होती हैं ॥६६॥

प्रति व्यक्ति रूप में बल का भेद रहता है, ये बल के भेद पांच रूपों में विभक्त होते हैं, इनमें से कोई एक रूप बल में नित्य अवश्य रहता है। ये पांच भेद—सुप्तदशा, जागृतदशा, आत्मा से बंधी हुई दशा, बल सन्तान रूप दशा तथा निरात्मता अर्थात् ज्ञान रहित दशा, रूप में देखे जाते हैं ॥६७॥

६. दृश्यमान जगत के प्रत्येक खण्ड के भेद से भिन्न रूप में बल पांच भागों में विभक्त रहता है। वे पांच अवस्था स्वप्न-जागरण आदि पद्य में गिनाई गई हैं। ये दशा नित्य होती हैं अर्थात् इनमें से कोई एक अवस्था बल में अवश्य रहती है।

बलं प्रसुप्तं रसतो न [1]भिद्यते निर्लक्षणत्वान्न रसोऽवभासते।
प्रसुप्तमव्यक्तपदेन चक्षते बोधे पुनर्व्यक्तमिदं प्रजायते ॥६८॥

[2]अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा च नित्यं रसगन्धवर्जितम्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं प्रधानमेतत्प्रवदन्ति सूरयः ॥६९॥

अव्यक्तमेतत्सकलं बलं यत् प्रबोधमायाति महत् तदुक्तम्।
[3]सा बुद्धिरुद्बोधविशेषहेतोस्तन्मात्रमास्थाय भवन्ति बौद्धाः ॥७०॥

[4]बलप्रबोधः प्रथमः स कम्पो नानाविधं रूपमुदेति कम्पात्।
नोदो गतिश्चाप्यभवत्सकामस्तमस्तथानेकविधं बलं च ॥७१॥

[5]स्वतन्त्रमेकैकमिदं समस्तं समर्थते नैव बलं विसृष्टौ।
विनाश्रयं तस्य बलस्य पञ्चावस्था अपि स्युर्न तथोपपन्नाः ॥७२॥

[6]तस्माद्बलं सर्वविधं समेत्य ग्रन्थी भविष्यद्रसतोऽनुगम्य।
आत्मन्वितामेति विकासयोगाद्रूवेदहंकार इति प्रसिद्धम् ॥७३॥

रस में बल जब प्रसुप्त अवस्था में रहता है—तब बल का रस से भिन्न रूप नहीं रहता और कोई भेद बोधक लक्षण न होने से रस का भास नहीं होता। बल की यह प्रसुप्त अवस्था अव्यक्त पद द्वारा कही जाती है। बल के जाग जाने पर व्यक्त भाव बनता है ॥६८॥

१. रस का लक्षण—विषय बोध को प्रकट करने वाला बल ही होता है, शुद्ध रस तो स्वयं ज्ञान रूप है—वह ज्ञान का विषय नहीं होता। इस कारण बल की सुप्तावस्था में रस, प्रतीति का विषय नहीं बनता, और बल भी अव्यक्त रहता है—अतः उस समय कुछ भी भासित नहीं होता, यह तात्पर्य है। यह ही प्रलय अवस्था होती है।

रस में समाविष्ट बल उस प्रसुप्त अवस्था में, शब्द, रूप, रस, स्पर्श, गन्ध से रहित होता है, वह बल की विकार शून्य नित्य अवस्था है, यह बल स्थिति स्वयं अनाति–अनन्त है, यह महत् तत्व से भी सूक्ष्म ध्रुव भाव है, सांख्य के विद्वान् इसे प्रधान कहते हैं ॥६९॥

२. उस प्रसुप्त रूप बल दशा का ही प्रधान, प्रकृति आदि शब्दों से सूरिजन अर्थात् सांख्य आदि के अनुयायीजन व्यवहार करते हैं। उस अवस्था में बल-शब्द आदि सारे प्रत्यक्ष गुणों से शून्य होता है। महान् से भी यह सूक्ष्म भाव होता है।

प्रसुप्त अवस्था में जिस बल को अव्यक्त कहा गया है—वह ही बल प्रबुद्ध होकर जब जाग जाता है—तब बल के उस प्रबुद्ध भाव को ही महान् कहा गया है, महान् बुद्धि को कहते हैं। ज्ञान तन्तुओं को जगाकर विशेषता का परिचायक यह बुद्धि तत्व ही होता है इस कारण इस बुद्धि मात्र को ही सर्व जगत् का मूल बौद्धमतावलंबी मानते हैं ॥७०॥

३. बल के प्रबोध को ही बुद्धि कहा जाता है। प्रबोध हेतु होने से ही उसका बुद्धि यह नाम है। उस बुद्धि को ही जो जगत् का मूल कारण मानते हैं, उससे भी सूक्ष्म अव्यक्त को अथवा आत्मा को जो नहीं पहचान पाते, वे ही बौद्ध नाम से कहे जाते हैं। बुद्धि के उपासक बौद्ध हैं।

बल के जाग जाने पर सर्वप्रथम कम्पन होता है, उस कम्पन से नाना प्रकार के रूप उदित होते हैं। जैसे नोदन (दूसरे को प्रेरित करना), गति, कामना, तम (अज्ञान—अथवा आवरण) आदि रूपों से अनेक प्रकार बल विस्तार हो जाता है ॥७१॥

४. बल के जागने से कम्पन अर्थात् अवयवों में संचलन होता है। बल के नाना अंश होते हैं, बल सावयव होता है यह पहले बताया गया है। कम्पन ही भय दुःख आदि का हेतु होता है यह व्याख्या भी हो चुकी है। श्लोक में कही गई काम, गति, तम आदि अवस्था भी कम्पन से ही होती हैं, इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार की अन्यान्य अवस्थाएं भी होती हैं। गति भी यहां दो प्रकार की कही गई है। एक नोदन अर्थात् पर-प्रेरणा रूप और दूसरी अवयव संचालन तथा स्थान त्याग रूप।

एक-एक करके अनेक होने वाला यह सारा बल भी परापेक्षी न होकर स्वयं स्वतन्त्र रूप से सृष्टि विस्तार नहीं कर सकता। यह अकेले बल का सामर्थ्य नहीं है। रस का आधार पाये बिना बल की पांच अवस्था नोदन, गति आदि जो प्रत्यक्ष अनुभव व गम्य हैं—ऊपर बताई जा चुकी हैं—वे सब किस आधार पर सिद्ध हो पायेंगी, रसमयी चेतना ही तो इनका आधार है ॥७२॥

५. रस रूप आधार पाये बिना बल का न तो अपना स्वरूप बन पाता है और न ही वो सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है—न ये पांच अवस्था सम्भव हो सकती हैं। आधार के बिना कहां शयन रूप विश्राम ? कहां जागरण ? अतः सर्वाधार रस रूप पुरुष तो मूल में मानना ही होगा।

अहंकार का स्वरूप विवेचन—सब प्रकार का बल जिसमें रस अनुगत रहता है, और इस रसानुगति से ही बलों में ग्रन्थि पड़ती है—बल गन्थियों के समूह का नाम ही तो संसार है। यह बल रस का अनुगामी बनकर स्वयं आत्मा रूप अपने को मानने लगता है और विकसित होकर अहंकार नाम से प्रसिद्ध होता है ॥७३॥

६. रस में अनुगमन करके रस से सत्ता भाव ग्रहण करके ही सब प्रकार का बल परस्पर ग्रन्थि रूप से गुंथ जाने से नया परिणाम पाने योग्य रसमय आत्मा का अवलम्बन करके स्वयं आत्मा रूप

बन जाता है। यह ही आत्मबद्धता रूपा तीसरी अवस्था है । इसका ही बड़ा विकसित रूप अहंकार है।

[1]आत्मन्वि तत् सर्वबलं प्रकुर्वद्रूपं समानादुदितं प्रदेशात् ।
एकत्रभोगं जनयत्यमुष्मिन्नात्मन्यलं कर्म गुणश्च भूत्वा ।।७४।।

[2]महानयं सर्वबलस्तदानीं भवेदहङ्कार इति प्रसिद्धः ।
त्रेधाऽक्षरं तद् व्यपदिश्यतेऽस्मात् तन्मात्र पूर्वाण्यभवन् क्षराणि ।।७५।।

स्याद्वृत्तिसंबन्धवशाद्रसस्थं बलं प्रबुद्धं यदि चेन्महत् तत् ।
बन्धेन योगेन विभूतितोऽहंकारश्च मृत्युः स रसान्वितश्चेत् ।।७६।।

सग्रन्थिकाऽग्रन्थिकभेदतस्ते द्विधा मतायोगविभूतिबन्धाः ।
अग्रन्थिकैस्तै रसगं बलं चेत् ततोऽक्षरं स्यात् क्षरमन्यरूपैः ।।७७।।

[3]प्रतिक्षणोत्पत्तिविनाशनक्रमो यः कर्म संतान इतीर्यते बुधैः ।
एकत्र तत्रात्मनि सोऽक्षरे नवं संस्कारमुत्पाद्य पृथग् विनश्यति ।।७८।।

[4]शैला द्रुमाः पक्षिमृगा मनुष्या ये केचिदन्येऽपि भवन्ति तेषाम् ।
तत्कर्मसन्तानवशेन धारावाहीनिरूपाणि भवन्ति लोके ।।७९।।

[5]एकैकतोऽर्थेषु यदेषु धारावाहीनि रूपाणि पृथग् भवन्ति ।
स कर्मणो ग्रन्थिरनञ्जनेऽस्मिन् रसे समासञ्जनकर्ममूलः ।।८०।।

आत्मा का अनुगामी होकर वह सारा बल अब रूप निर्माण करता हुआ रस के समान स्थान से ही उदित होता है और गुण-कर्म रूप बनकर आत्मा में भोग इच्छा उत्पन्न करता है ।।७४।।

१. आत्मा का सहकार पाकर बल कर्म करने योग्य रूप को पा जाता है, वह शक्ति रूप होता हुआ आत्मा में कर्म रूप तथा क्रमशः गुण रूप होकर भोग उत्पन्न करता है । बल का परिणाम प्रथम शक्ति भाव में तदनन्तर क्रिया रूप में होता है । वे अनेक क्रियायें धारावाहिनी बनकर गुण रूप हो जाती हैं । उन गुणों के सहकार से ही आत्मा का भोक्ता रूप बनता है, यह समझना चाहिये ।

तदानीम्—अर्थात् उस भोग उत्पत्ति काल में वह महान् अर्थात् बुद्धि तत्व प्रसिद्ध अहंकार के रूप में परिणत हो जाता है, "बुद्धि अहंकार मयी हो जाती है यह तात्पर्य है"। अक्षर पुरुष की त्रिविधता का यही हेतु माना जाता है। तदनन्तर पहले भूततन्मात्रा फिर क्षर उत्पन्न हुए हैं ।।७५।।

२. भोग उत्पत्ति काल में महान्-बुद्धि अहंकार रूप में परिवर्तित हो जाती है । भोग सर्वत्र अहंकार पूर्वक ही होता है यह अनुभव सिद्ध है—क्योंकि व्यवहार काल में "मैं जानता हूं" अथवा "मैं सुखी हूं" ऐसा ही कहा जाता है, इस कथन में मैं रूप में कहे जाने वाला अहंकार ही होता है। इस प्रकार अक्षर की व्याख्या तीन प्रकार से करनी चाहिये । एक अक्षर पुरुष में, दूसरी अक्षर पुरुष को उत्पन्न करने वाली शक्ति महान् रूप से ख्यात होती हुई भी अक्षर नाम से कही जाती

है, क्योंकि वह अक्षर रूप ही हो जाती है, तीसरी अवस्था उस महान् से समुत्पन्न भोग मय अहंकार रूप में, यह अहंकार भी अक्षर रूप ही होता है—क्योंकि अक्षर का शक्ति रूप होने से उससे अभिन्न होकर यह अक्षरता को ही पा जाता है। तदनन्तर क्षर मात्राओं का उदय होता है। इस प्रकार यह महान्, अहंकार और तन्मात्रा रूप में बल के त्रिविध भाव का तृतीय प्रकार है।

वृत्तिता सम्बन्ध से रस में रहने वाला बल जब उन्मुग्धावस्था को छोड़कर प्रबुद्ध हो जाता है अर्थात् जाग पड़ता है—तब रस समन्वित होकर वह विभूति संसर्ग से महान् रूप में, योग से अहंकार रूप में और बन्ध संसर्ग से मृत्यु रूप में परिणत होता है। "यह बल विस्तार क्रम है" ।।७६।।

वे विभूति, योग और बन्ध नाम के संसर्ग ग्रन्थियुक्त और ग्रन्थि रहित इन दो भेदों में बंट जाते हैं। ग्रन्थि रहित उन संसर्गों से बल यदि रसानुगामी होता है तब अक्षर रूप बनता है, इसके विपरीत ग्रन्थि युक्त उन ही संसर्गों से अनुगमन करने पर क्षर रूप बन जाता है ।।७७।।

प्रतिक्षण उत्पन्न होने वाला और तत्क्षण नष्ट हो जाने वाला क्रम जिस कर्म का रहता है—विद्वज्जन उसे 'सन्तान कर्म' नाम से कहते हैं। वह सन्तान कर्म अक्षर रूप आत्मा में एक जगह एक नया संस्कार उत्पन्न करके स्वयं रस से पृथक् हो जाता है—अतः नष्ट हो जाता है ।।७८।।

३. पूर्व कथित बल की पांच अवस्थाओं में संतानवृतित्ता की व्याख्या करते हैं।

वह कर्म नष्ट हो जाता है का तात्पर्य है कि जिस नये संस्कार को वह अक्षर पुरुष में उत्पन्न कर देता है—वैसे अन्य संस्कार को उत्पन्न करने की शक्ति उसकी नहीं रहती—अतः वह पृथक् हो जाता है—ऐसे अनन्त बलों के पृथक् होने पर एक कर्म धारा बन जाती है, वह धारावाही सन्तान कर्म प्रवाह ही स्थूल रूप में पर्वत, वृक्ष, पक्षी, मृग (पशु), मनुष्य तथा अन्यान्य रूपों में दृश्यमान होता है ।।७९।।

४. यह सारा संसार कर्म संतान रूप है—यह निपुणता से देखना चाहिये।

संसार के पदार्थों में प्रत्येक में धारावाही कर्म के अनेक रूप पृथक्-पृथक् होते हैं, वे सब निरञ्जन रस में कर्मों की ग्रन्थि बनाकर जगत् रूप बनते हैं। ये कर्म ग्रन्थि समासञ्जन रूप बल के आधार पर बनती है ।।८०।।

५. पर्वतवृक्ष आदि तथा पशु, पक्षी. मनुष्य आदि शरीर धारावाही कर्म सन्तान रूप ही होते हैं—यह पूर्व श्लोक में कहा गया। कर्मों के परस्पर ग्रन्थिबन्धन से ही भिन्न-भिन्न स्थूल रूप बनते हैं—यह प्रतिपादन भी बहुत तरह से किया गया है। कर्मों के परिवर्तन भाव से ही सब वस्तुओं के रूपों में परिवर्तन होता रहता है, सत्, चित्, आनन्दमय रस तो सदा एक रस ही रहता है, यह भी अनेक बार कहा गया है। क्रमशः कर्म छह प्रकार की संस्थाओं को उत्पन्न करता है वे हैं—माया, कला, गुण, विकार, आवरण और आसञ्जन। सर्वप्रथम कर्म जो स्वयं सीमा में घिरा रहता है—वह निःसीम रस को सीमित भाव में दिखाता है—जैसे तरंग जल की सीमा

दिखाते हैं। मिति-सीमाभाव को ही माया कहा जाता है-- यह कर्म का प्रथम रूप है। सीमाभाव बन जाने पर नाना भेद हो जाते हैं—इस तरह अवयव–वा अंश नाम से कहा जाने वाला कला नाम का दूसरा रूप होता है। अंश भाव बन जाने पर संयोग, विभाग आदि और उनसे समुत्पन्न स्पर्श, रूप, रस आदि गुणों की प्रवृत्ति होती है—यह कर्म का तीसरा रूप है। गुणों के परस्पर परिवर्तन से विकार होते हैं, गुणों के परिवर्तन से ही अवस्था में परिवर्तन होता है—अवस्था परिवर्तन को ही विकार कहते हैं—ये विकार कर्म का चतुर्थ रूप है। विकारों से मूल वस्तु स्वरूप आवृत्त हो जाता है—ढक जाता है—प्रकाशित नहीं हो पाता—जैसे रंगे हुए वस्त्र में सफेदी नहीं दीखती। यह आवरण कर्म का पंचम रूप है। वह आवरण अपने ही रूप में मूल वस्तु को भासित करता है अर्थात् आवरण ही दिखाई देता है मूल पर दृष्टि जा नहीं पाती—यह आसञ्जन कहा जाता है। यह कर्म का छठा रूप है। वस्तु में स्वयं आसक्त होकर अपने रूप से ही वस्तु को दिखाना आसञ्जन होता है। यह आसञ्जन बल की अन्तिम अवस्था है। यह आसञ्जन अवस्था एक बल में ही दूसरे बल की स्थिति रूप है। रस तो बल का आलम्बन (सहारा) मात्र है। परन्तु उस आलम्बन भाव मात्र से ही रस नाना रूपों में भासित होता है—यह यहाँ कहा गया है। अनञ्जन रस में जो समासञ्जन रूप कर्म प्रवृत्त होता है—उसका मूल हेतु कर्मों का ग्रन्थिभाव होता है—यह श्लोक का अन्वय है।

[1]स ग्रन्थिबन्धो भवतीह यावत् तावत् स सर्गः प्रतिपद्यतेऽर्थः।
एकत्र तत्रात्मनि सृज्यमानतत्कर्म सन्तानज भोग एति ।।८१।।

[2]तत्संचरेण प्रतिसंचरेण प्रवर्तमानं च निवर्तमानम्।
स्वयं लयं याति बलं रसेऽस्मिन् कृतार्थता साऽस्य निरात्मता च ।।८२।।

[3]सुप्तं बलं शान्तरसे प्रशान्तमेवास्ति तस्मिन्नमृतेऽमृतं तत्।
तन्मृत्युना तेन वृते रसेऽस्मिन् न किञ्चिदग्रे जगदेतदासीत् ।।८३।।

[4]न किञ्चदग्रे जगदेतदासीदिति प्रथासीदिह पुष्करेऽस्मिन्।
एकैक तत्पुष्करसृष्टिहेतुर्जागर्ति निद्रातिबलं स्वतन्त्रम् ।।८४।।

कर्मों का ये ग्रन्थि बन्धन जब तक होता रहता है, तब तक ही पदार्थ सृष्टि होती है। और तब तक ही उन पदार्थों का एक जगह आत्मा में संसर्जन होकर सन्तान कर्म जनित भोग हो पाता है ।।८१।।

१. जब तक कर्मों का ग्रन्थिबन्धन रहता है—तब तक ही सर्ग अर्थ रूप होता है अर्थात् पदार्थ सृष्टि होती है। ग्रन्थि खुल जाने पर वह पदार्थ भी विलीन हो जाता है—यह तात्पर्य है। और तब तक ही उसमें भी पैदा होने वाले वैसे ही कर्म संतान से समुत्पन्न पूर्वोक्त गुण-विकारादि रूप भोगों को आत्मा प्राप्त कर पाता है। कर्मों की गांठ बनी रहने पर ही भोग होना भी सम्भव होता है—यह निष्कर्ष है।

इन कर्म ग्रन्थियों में संचर (ग्रन्थि पर ग्रन्थि) और प्रति संचर (ग्रन्थि का खुलना) दोनों तरह की क्रिया प्रवत्ति रहती है। संचर भाव में प्रवत्ति रूप सृष्टि क्रम चलता है और

ग्रन्थि विमोक रूप प्रति संचर में निवृत्ति रूप से सर्ग का बाध हो जाता है। प्रति संचर में बल स्वयं रस में लीन हो जाता है—क्योंकि सर्ग सम्पादन में जो कुछ करना था वह कर चुकता है—अतः वह कृतार्थ हो चुकता है और उसका निरात्मभाव हो जाता है अर्थात् रस से अतिरिक्त अब वह अपना अन्य स्वरूप नहीं रखता स्वयं रस रूप ही हो जाता है। यह ही बल की निरात्मता है ॥८२॥

२. इस प्रकार ग्रन्थियों का ही संचर-प्रतिसंचर क्रम होता है। एक ग्रन्थि फिर ग्रन्थि पर ग्रन्थि यह संचर क्रम है। इससे विपरीत ग्रन्थि खुलने के क्रम में बल ग्रन्थियों का प्रतिसंचरण होता है। संचर को प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं और प्रतिसचर को निवृत्ति। यह कर्म का निवृत्ति क्रम, क्रमशः चलता है अन्ततः सृष्टि भाव से विमुख होकर निवर्तमान वह कर्म रस में ही लीन हो जाता है—अर्थात् सुप्त हो जाता है—अव्यक्त हो जाता है। यह ही बल की कृतार्थता है। जो उस बल को कर्त्तव्य रूप में करना था—वह कर चुका यह तात्पर्य है। ये ही निरात्मा रूप पांचवीं अवस्था पहले कही गई है।

शान्त्यानन्द और समृद्ध्यानन्द दो स्थिति रस की कही गई हैं, मूल अवस्था शान्त रस है। उस शान्त रस में जाकर बल प्रसुप्त हो जाता है, अर्थात् कोई भी विकारमयी चेष्टा बल की नहीं होती—अमृत मय शान्त रस में बल भी अमृत रूप होकर प्रशान्त हो जाता है। बल विकारावस्थ होकर ही सृष्टि कारक होता है—अतः बल की इस प्रशान्त अवस्था में किसी प्रकार की सृष्टि नहीं होती, यद्यपि शान्त रस में प्रशान्त रस का समन्वय रहता है। ऐसी प्रशान्त मृत्युमय बल से आवृत रस अवस्था में श्रुति वचन है कि उस आदि अवस्था में कुछ भी नहीं था—इस विश्व का नाम निशान भी नहीं था, किन्तु रस में बल की स्थिति थी यह 'तम आसीत् तमसाऽगूढमग्रे' इस पूर्व कथित श्रुति वचन से सिद्ध है ॥८३॥

३. बल में किसी प्रकार की क्रिया का न होना ही—बल का शयन है, शान्त अमृत रस में शयन करके बल भी शान्त-रूप में तथा अमृत रूप में ही जाना जाता है। वैसे शान्त बल से आवृत रस अवस्था की व्याख्या श्रुति-स्मृति में—"नैवेहकिञ्चनाग्रे आसीत्" इत्यादि शब्दों से की गई है। जिस अवस्था में—'यहां कुछ भी नहीं था' ऐसा श्रुति-स्मृति में कहा गया है, उस प्रलय अवस्था में भी—रस और बल इन दोनों की स्थिति रहती है, इनका अभाव कभी नहीं होता। बल उस समय प्रसुप्त ही रहता है इतना ही समझना चाहिये। इस ही विषय को भगवान् मनु ने (मनु स्मृति अ. १) में "प्रसुप्तमिव सर्वतः" इन शब्दों में प्रकट किया है।

आदिकाल में यह जगत् भाव कुछ भी नहीं था—यह श्रुति वचन इस पुष्कर (ब्रह्माण्ड) को लक्ष्य करके कहा गया है, विश्व में तो ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड हैं। उन ब्रह्माण्डों में प्रत्येक ब्रह्माण्ड की सृष्टि का हेतु बल ही होता है, और पृथक्-पृथक् ब्रह्माण्ड का हेतु भूत वह बल अपने आप में स्वतन्त्र होता है, वह किसी ब्रह्माण्ड में जागरित रहता है किसी में प्रसुप्त हो जाता है। सब ब्रह्माण्डों में सर्वथा प्रसुप्त हो जावे ऐसा कभी नहीं होता ॥८४॥

४. अनन्त ब्रह्माण्डों में एक साथ सर्वत्र प्रलय हो जाना कभी सम्भव नहीं होता—अतः सर्वत्र व्यापक रस में सर्वत्र बल का एक साथ प्रस्वाप कभी नहीं समझना चाहिये "नैव किंचनाग्र आसीत्" इस

श्रुति-स्मृति वचन का यह ही अभिप्राय समझना चाहिये कि इस पुष्कर अर्थात् ब्रह्माण्ड में पहले कुछ नहीं था। पुष्कर पद यहां ब्रह्माण्ड का बोधक है। ब्रह्माण्ड का कर्मभाव में निरूपण पुराण आदि में देखा जाता है—इस कारण ही ब्रह्माण्ड के अर्थ में पुष्कर पद का प्रयोग किया है। एक एक ब्रह्माण्ड का उत्पादक बल पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रूप से कहीं जागता है, कहीं सो जाता है।

[1]न सर्वथा भूम्नि रसे समन्ततः प्रसुप्तमेतत्सकलं बलं भवेत्।
न नोदनाऽस्तीति तथा सति क्वचिद्बलं रसे सृष्टिकरं न जाग्रियात् ॥८५॥

सतीतरस्मिन्नथ पुष्करे तदा रसेन जाग्रद्बलशालिनाऽऽहते।
रसे प्रबुद्धं बलमत्र पुष्करे लोकत्रयं भावितमेतदीक्ष्यते ॥८६॥

(३२) बलस्वापप्रबोधाधिकरणम्

[2]बले बलान्यत्र बलान्तराणि पुनर्बलान्यत्र पुनर्बलानि।
रसे प्रनृत्यन्ति बलानि नानाविधानि तद्विश्वमिदं विभाति ॥८७॥

अनादिकालादमृते रसे बलं सुप्तं क्वचिज्जागरितं च नृत्यति।
सुप्तं च जागर्ति मुहुः प्रबोधितं पुनः स्वपित्येव पुनः प्रबोध्यते ॥८८॥

बलं हि शक्तिः प्रथते रसेऽमृते सुप्ता सदा शक्तिघनेऽवतिष्ठते।
बलस्य सुप्तिर्द्विविधा रसे भवेदघातजा सा प्रतिघातजाऽथवा ॥८९॥

[3]यदेकदेशानुगतिर्न विद्यते सा सर्वदिक्का: बलसुप्तिरिष्यते।
शक्तेः स्थिता शक्तिमतीह सर्वदा तस्मादियं सुप्तिरघातजामता ॥९०॥

[4]अघातसुप्तिर्द्विविधा रसे स्यात् सुप्तिर्महासुप्तिरिति प्रभेदात्।
स्वयं निवृत्तिक्रमजा तु साद्या मुमुक्षुतद्यत्नवशेन चान्त्या ॥९१॥

सर्वत्र व्यापक इस भूमा रस में एक साथ सब जगह सर्वथा सारा बल प्रसुप्त हो जाय यह सम्भव नहीं हो सकता। एक ब्रह्माण्ड के बल को प्रसुप्तावस्था से अन्य ब्रह्माण्ड का बल प्रेरणा करके जगाता है, यदि बल मात्र ही प्रसुप्त हो जाय तो नोदना—अर्थात् प्रेरणा करने वाले बल का भी अभाव हो जाने से सृष्टि सम्पादन के लिये रस में बल का जागरण कभी सम्भव ही न होवे ॥८५॥

१. यदि सारे व्यापक-भूमा-रस में बल एक साथ ही प्रसुप्त हो जावे, तो नोदक अर्थात् प्रेरक के अभाव में उस सोये हुए बल का जागरण कैसे हो सकेगा। एक ब्रह्माण्ड का सोया हुआ बल दूसरे ब्रह्माण्ड के जागे हुए बल से प्रेरणा पाकर फिर जागता है—यह प्राकृतिक नियम अग्रिम पद्य में बताया जा रहा है।

इतर—अन्य पुष्कर-ब्रह्माण्ड में स्थित रस के साथ जागते हुए बल से आघात पाकर जिस ब्रह्माण्ड का बल प्रसुप्त हो गया था वह फिर जाग पड़ता है और फिर इस त्रिलोकी को कल्पित कर देता है, अर्थात् रस से चेतना पाकर सूर्य-अन्तरिक्ष-पृथ्वी रूप अन्य ब्रह्माण्ड को बना देता है ॥८६॥

एक बल में अन्य अनेक बल, सजातीय बल, फिर विजातीय भी बल और भी अन्यान्य बल इस प्रकार रस में नाना प्रकार के बलों का नृत्य होता है, उसके फलस्वरूप में विश्व रूप से यह सब भासित होता है ।।८७।।

२. बलों पर बलों के चयन से ही यह जगत् प्रकट होता है यह बात विस्तार से इस पद्य में स्पष्ट अक्षरों में कही है । यद्यपि बल ही अन्य बलों को धारण कर सके यह सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि बल स्वयं क्षणिक होता है— अतः अन्य बल को धारण करने का समय ही उस बल को नहीं मिल पाता, तथापि रस का सहारा पाकर बल जब धारावाही बन जाता है तब उसका अन्य बल का आधार बन जाना सम्भव हो जाता है--और जिस बल का वह आधार बना है उस आधेय बल की भी धारावाहिता बन जाने पर फिर अन्य बल को धारण वो भी कर लेता है— यह व्याख्या पहले हो चुकी है । इस तरह बलों की परम्परा रूप चिति सम्भव हो जाती है ।

अनादिकाल से अमृतमय रस में बल प्रसुप्त रहता है, वह कहीं जागरित होकर अनेक भावों में परिवर्तन रूप नृत्य करता है फिर सो जाता है । शयनानन्तर वह बार-बार बलान्तर के द्वारा जगाया जाता है, पुनः कार्य संपादनानन्तर सुप्त हो जाता है, फिर जगाया जाता है, यह प्राकृतिक क्रम चलता रहता है ।।८८।।

अमृतमय रस से सम्बद्ध बल, शक्ति नाम से ख्यात होता है, वह शक्ति प्रस्वाप अवस्था में सदा शक्ति घन रस में अवस्थित रहती है । बल का यह शयन दो प्रकार का होता है—एक आघात रूप रुकावट के बिना शयन—यह अघात जनित स्वाभाविक शयन होता है, दूसरा प्रकार अन्य किसी से प्रतिघात रूप अवरोध पाकर शयन होता है, यह पुनः जागता है ।।८९।।

अघातज अर्थात् निरवरोध जनित सहज सुप्ति का स्वरूप दिखाया जा रहा है— बल रूपिणी शक्ति की जब किसी एक दिशा में प्रवृत्ति न होवे तब वह सारी दिशाओं में गति शून्या सुप्ति मानी जाती है—वह शक्ति, शक्तिमान् रस में ही सर्वदा स्थित रहती है—अतः शक्ति की वह अघातजा अवरोध-शून्या सुप्ति मानी जाती है ।।९०।।

३. बल की अघातज सुप्ति का स्वरूप—जब बल की प्रवृत्ति एक दिशा में अभिमुख नहीं हो रही हो—तब वह दिशा मात्र में प्रवृत्ति शून्या सुप्ति होती है । वह सुप्ति अवरोध के बिना ही सम्भव होती है--अवरोध रूप आघात होने पर तो किसी एक दिशा में ही बल सुप्ति हो सकती है, सब दिशाओं में नहीं ।

बिना किसी आघात से होने वाली अघात सुप्ति रस में दो प्रकार की होती है— एक स्वाभाविक सुप्ति और दूसरी महा सुप्ति । कार्य संपादनानन्तर विश्राम रूप क्रिया निवृत्ति क्रम जनित प्रथम सहज सुप्ति, तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए योगाभ्यास रूप यत्न से सम्पादित अन्तिम महासुप्ति ।।९१।।

४. अघात जनित सुप्ति के भी दो प्रकार बता रहे हैं— एक सुप्ति और एक महासुप्ति । जिस शयन के अनन्तर पुनः जागरण सम्भव ही नहीं होता—वह महासुप्ति कही जाती है । उनमें पूर्व कथित क्रम से बल की जो स्वाभाविक कार्य निवृत्ति होती है—वह सुप्ति कही जाती है, इसमें

कभी तो कार्य उत्पादन रूप बल का जागरण रहता है और कभी कोई कार्य रूप चेष्टा न करना—यह स्वाप होता है, यह बल की स्वाभाविक वृत्ति है । इस अपने स्वाभाविक भाव से सोये हुए बल का पुनः जागरण होकर कार्य में प्रवर्तन हो जाता है—इस तरह ये सामान्य सुप्ति होती है । दूसरे प्रकार में जब मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु पुरुष के प्रयत्न से योग समाधि तथा निदिध्यासन आदि द्वारा सर्व चेष्टा अभाव रूप जो सुप्ति होती है—वह महासुप्ति है । उस बन्धन मुक्त आत्मा में सोया हुआ बल उस आत्मा को अवच्छिन्न करने के लिए कभी भी नहीं जाग पाता है । अतः मुक्त आत्मा सर्वथा सदा के लिये बल से विमुक्ति पा जाता है, यह तात्पर्य है । इस कारण ही श्रुति तथा स्मृतियों में मुक्ति की अनन्तता को घोषित किया गया है । यह महासुप्ति शास्त्र विहित योग समाधि, निदिध्यासन आदि पुरुष के प्रयत्नों से सम्पादित होती है । उन प्रयत्नों से बल का सर्वथा लय हो जाता है—उसका पुनःजागरण सम्भव नहीं होता, अतः उस बल की वह महासुप्ति कही जाती है । कार्य करने के लिये अभिमुख होने पर बल—शक्ति रूप हो जाता है यह आरम्भ में ही कहा गया है । इस कारण कार्य करणार्थ जागरित बल वाचक शक्ति पद का प्रयोग इस प्रकरण में ग्रन्थकार ने किया है । ये दोनों प्रकार की सुप्ति बिना प्रतिघात के होती है—अतः अघातजा कही गई है । इसमें बल का प्रतिघात बलान्तर द्वारा नहीं होता । यद्यपि ये महासुप्ति पुरुष के प्रयत्न से होती है—यह कहा गया है, तथापि वह पुरुष का प्रयत्न जीवभाव को सम्पादन करने वाले बल पर साक्षात् आघात नहीं करता अपितु माया बल जनित अविद्यारूप आवरण शक्ति को हटाकर आत्मा के स्व स्वरूप को प्रकाशित करता है, फलस्वरूप बल का संकोचकरण रूप कार्य निवृत्त हो जाता है तो बल शिथिल होकर क्रमशः स्वयं ही शान्त हो जाता है । इस हेतु पुरुष के प्रयत्न द्वारा सम्पादित महासुप्ति की गणना भी अघात जनित सुप्ति में ही की गई है । बल की कार्य निवृत्ति वहां स्वाभाविक होती है—समाधि अवस्था से पुनः जागरण पुरुष के प्रयत्न से ही होता है ।

[1]द्विधा प्रतीघातजसुप्तिरिष्टा सुप्तिर्महासुप्तिरिति प्रभेदात् ।
घातक्षयोत्थाप्य बला तु साद्या महाबलेऽल्पस्य लयस्तु सान्त्या ।।९२।।

[2]यत् सर्वदिश्यानि बलानि चाहितान्याघ्नन्ति चाश्नन्ति परस्परेण सा ।
सुप्तिर्यथा[3] तुल्यबलाश्रितद्वयाकृष्टेर्विरोधान्न पटोऽनुकृष्यते ।।९३।।

[4]महाशिलां यः प्रतिहन्ति हस्ततः सा नोदना शैलबले विलीयते ।
[5]कांस्यस्वनो नोदनयाप्रवर्तितोऽवसीदति स्पर्शवशादिहाङ्गुलेः ।।९४।।

दूसरे प्रकार की अन्य बल के प्रतिघात से होने वाली बल प्रसुप्ति के भी सुप्ति और महासुप्ति ये दो भेद माने गये हैं । प्रतिघात करने वाले बल के स्वयं नष्ट हो जाने पर जिस बल पर घात किया गया था वह फिर जाग पड़ता है, ऐसी सुप्ति प्रथम भाव की होती है—वह केवल सुप्ति ही कही जाती है, और किसी महाशक्ति शाली बल में एक अल्प बल का सर्वथा लीन हो जाना—पुनः जागरण न होना यह सुप्ति का अन्तिम भाव महासुप्ति है ।।९२।।

१. अब अन्य बल के प्रतिघात (क्रिया का अवरोध) से होने वाली एक बल की प्रसुप्ति का विवरण करते हैं—ये भी सुप्ति और महासुप्ति इन दो भेदों में विभक्त होती है। घात करने वाले—प्रतिहन्ता बल का स्वयं का जहां क्षय हो जावे तब जिस पर आघात किया था—उस बल का पुनः उत्थान हो जाता है—यह केवल सुप्ति कही जाती है। इसमें घात-क्षय-जनित पुनःजागरण होता है, यह पहली सुप्ति है—यह श्लोक का अन्वयार्थ है। इससे विपरीत जहां महाबल में अल्प बल का लय हो जाता है, पुनः उत्थापन नहीं होता वह अन्तिम महासुप्ति है।

विश्व में सब दिशाओं में बलों का संचरण होता रहता है—उनमें परस्पर आघात प्रतिघात होता है—प्रबल बल अल्प बल को खा जाता है—यह सुप्ति कही जाती है। जैसे समान बल शाली दो पुरुष परस्पर विरुद्ध दिशाओं में किसी मजबूत वस्त्र को खींचने लगते हैं—तो दोनों का बल टकराकर प्रतिहत (सुप्त) हो जाता है अतः वह वस्त्र भी स्थिर हो जाता है। यह बलों की सुप्ति कही जाती है—किन्तु यह महासुप्ति नहीं है—क्योंकि वस्त्र को खींचने वाले उन दो पुरुषों में से एक यदि वस्त्र को छोड़ देता है तो दूसरी ओर खींचने वाले पुरुष की ओर वस्त्र बड़ी तेजी से तत्क्षण खिचता चला जाता है—अतः महासुप्ति वहां नहीं होती ॥६३॥

२. सुप्ति की व्याख्या—रस से चेतना पाकर बल सब दिशाओं में संचरण करने वाले बल परस्पर आघात (संघर्ष) करते हैं। उस संघर्ष में प्रबल बल दुर्बल को खा जाता है—अर्थात् अपने में लीन कर लेता है। उस लीन बल की यह सुप्ति कही जाती है। प्रतिघात (अवरोध) रूप के हट जाने पर पुनःजागरण देखे जाने से सर्वथा लय नहीं कहा जाता।

३. तुल्य बलशाली पुरुषों के वस्त्राकर्षण दृष्टान्त से महासुप्ति का निषेध किया गया। यह विषय प्रथम अध्याय के संसर्ग अधिकरण में बलों का सामंजस्य दिखाते हुए बताया गया है।

महासुप्ति का दृष्टान्त—कोई मनुष्य यदि किसी बड़ी भारी शिला पर हाथ से आघात करता है तो हाथ की प्रहार रूप वह प्रेरणा पर्वत शिला के बल में विलीन हो जाती है, अर्थात् हाथ का कमजोर बल शिलाबल से प्रतिहत होकर सुप्त हो जाता है यह हस्तबल की महासुप्ति होती है।

अन्य उदाहरण—यदि कांसे के पात्र पर छड़ी आदि से आघात किया जाय तो ध्वनि गूंजने लगती है—ध्वनि के उस अनुरणन काल में उस पात्र को यदि अंगुली से स्पर्श कर दिया जाता है तो वह ध्वनित शब्द तत्काल रुक जाता है। वहां आघात जनित पूर्व बल अंगुलि के स्पर्श बल से प्रसुप्त हो जाता है, वह महासुप्ति पूर्व बल की होती है ॥६४॥

४. अब प्रतिघात जनित महासुप्ति का उदाहरण बता रहे हैं—कोई व्यक्ति यदि किसी महाशिला पर अपने हाथ से प्रहार करता है तो उसके हाथ का अल्प बल उस महान् शिला के बल में विलीन हो जाता है—सुप्त हो जाता है—वह पुनः कभी भी नहीं जागता,—वहां हाथ के बल की महासुप्ति हो जाती है—वह शिला बल के प्रतिघात से होती है।

१. अन्य दृष्टान्त—यदि कोई अपने हाथ से अथवा छड़ी आदि से कांसी पर आघात करता है तो उसके हाथ के बल से कांसी के पात्र में गुंजन रूप ध्वनि का अनुरणन होने लगता है, उस समय

उस पात्र को यदि अंगुली से छू दिया जाय तो ध्वनि तत्काल रुक जाती है। वहां ध्वनि उत्पादक पहला बल अंगुलि बल के प्रतिघात से प्रसुप्त हो जाता, उसका पुनः जागरण नहीं होता, वह भी महासुप्ति पूर्व बल की होती है।

[२]अथाशनायावशतस्तु नोदना विस्रस्तभागः प्रतिधीयते यदि।
तदा न सुप्तिः प्रतिघातसंभवेऽप्यस्यान्यथात्वं तु बलस्य संभवेत ।।९५।।
[३]बलप्रबोधोऽपि तथा द्विधा स्यादाघातजोघातवियोगजो वा।
धीप्राणभूतेषु बलप्रबोधः सर्वत्र लोके द्विविधोऽपि दृष्टः ।।९६।।
[४]अग्निर्हि पृथ्व्यां दहनानुगं बलं सुप्तं सदा तिष्ठति तत्र तत् पुनः।
प्रमथ्य संघर्षणतः प्रबोध्यते बलप्रबोधः स हि नोदनाकृतः ।।९७।।
[५]या नोदनोत्सीदति तत् क्रियात्मना तत्राशनाया पृथिवीबलेन यत्।
विस्रस्तमंशं प्रतिघातुमीहते तेनाऽधरेऽग्नि त्वभियाति नोदना ।।९८।।

प्रतिघात होने पर भी कहीं-कहीं बल की प्रसुप्ति नहीं होती—जैसे बलान्तर से प्रतिघात पाने पर पूर्व बल का बिखर कर नष्ट होने वाला अंश अशनाया (क्षत पूर्ति कारक क्षुधा) के द्वारा यदि पुनः पूर्ण कर दिया जाता है तो प्रतिघात हो जाने पर भी पूर्व बल की सुप्ति नहीं होती, किन्तु नयी अंश पूर्ति के कारण परिवर्तन अवश्य हो जाता है—यथाभाव न रहकर अन्यथा भाव बल का हो जाता है ।।९५।।

२. कहीं दूसरे बल से प्रतिहत हो जाने पर भी पूर्व बल की प्रसुप्ति नहीं होती, यह कहा जा रहा है—नोदना अर्थात् बलान्तर की प्रेरणा से—या आघात से बल का बिखर जाने वाला भाग यदि अशनाया के अधिकार से—प्रतिधान (पूर्ण) कर दिया जाता है, जैसे मल रूप से उदर से बाहर चले गए अन्न का उदर में पुनः आधान कर दिया जाता है वैसे। उस अवस्था में प्रतिघात होने पर भी बल की सुप्ति नहीं होती, किन्तु बल की अन्यरूपता हो जाती है। अशनाया की व्याख्या अग्रिम अधिकरण में होगी, यहां यह उदाहरण दिया जा सकता है कि—जब कोई मनुष्य अपने हाथ में लिये हुए पत्थर को तीव्र वेग से सामने किसी भींत पर दे मारता है तो वह पत्थर दीवाल से टकराता है—अर्थात् दीवाल के बल से प्रतिहत होता है—किन्तु उस अवस्था में भी हाथ के द्वारा फैंके गए बल की प्रसुप्ति नहीं होती, बल्कि अन्यथा भाव यह होता है कि प्रस्तर की गति जो संमुख भाव में हुई थी वह विपरीत भाव में लोट पड़ती है, पत्थर दीवार से टकराकर वापस लोट आता है। भींत से प्रतिघात में पाये हुए बल को वह हस्त बल अशनाया शक्ति द्वारा खा जाता है। उस अशनाया के द्वारा ही हस्तबल का भींत के प्रतिघात से बिखरने वाला भाग पूर्ण कर दिया जाता है।

प्रसुप्ति के समान बल जागरण की भी दो विधा है, एक आघात (प्रेरणा) जनित और एक बिना आघात से स्वाभाविक जागरण। बुद्धि, प्राण, तथा भूतवर्ग में प्रबोध की ये दोनों विधा लोक में सर्वत्र देखी जाती हैं ।।९६।।

३. अब बल प्रबोध की भी इस ही प्रकार से अनेक विधा दिखाई जाती हैं। बुद्धि, प्राण, भूतवर्ग इसके उदाहरण हैं। निद्रा अथवा मूर्छा आदि से बुद्धि गति अवरुद्ध हो जाती है—फिर निद्रा

आदि की समाप्ति पर पुनः बुद्धि जाग पड़ती है, यह जागरण स्वाभाविक बिना प्रेरणा से ही होता है—यह आघात वियोग जनित प्रबोध है। निद्रा समाप्ति से पहले मध्य में ही किसी आवाज अथवा स्पर्श आदि के आघात से जो जागरण होता है-वह आघात जनित प्रबोध होता है। वैसे ही मूर्छा आदि के हट जाने पर प्राणों की सहज गति—बिना प्रेरणा से होती है और मूर्छा काल के मध्य में औषध आदि के द्वारा होने वाला प्राण प्रबोध आघातजनित होता है। भूत वर्ग की प्रक्रिया आगे बताई जा रही है।

पृथ्वी में अग्नि सर्वत्र व्याप्त रहता है, उस अग्नि की दाहक शक्ति सदा प्रसुप्त अवस्था में रहती है, उस दाहक शक्ति को मंथन करके संघर्षण द्वारा जगाया जाता है—वहां वह दाहक बल का प्रबोध प्रेरणा जनित होता है ।।९७।।

४. "अग्निगर्भा पृथिवी" इस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार पृथिवी में—काठ, पत्थर आदि में सर्वत्र ही अग्नि की व्याप्ति रहती है, उनसे ही अग्नि की उत्पत्ति स्पष्ट देखी जाती है। वहां काष्ठ आदि में अन्तर्निहित अग्नि में दहन शक्ति भी रहती ही है। क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् का सम्बन्ध नित्य होता है। परन्तु वह शक्ति प्रसुप्त रहती है, अतः वह बल रूप होती है। प्रसुप्त अवस्था बल और जागरित अवस्था शक्ति यही परिभाषा है। वह प्रसुप्त बल काष्ठ आदि के मंथन से अथवा दो पत्थरों के परस्पर संघर्ष से जगाया जाता है, तब अग्नि प्रस्फुटित होकर प्रत्यक्ष में काष्ठ आदि को जलाने लगता है। यह प्रबोध प्रेरणा जनित होता है—क्योंकि वह मंथन तथा संघर्षणजनित बल की प्रेरणा से होता है।

पत्थर काष्ठ आदि के ऊपरी भाग पर किये गये संघर्ष आदि का तदन्तर्गत अग्नि से सम्बन्ध होने की प्रक्रिया बता रहे हैं—मंथन आदि रूप से किये जाने वाली प्रेरणा क्रिया रूप में परिणत होकर उत्सन्न (क्षीण) हो जाती है, वहां पार्थिव काष्ठ आदि में बल की स्थिति रहती है और उस बल में जो अशनाया रहती है, वह अशनाया उस क्षीणभाव को पूर्ण करने का प्रयत्न करती है, उससे वह मन्थन, संघर्ष आदि की प्ररणा काष्ठ आदि में अन्तः स्थित अग्नि की ओर जाकर दहन शक्ति को जगाती है। अर्थात् अशनाया की सहायता पाकर वह क्रियामयी प्रेरणा क्षीण न होकर अन्तः प्रविष्ट हो जाती है ।।९८।।

५. यहां शंका यह होती है कि मंथन, संघर्ष आदि के द्वारा बल का आघात तो काष्ठ तथा पत्थर आदि के ऊपरी भाग पर किया जाता है, उस आघात से अन्तः स्थित अग्नि के बल का जागरण कैसे सम्भव होता है ? इसका समाधान करते हैं—कि वह मंथन, संघर्षण आदि के द्वारा किये जाने वाली प्रेरणा क्रिया रूप से परिणत होकर क्षीण होने लगती है। बल की ही तीन अवस्था होती हैं, प्रथम बल, फिर शक्ति, फिर क्रिया। अन्तिम क्रिया भाव में शक्ति का क्षय हो जाता है, यह विवरण पहले हो चुका है। श्लोक का अन्वयार्थ है कि—पार्थिव काष्ठ आदि में स्थित जो बल रहता है—उसमें अशनाया शक्ति रहती है, वह अशनाया उस क्षीण भाव को पूर्ण करने का यत्न करती है। अर्थात् मंथन आदि क्रिया जनित वह प्रेरणा बल क्रिया रूप में आकर जब क्षीण होने लगता है तब काष्ठ आदि में अन्तः स्थित अशनाया बल के द्वारा उस क्षीणता की पूर्ति हो जाती है, उससे वह प्रेरणा क्षीण न होकर बल पूर्ण ही रहती है और नीचे काष्ठादि में अन्तः स्थित अग्नि को प्रेरित कर देती है—अर्थात् वहां भी नोदना (प्रेरणा) बल प्रविष्ट

हो जाता है जिससे अग्नि में रहने वाले दाहक बल का प्रबोधन कराया जाता है, यह अभिप्राय है।

[1]अथ स्थितिस्थापकलक्षणं गुणं यदाहुरेतत् सकलं बलं किल।
उद्बोध्यते घातवियोगतो यतो नोद्बुध्यते घातबले दृढीकृते ॥९९॥

[2]छदिस्थकीलस्थितलम्बलम्बितग्राव्णः स्थितिर्नोदनयोः प्रसुप्तितः।
तत्रैव हस्ताहितनोदनाबलाज्जागर्ति तिर्यग्गमनानुगं बलम् ॥१००॥

[3]ग्रावास कीलोत्थविरुद्धनोदना वशात्परावृत्य च तावदेजते।
यावत्तया नोदनया यियासितं दिशोर्ह्लसेत् सुप्तबलाशनाद् बलम् ॥१०१॥

प्रत्येक पदार्थ को अपने-अपने स्थान में प्रतिष्ठित (कायम) रखना यह बल का सर्व साधारण गुण प्रसिद्ध है। वह प्रतिष्ठा बलान्तर का आघात पाकर विच्युत होने लगती है, और आघात (अवरोध) के हट जाने पर वह प्रतिष्ठा बल फिर जाग पड़ता है और अपने स्थान पर पुनः प्रतिष्ठित कर देता है, किन्तु आघात करने वाला बल यदि दृढ हो जाता है तब वह प्रतिष्ठा बल फिर नहीं जाग पाता ॥९९॥

१. अवरोध रूप आघात होने पर भी बल के क्षीण न होने का अन्य उदाहरण—वृक्ष की शाखा आदि को जब हाथ से पकड़ कर झुकाया जाता है तब वह शाखा अपना स्थान छोड़ देती है और जब हाथ हटाकर छोड़ दी जाती है तो वह शाखा अपने आप अपने स्थान पर चली जाती है। हाथ से छोड़ देने पर होने वाली उस गति का हेतु क्या है? इसकी विवेचना में वैशेषिक मतानुयायी पार्थिव पदार्थों में एक स्थिति स्थापक संस्कार मानते हैं— उस संस्कार के द्वारा ही हाथ से छोड़ देने पर भी शाखा-पत्र आदि में गति होती है, ऐसा निरूपण उनने किया है। वास्तव में तो वह गति अवरोध रूप आघात के न रहने पर पूर्व बल के जागरण से ही होती है। क्योंकि शाखा आदि में अपने स्थान में स्थिति रखने वाला बल रहता ही है—उसके सहारे ही शाखा, पत्र आदि अपने स्थान पर टिके रहते हैं पृथिवी के आकर्षण से नीचे नहीं गिरते। हमारे हाथ के बल का आघात पाकर वह स्थान स्थिति स्थापक बल प्रसुप्त हो जाता है उससे शाखादि की झुकाव रूप गति अन्य दिशा में हो जाती है, हाथ हटा लेने पर वह आघात नहीं रहता—तब शाखादि गत वह प्रसुप्त बल प्रबुद्ध होकर शाखा को अपने निज स्थान पर ले जाता है, किन्तु अवरोध करने वाला आघात बल यदि दृढ हो जाता है—अर्थात् यदि चिरकाल तक हाथ से पकड़कर उस शाखा को मोड़कर ही रखा जाय तब शाखान्तर्गत बल की महासुप्ति हो जाती है, फिर वह शाखा अपने स्थान पर नहीं जा पाती। इस ही कारण माली आदि किसी वृक्ष को ऊपरी भाग में लम्बा करने के लिये इधर उधर बिखरी हुई शाखाओं को किसी यन्त्र द्वारा बद्ध करके ऊपर की ओर ही स्थापित कर देते हैं—उससे वे बिखरी हुई शाखा ऊपर की ओर ही जाती हैं, तिरछी होकर अपनी पूर्व स्थिति में नहीं जा पाती। यह आघात हट जाने पर बल के जागरण का क्रम होता है।

किसी कमरे के भीतरी छत के मध्य भाग में यदि कोई लोहे का कड़ा गाड़ दिया जाय और डोरी के सहारे से उसमें लम्बा छींका लटका दिया जाय—उस छींके में भारी

वजन का कोई प्रस्तर खण्ड रख दिया जाय तो वह लंबमान प्रस्तर एक ही स्थान पर स्थिर हो जाता है—क्योंकि वहां दो प्रेरणा परस्पर टकरा जाती हैं, नीचे वाली पृथ्वी की आकर्षण जन्य एक प्रेरणा उस पत्थर को नीचे ले जाने में समर्थ होती है और दूसरी छत के कड़े के बल से जुड़ी हुई छींके के बल से सम्बद्ध प्रेरणा नीचे गिरने से रोकती है। इस प्रकार वे दोनों प्रेरक बल विरुद्ध भाव से परस्पर टकराकर प्रसुप्त हो जाते हैं, अतः अब किसी भी प्रेरक के अभाव में पत्थर एक ही जगह रुक जाता है। वैसी अवस्था में यदि कोई उस पत्थर का स्पर्श कर देता है तो हस्तस्पर्श रूप प्रेरणा बल से प्रस्तर में गति रूप बल पुनः जाग पड़ता है किन्तु तिरछी गति से, "पहले कहा जा चुका है कि प्रसुप्ति के अनन्तर बल का यह पुनः प्रबोध यथा भाव में न होकर अन्यथा भाव में होता है अतः न नीचे गति, न ऊपर, तिरछी गति हो जाती है" ।।१००।।

२. आघात जनित बल जागरण का अन्य उदाहरण—छदि अर्थात् 'छत' वहां गाड़ी गई कील—जिसे व्यावहारिक भाव में कड़ा कहते हैं, उसमें लटकाया हुआ लम्ब अर्थात् छींका—उसमें यदि कोई वजनी पत्थर लटका दिया जाय तो स्थिर होकर टिका रहता है, वहां दो प्रेरणा प्रवृत्त होती है, नीचे रहने वाली पृथ्वी की आकर्षण जनित प्रेरणा पत्थर को नीचे ले जाना चाहती है और छत के कड़े से संपृक्त बल से सम्बद्ध छींके के बल से उत्पन्न प्रेरणा उसे नीचे गिरने से रोकती है, दोनों के परस्पर आघात से दोनों बलों के प्रसुप्त हो जाने पर पत्थर स्थिर हो जाता है। जब किसी मनुष्य द्वारा धीरे से भी उस पत्थर को हिला दिया जाता है तो हाथ में रहने वाले प्रेरणा बल से गति संपादक बल पुनः जाग पड़ता है और पत्थर को छींके सहित तिरछा ले जाता है—इधर उधर घुमाने लगता है यह आघात रूप प्रेरणा से बल के जागरण का उदाहरण है।

लटका हुआ वह भारी प्रस्तर छत के कड़े से सम्बद्ध अतः पतन से विरुद्ध प्रेरणा बल के वश से नीचे न गिरता हुआ भी हाथ की प्ररणा द्वारा नवीन प्रेरणा पाकर तब तक हिलता रहता है—जब तक कि हाथ की प्रेरणा पाकर जागा हुआ पृथ्वी का आकर्षण कारक बल कड़े से सम्बद्ध गति निवारक बल को खा नहीं जाता, अर्थात् अपने में अन्तर्निविष्ट नहीं कर लेता और हाथ के स्पर्श से जागृत प्रेरणा बल जब तक शान्त नहीं हो जाता ।।१०१।।

३. यहां यह शंका की जाती है कि उक्त उदाहरण में पृथ्वी के प्रसुप्त बल का जागरण क्यों माना जाता है ? हाथ की प्रेरणा से ही पत्थर में तिरछी गति हो जाती है यह मानना चाहिये। तो कहते हैं कि ऐसा नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस भारी पत्थर की अपेक्षा अत्यन्त अल्प बल वाले छोटे से बालक के हाथ की प्रेरणा पाकर भी देर तक पत्थर में गति देखी जाती है, जबकि अल्प बल वाले बालक के छोटे हाथ से संचालन करने पर भारी पत्थर में गति हो जाना सम्भव नहीं होता और न थोड़ी सी प्रेरणा से बहुत देर तक उसका हिलते रहना ही सम्भव हो सकता है, अतः यह ही मानना होगा कि पहले से रहने वाला पृथ्वी का आकर्षक बल जो विरुद्ध बल की टकराहट से प्रसुप्त हो गया था—वह अल्प प्रेरणा पाकर फिर जाग पड़ा है। इसका स्पष्टीकरण करते हैं—श्लोक का अन्वयानुरूप अर्थ है कि-हाथ की प्रेरणा से पृथ्वी के आकर्षण

जनित बल के जाग जाने पर पत्थर को नीचे गिरना चाहिये किन्तु छत के कड़े से समुत्पन्न पतन को रोकती हुई विरुद्ध प्रेरणा रहती है—उसके वशीभूत होकर वह पत्थर पतन भाव से लोटकर उस काल तक चलायमान रहता है—जब तक हाथ की प्रेरणा पाकर जागा हुआ पृथ्वी का बल उस कड़े से समुत्पन्न पतन निवारक बल को आत्मसात् नहीं कर लेता और हाथ से प्रेरित बल की क्रिया समाप्त नहीं हो जाती। हाथ की प्रेरणा से जगा हुआ पृथ्वी का आकर्षण बल, कड़े के निवारक बल को खा जाता है किन्तु इसको खालेने से वह पार्थिव बल अन्यथा भाव में बदल जाता है—इसलिये नीचे न जाकर पत्थर तिरछा चलायमान होता है—वह तिरछी गति क्रमशः प्रबुद्ध होकर उस बल के ह्रास पर्यन्त रहती है, बल गति के शान्त हो जाने पर फिर कड़े का बल जाग पड़ता है तो दोनों विरुद्ध बलों की परस्पर आघात से पुनः प्रसुप्ति हो जाती है—पत्थर फिर एक जगह ही स्थिर हो जाता है। यह प्रतिघात होने पर भी बल प्रसुप्ति न होने का उदाहरण समझना चाहिये।

[1]छदिस्थकीलस्थितलम्बलम्बितो ग्रावा पतन्नेव न संपतत्यणु।
कीलाद्विभागे पतनानुगं बलं जागर्ति साघातवियोगजागरा ॥१०२॥

[2]उत्क्षिप्तलोष्टं दिवमेति नोदनोद्भवलघुत्वेन गुरुत्वसुप्तितः।
घातक्षयोत्थाप्य बलं तु गौरवं प्रबुध्य लोष्टं पुनरत्र पातयेत् ॥१०३॥

[3]अथो यथोद्देशबलं प्रसुप्तं यत्कार्यकालं स बलप्रबोधः।
बले प्रबुद्धेऽपि बलप्रसुप्ति बलप्रबोधं पुनरित्थमाहु ॥१०४॥

छत के कड़े में लटके हुए छींके में लटका हुआ पत्थर, पतन विरोधी कड़े की प्रेरणा से पृथ्वी की नीचे गिरा देने की आकर्षण शक्ति के रहते हुए भी विरुद्ध प्रेरणा वश तनिक भी नीचे नहीं गिरता है किन्तु छींके की डोरी को यदि छत के कड़े से हटा दिया जाय तो आघात करने वाली प्रेरणा के वियुक्त हो जाने पर नीचे आकर्षण करने वाला पृथ्वी का बल जाग जाता है—फलतः पत्थर तत्काल नीचे गिर जाता है, यह बल का जागरण आघात-वियोग-जनित होता है ॥१०२॥

१. उपरोक्त लम्बमान पत्थर के उदाहरण में ही आघात-वियोग जनित बल जागरण का दृष्टान्त भी समझ लेना चाहिये, अन्वय सम्बद्ध अर्थ है कि—छत की कील में लंबमान छींके की डोरी से बंधकर लटकता हुआ प्रस्तर पृथ्वी के आकर्षण से नीचे गिरता हुआ भी कड़े से सम्बद्ध विरुद्ध प्रेरणा से अवरुद्ध होकर—अणुमात्र अर्थात् थोड़ा सा भी नीचे नहीं गिर पाता है। कील (कड़ा) की डोरी से पृथक् कर देने पर पतन करने वाला पृथ्वी का आकर्षक बल जाग जाता है अतः प्रस्थर तत्काल गिर जाता है। यह बल की जागरा (जागरण) आघातकारी बल के वियोग से होती है।

एक प्रस्तर खण्ड में पार्थिव अंश की ही प्रधानता के कारण स्वाभाविक गुरुता (भारीपन) रहती है। उस पत्थर को हाथ में उठाकर यदि बलपूर्वक ऊपर फेंका जाय तो हाथ के प्रेरणा बल से पत्थर में पूर्व स्थित गुरुता प्रसुप्त हो जाती है और लघुता (हल्कापन) जाग पड़ती है। फलतः पत्थर ऊपर आकाश में दूर तक जाता है, किन्तु जब हाथ का वह

लघुत्व संपादक प्रेरक बल क्षीण हो जाता है तो आघात के नष्ट हो जाने पर सोई हुई वह पत्थर को गुरुता फिर जाग जाती है तो गुरुत्वाकर्षण उसे नीचे गिरा लेता है। यह घात के क्षीण भाव से जनित बल के उद्बोध का उदाहरण है ॥१०३॥

२. जब किसी पुरुष के द्वारा कोई लोढी या पत्थर ऊपर फेंका जाता है तो उस लोढी या पत्थर में हाथ की प्रेरणा से लघुता जाग पड़ती है और इस विरोधी प्रेरणा के आ जाने से लोढी, पत्थर की स्वाभाविक गुरुता प्रसुप्त हो जाती है—अतः वह पत्थर या लोष्ट आकाश में ऊपर चला जाता है। पत्थर वा लोष्ट की स्वाभाविक गुरुता का घात करने वाला वह हाथ का बल जब समाप्त हो जाता है– तो वह गुरुता फिर जाग जाती है और फेंके गए लोढी या पत्थर को फिर पृथ्वी पर गिरा देती है। यह घात के वियोग से उत्पन्न होने वाले गुरुत्व के उद्बोध का उदाहरण है। गुरुता (भारीपन) पृथ्वी के आकर्षण का फल है। लघुता (हल्कापन) सूर्य के आकर्षण का फल है। इसलिये यहां भी गुरुत्व और लघुत्व की प्रसुप्ति और जागरण का प्रतिपादन करते हुए, आकर्षण जनित बल का ही शयन तथा जागरण कहा गया है—यह निष्कर्ष जानना चाहिये।

प्रबुद्ध बल भी दो प्रकार का होता है– एक यथोद्देश (जहां का तहां ठहरा हुआ क्रिया शून्य) बल और एक कार्यकाल रूप सक्रिय बल। इस तरह जागते हुए बल की भी यथोद्देश अवस्था से प्रसुप्ति रहती है, और कार्यकाल में जागरण रहता है ॥१०४॥

३. अब बताते हैं कि बल जागरित अवस्था में भी यदि अपनी क्रिया शक्ति को धारण करने वाले पदार्थ का सन्निधान नहीं पाता है तो वह सुप्त सा ही प्रतीत होता है और क्रिया धारक पदार्थ का सन्निधान पाकर प्रबुद्ध हो जाता है। पहले बल की 'यथोद्देश' संज्ञा है, दूसरे की 'कार्यकाल'। वैयाकरणों की सम्मानित इन यथोद्देश—कार्यकाल संज्ञाओं की यहां संगति कर दी गई है। ये प्रसुप्ति भी जगे हुए बल की ही होती है और यह जागरण भी जगे हुए बल का ही होता है। इसके उदाहरण आगे को दो श्लोकों में दिये जा रहे हैं, उनकी भाव संकेत रूप टिप्पणी यहां ही लिखी जा रही है—अग्नि में दहन करने वाला बल यद्यपि प्रबुद्ध रहता है और उसका अवरोधक कोई अन्य बल भी नहीं होता तथापि जलाने योग्य काष्ठ आदि का यदि संनिधान न रहे तो अग्नि की क्रिया शक्ति दिखाई न देने से वह अग्नि बल जागरित अवस्था में भी प्रसुप्त सा ही प्रतीत होता है। यह 'यथोद्देश' बल है, प्रबुद्ध बल की यह प्रसुप्ति है। बाहरी काष्ठ, वस्त्र आदि का संन्निधान पाकर वह अग्नि-बल क्रिया रूप में जागकर उस संनिहित वस्तु को जलाने लगता है वह कार्यकाल रूप अग्नि बल होता है। यह जगे हुए का ही जागरण है। यह अग्नि का दृष्टान्त आगे के प्रथम पद्य में कहा जा रहा है। दूसरे पद्य में मञ्च का दृष्टान्त है कि मंच-पलंग आदि पर बैठे हुए मनुष्य नीचे नहीं गिरते क्योंकि पृथ्वी का आकर्षण जनित नीचे गिराने वाला बल मंच के द्वारा क्षीण कर दिया जाता है यह सिद्ध होता है। साथ ही यह भी स्वतः सिद्ध है कि मंच में पतन को रोकने वाला बल रहता है, और अन्य किसी अवरोधक बल के न रहने से वह मंच में सदा जागरित भी रहता है, किन्तु जिस समय तक मंच पर बैठने वाला कोई नहीं होता, तब तक वह बल प्रसुप्त सा ही रहता है—वह यथोद्देश बल है—यह

जागरण में बल की शयन अवस्था है और जब उस पर बैठने वाले मनुष्य रहते हैं तब मंच का कार्यकाल बल होता है, वह जगे हुए बल का ही जागरण है ।

अग्नौ प्रबुद्धं दहनानुगं बलं शेते यथोद्देशतया सदा स्थितम् ।
तत्रोपसन्नेषु तु दाह्यवस्तुषु प्रबुध्यते तद्दहतीति गम्यते ॥१०५॥
मञ्चे स्थितानां पतनानुगं बलं प्रस्वाप्यते मञ्चबलेन येन तत् ।
स्यान्नित्यमुद्बुद्धमपि प्रसुप्तवन्मञ्चे विधार्याणि न सन्ति यावता ॥१०६॥

(३३) [1]अशनायाधिकरणम्

[2]अथात्मनीदं प्रथमं प्रबुद्धं महत् सदाऽऽत्मन्वि चिराय तिष्ठत् ।
अनेक रूपेण भवत् त्रिधा स्यादिच्छाविकाराऽऽवरणप्रभेदात् ॥१०७॥
इच्छाऽशनाया च तृषा च कामश्चैते समानार्थतया प्रदिष्टाः ।
[3]अन्नार्थिनो वृत्तिरिहाशनायान्नाकर्षणं स्वात्मनि तत्परस्मात् ॥१०८॥

अग्नि में दहन करने वाला बल सदा जागरित रहने पर भी यथोद्देश अवस्था में सदा प्रसुप्त ही रहता है, जब जलाने योग्य काष्ठ आदि उसके समीप आ जाते हैं तो वह जाग पड़ता है और उनको जलाने लगता है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है ॥१०५॥

मंच पर बैठे हुए लोगों को पृथ्वी के आकर्षण से नीचे गिराने वाला बल प्रबुद्ध मंच बल के द्वारा प्रसुप्त कर दिया जाता है, किन्तु मंच पर बैठने वालों के न रहने पर वह मंच का सदा जागरित रहने वाला बल भी प्रसुप्त सा ही रहता है ॥१०६॥

१. भगवान् पाणिनि ने "अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासा गर्धेषु" इस सूत्र द्वारा भोजन की इच्छा, अर्थ में अशनाया शब्द की व्युत्पत्ति की है । वह बुभुक्षा रूप अशनाया यहां वैज्ञानिक परिभाषा में किस रूप में होती है, इसका निरूपण यहां किया जा रहा है ।

मूल आत्मा में सर्वप्रथम महत् (महान्-बुद्धि) नाम का बल प्रबुद्ध होता है और वह आत्मानुगामी होता हुआ चिरकाल तक रहता हुआ आगे अनेक रूपों में विकसित होता है, आरम्भ में वह महान् बल इच्छा, विकार, आवरण इन तीन रूपों में विभक्त होता है ॥१०७॥

२. रस रूप आत्मा नाम से कहे जाने वाले मूल तत्व में सबसे प्रथम जो महान् नाम का बल जागृत हुआ और वह उस ही आत्मा को आधार बनाकर सदा के लिये आत्मानुयायी बना रहता है । पहले वह निष्क्रिय, प्रसुप्त रहता है, चैतन्य संगति के अनन्तर वह बल प्रबुद्ध होकर चिरकाल तक स्थिति पाता हुआ आगे अनेक रूपों में विकसित होते हुए आरम्भ में तीन रूपों में विभक्त होता है—ये तीन रूप वैदिक विज्ञान में इच्छाविकार और आवरण भाव में निरूपित हुए हैं । ये इच्छा ही अशनाया—अर्थात् क्षुधा, तृषा, कामना इन शब्दों से कही जाती है—यह आगे के पद्य में कहा जा रहा है । यह विषय बृहदारण्यक उपनिषत् के आरम्भ में ही कहा है—"नैवेह किञ्चनाग्र आसीद्, मृत्युनैवेदमावृतमासीद् अशनायया, अशनाया हि-मृत्युः, तन्मनोऽकुरुताऽऽत्मन्वी

स्यामिति" इत्यादि। वहां आरम्भ में अशनाया रूप मृत्यु भाव की सत्ता बताकर आगे क्रमशः सृष्टि का विकास बताया गया है। इस बृहदारण्यक श्रुति में मृत्यु पद बल का बोधक है। आत्मा अमृत रूप है और मरण धर्म वाला होने से मृत्यु रूप बल है। यह व्याख्या अनेकशः हो चुकी है। वह बल सर्वप्रथम अशनाया रूप में ही होता है—यह इस श्रुति से स्पष्ट हो गया।

इच्छा, अशनाया, तृषा और काम ये शब्द समानार्थक माने जाते हैं। अन्न को प्राप्त करने की वृत्ति यहां अशनाया कही जाती है। जो दूसरे से अन्न का आकर्षण अपने आत्मा में कर लिया जाता है ॥१०८॥

३. यहां पाणिनि के सूत्र का विरोध किया गया—यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि पाणिनि द्वारा भोजन की इच्छा के लिये अशनाया शब्द का प्रयोग किया गया है—बुभुक्षा और अन्न ग्रहण करने की इच्छा एक ही बात है। यहां भी अन्न ग्रहण करने की इच्छा को ही अशनाया कहा जाता है। जो दूसरे से अपने लिये यत्नपूर्वक ले लिया जाता है—वह ही स्वयं का अन्न माना जाता है।

[1]याचाऽशनाया स हि काम उक्तो भूमारसः कं सुखमुच्यते कम्।
नान्नात्परं कं गतिरेव तस्मिन्नमस्तदन्नार्थगतिः स कामः ॥१०६॥

[2]इडन्नमुक्तं यदिषे प्रवर्तते सा वृत्तिरिच्छा परकर्षणं हि तत्।
आकृष्य चाकृष्य परं तदात्मसात् कृत्वात्मरूपाय समर्थयत्यसौ ॥११०॥

[3]यत्पूर्णमासीदमृतं तदल्पवत् प्रजायतेऽल्पक्रमकर्मयोगतः।
तामस्य चापूर्णदिशां निर्वर्तितुं तत्राशनाया भवतीति मन्महे ॥१११॥

[4]यच्चाश्नुते स्वं तदपूर्णदेशं तदन्नमस्याशनमप्यशो वा।
अशं तदस्मिन्नयतेऽशनाया सा चाशनायाऽभ्ययते यदन्नम् ॥११२॥

अशनाया को ही काम भी कहा जाता है—काम शब्द की व्युत्पत्ति कस्य-अमः कामः होती है। क सुख का नाम है। आनन्द रूप होने से आत्मा ही क शब्द का वाच्य होता है। अमः का अर्थ गति होता है, अर्थात् आनन्द मय आत्मा की गति ही काम है—अन्न पाने के लिए ही आत्मा की गति होती है, क्योंकि अन्न को भी क शब्द द्वारा कहा जाता है—क्योंकि सुख का साधन अन्न ही होता है—अतः अन्नार्थिनी गति को काम कहते हैं ॥१०६॥

१. यहां प्रसंग से शब्दों की व्युत्पत्ति करते हैं अशनाया काम शब्द द्वारा भी कही जाती है। कस्य-अमः-कामः यह काम की व्युत्पत्ति है। क सुख को कहते हैं आनन्द रूप आत्मा क शब्द से कहा जाता है—क की अमः अर्थात् गति—वह ही काम है। आत्मा की अन्न के लिये ही गति होती है—क्योंकि क का वाच्य अन्न भी होता है—अन्न के अतिरिक्त सुख नहीं मिला करता—यह तात्पर्य है।

इष् अन्न का नाम है, इष् को पाने की प्रवृत्ति रूप मनोवृत्ति को इच्छा कहते हैं, वह अन्न दूसरे से लेकर अपने अधिकार में लिया जाता है। पराधिकृत अन्न को यत्नपूर्वक

अपने ले लेकर आत्म स्वरूप में लीन कर लिया जाता है—इस तरह इच्छा आत्मा के स्वरूप की वृद्धि करती है ।।११०।।

२. इच्छा शब्द का भी यह ही अर्थ है—यह कहते हैं,—'इष्' पद अन्न का वाचक है "इषेत्वा ऊर्जेत्वा" इस यजुर्वेद के आरम्भिक मन्त्र में इष् पद की व्याख्या भाष्यकार ने अन्न अर्थ में ही की है और निघण्टु—वैदिक कोष में इष् शब्द अन्न के पर्याय में पठित हुआ है । इष् ग्रहण के लिये प्रवृत्ति को ही इच्छा कहा जाता है । इस प्रकार इच्छा द्वारा अन्न ग्रहण करके उसको आत्मा में प्रविष्ट करके आत्मा रूप में ले जाया जाता है ।

आदि अवस्था में जो अमृतमय रस अपने आप में परिपूर्ण था वह माया बल से सीमित होकर अल्प सम हो जाता है । कर्म-मृत्यु-माया आदि पर्याय है । उस कर्म के अल्प मात्र आवरण रूप योग से वह सर्वव्यापक आत्मा भी अल्पवत् भासित होने लगता है । आत्मा की उस अल्पता रूप अपूर्णता को हटाने के लिए ही अशनाया प्रवृत्त होती है—ऐसी हमारी मान्यता है । अर्थात् अपूर्ण को पूर्ण बनाने में अशनाया साधक है ।।१११।।

३. सबसे बड़ा प्रश्न यह उठता है कि—सृष्टि की आदि अवस्था में एक ही मूल तत्व रस नाम का है—यह व्याख्यान ग्रन्थ के आरम्भ से ही किया जा चुका है । उस 'एकमेवाद्वितीयम्' से दूसरा कौन है ? किसका अपने आत्मा में प्रवेश हो सकता है ? और जो सर्वत्र व्यापक है उसमें दूसरे को अपने में लेने के लिये गतिमान होना कैसे सम्भव है ? यह सब कुछ भी युक्ति संगत प्रतीत नहीं होता । इसका समाधान करते हैं—कि रस नाम से कहा जाने वाला जो अमृत तत्व वह सृष्टि से पूर्व तो पूर्ण ही था किन्तु वही माया बल घिराव में अल्प सा जाना जाता है । अल्प सा हो जाता है क्योंकि कर्म रूप बल का आवरण रूप आक्रमण स्वयं के अल्पावस्थ होने के कारण अल्प मात्रा में ही होता है–उस अति सीमित अल्प कर्म बल से योग हो जाने पर रस भी अति सीमित अल्प भाव में आ गया सा प्रतीत होने लगता है । अल्पावस्था में बंध जाने पर भी-वह आत्मा अपने पूर्ण रूप को ही प्राप्त करने की सतत इच्छा रखता है – क्योंकि जो जिसका अंश होता है वह अपने उस अंशी को ही प्राप्त करने की चेष्टा करता है–जैसे पृथ्वी का विकार अर्थात् पार्थिव पदार्थ पृथ्वी को—यह सर्व सामान्य नियम है । तदनुसार ही पूर्णता को प्राप्त कर उस आगत अपूर्णता को दूर करने के लिए ही अशनाया प्रवृत्त होती है ऐसा ही हम मानते हैं । यह सत्य है कि शुद्ध आत्मा में निज वा पर भाव नहीं होता—किन्तु प्रकृत व्यवहार दशा का भी अपलाप तो नहीं किया जा सकता–व्यावहारिक आत्मा की व्याख्या तो तथा रूप ही की जा सकती है । वास्तविक विचार करने पर अर्थात् माया भाव को सर्वथा हटा देने पर तो न कोई परिच्छेद—सीमा है और न कोई पर है—यह तात्पर्य है । अन्य भी जो अंश माया बल ने सीमा भाव में उत्पन्न किये हैं—वे ही पर–दूसरे कहे जाते हैं उनको ही यह अशनाया बलवती होकर आत्मसात् करने का यत्न करती हैं—यह ही संगति है ।

शब्द की मर्यादा से अशनाया शब्द का उपपादन—जो जिससे प्रादुर्भूत होता है वह मूल का अन्न बनता है—इस नियम से परात् पर से पर (अव्यय) का प्रादुर्भाव होता है—वह यद्यपि परात् पर का अपना स्व है तथापि माया विशिष्ट हो जाने से वह अपूर्ण देश

(सीमितमान) में है अतः वह परात् पर का अन्न है—अशन है अथवा अश है। उस अन्न को अशनाया मूल में ले जाती है—अथवा यह भी कहा जा सकता है कि अन्न जिसकी ओर स्वयं खिचता चला जाता है, वह अशनाया है ।।११२।।

४. अशनाया शब्द की व्युत्पत्ति बता रहे हैं, आरम्भ का षत्—पर का बोधक है, वह पर भी पूर्वोक्त रीति से माया बल द्वारा अपूर्ण देश है अर्थात् परिच्छिन्न—घिरा हुआ—सीमा में है। वह मूल भोक्ता का अपना ही अंश होने के कारण स्व है अर्थात् स्व सम्बन्धी है, क्योंकि एक ही पूर्ण तत्व से प्रादुर्भूत होने से सम्बन्ध तो बना ही है—वह उस भोक्ता का अन्न बन जाता है। अन्न को ही अशन कहते हैं यदि ल्युट् प्रत्यय से बनाया जाय। अच् प्रत्यय से बनाने पर अंश भी कहा जाता है। उस अंश को आत्मा में नयति अर्थात् ले जाती है—वह अशनाया है, भोजन की इच्छा बल को अशनाया कहते हैं। अथवा अशनम्—अन्यते इस विग्रह से अन्न स्वयं अशनाया के अभिमुख हो जाता है। यह भी अशनाया की व्युत्पत्ति की जा सकती है।

[1]अशं तमानीय च तेन यत्स्व शून्योदरांशं मुहुरश्नुते तत्।
आख्यायतेऽश्नाति पदेन तत्र प्रपूर्य शून्यं भरते स्वमङ्गम् ।।११३।।

[2]यदाऽत्तुरन्तःप्रविशेदिहान्नं तदोच्यतेऽत्तैव न चैतदन्नम्।
यदात्मना तत्परिधीयतेऽन्नं तदा तदात्मैव भवेदभेदात् ।।११४।।

[3]यदन्नमश्नाति निजात्मसंमितं तदन्नमात्मानमवत्यशेषतः।
हिनस्ति तद्भूय इहाद्यते तु यत् तथा कनीयोऽन्नमवत्यलं न तम् ।।११५।।

[4]सर्वं यथा कर्षति वा स्वमन्नं तथा पराग् वा कुरुते क्व चान्नम्।
द्वयं तवैकं नु निराक्रियाया आकृष्टिरूपान्तरता प्रतीतेः ।।११६।।

[5]तत्राभिबुद्धिर्ह्यशनेऽभिमानोऽथेच्छाऽथ कर्तव्यतया क्रिया च।
इत्थं नु पञ्चावयवाऽशनाया स्याज्ज्योतिराररभ्य धृतिं नु यावत् ।।११७।।

भोजन और व्यापकता इन दो अर्थों में अश् धातु का प्रयोग होता है। भोजन में अश्नाति और व्यापकता में अश्नुते। अशनाया शब्द में ये दोनों ही अर्थ संगत हो जाते हैं। भोजन में अश (अन्न) को लेकर अपने उदर की शून्यता को पूर्ण किया जाता है। और भीतर लिया हुआ वह अश शून्य उदर में सर्वत्र व्याप्त होकर शरीर गत सारे अङ्गों का पोषण करता है ।।११३।।

१. भगवान् पाणिनि ने व्यवहार संचालनार्थ 'अश भोजने' और 'अशू व्याप्तौ' ये दो धातु व्यक्त किये हैं। जिनके 'अश्नाति' और 'अश्नुते' ये रूप भेद होते हैं। परन्तु वास्तविक परिणाम पर विचारने से दोनों में एक ही अर्थ अनुगत हो रहा है। क्योंकि यह अनुभव सिद्ध है कि अन्न का ग्रहण करके अपने शून्य (खाली) पेट को पूर्ण किया जाता है—यह ही अन्न ग्रहण का हेतु है। वह अन्न भीतर जाकर खाली जगह में सर्वत्र व्याप्त हो जाता है। इस तरह भोजन भी तो व्याप्ति ही है। अतः 'अश्नुते' और 'अश्नाति' इन दोनों में एक ही अर्थ संगत हो रहा है, केवल स्थूल दृष्टि से व्यवहार भेद हो रहा है। यह इस श्लोक का अर्थ है।

अशनाया अन्न को आत्मामय बना देती है—इस पूर्व कथन का स्पष्टीकरण करते हैं—कि भोक्ता के भीतर जब अन्न प्रविष्ट हो जाता है तब शेष में भोक्ता ही रहता है—अन्न नहीं बचता, वह भोक्ता रूप में परिणत हो जाता है। भोजन क्रिया में तो वस्त्र पहनने के समान ही बाहरी वस्तु से सम्पर्क होता है किन्तु भीतर जाने पर वह आत्मा से भिन्न न होकर आत्मा ही बन जाता है ।।११४।।

२. जब अन्न भोक्ता के भीतर प्रविष्ट हो जाता है, तब भोक्ता ही दृश्यमान रहता है, अन्न नहीं। अन्न अपना नाम और रूप छोड़ देता है—भोक्ता ही शेष रहता है—यह वेद वचन के अंश का अनुवाद है। पहले आत्मा अन्न का परिधान करता है अर्थात् वस्त्र की तरह उसे अपने में वेष्टित करता है किन्तु परिणामतः भीतर आत्मा में प्रविष्ट होकर वह अन्न आत्मा रूप ही हो जाता है, अर्थात् पदार्थगत भेदभाव समाप्त हो जाता है। यह सर्वानुभव सिद्ध है।

संसार में सब अपने लिये अन्न ग्रहण करते हैं, उसमें जितना अन्न आत्मा को अपेक्षित होता है उतना ही यदि ग्रहण किया जाता है तो वो अन्न आत्मा की वृद्धि करता हुआ आत्मा का स्व स्वरूप बन जाता है, किन्तु अन्न यदि आत्मबल से अधिक ग्रहण कर लिया जाता है तो वो अन्न पायक न होकर हिंसक हो जाता है वह आत्मा का रक्षक नहीं होता—अतः वेद में अन्न को कनीय (छोटा) कहा गया है ।।११५।।

३. वेद में मृत्युमय अन्न को 'कनीय' (छोटा या अल्प) कहा गया है—उसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं कि—आत्मा में जितना अन्न समा सकता है उतना ही यदि ग्रहण किया जाय तो वह सम्पूर्ण अन्न आत्मा की रक्षा करता है। आत्मा के बल से अधिक खाये जाने पर वही अन्न मारक हो जाता है। "अन्न शब्द का निर्वचन 'अद्यते इति अन्नम्' अर्थात् जो खाया जाता है—वह अन्न है और 'अत्ति इति अन्नम्' अर्थात् जो खा जाता है—वह अन्न है इन दो अर्थों में हुआ है—दोनों अर्थों का स्पष्टीकरण यहां किया गया है। इस कारण ही वेद वचन में बताया गया है कि आत्म बल के अनुरूप अल्प अन्न ही ग्रहण किया हुआ आत्म बल की रक्षा करता है—अतः अन्न कनीय (अल्प) कहा गया है।

सब लोक जो अपने पोषण के लिये समुचित अन्न ग्रहण करते हैं वह अशनाया द्वारा अन्न का कर्षण है और अधिक खा लेने पर जो वमन आदि विकर्षण-विरुद्ध कर्षण है, ये दोनों प्रक्रिया अशनाया बल से ही होती हैं। एक में अन्न का आकर्षण है तथा एक में निराकरण है—कर्ष धातु ही दो भिन्न रूपों में प्रतीत हो रहा है ।।११६।।

४. अधिक खाये हुए को आत्मा वमन आदि के द्वारा त्याग देता है। इस भोजन क्रिया में अन्न को भीतर ले जाने को आकर्षण कहते हैं—तथा पराग् अर्थात् विपरीत ले जाना—परित्याग कर देना यह विकर्षण कहलाता है। ये आकर्षण और विकर्षण एक ही क्रिया के परिणाम हैं अतः दोनों को एक ही समझना चाहिये। मूल में निराक्रिया रूप परित्याग को 'आकृष्टि का ही रूपान्तर बताया गया है। स्पष्ट तात्पर्य यह है कि आकर्षण और विकर्षण ये दोनों अशनाया बल के ही रूप हैं।

पंच विधा अशनाया–१ अभिबुद्धि–अन्न के लिये बुद्धि की अभिमुखता । २ अभिमान अन्नमय हो जाना । ३ इच्छा ४ कर्तव्यता ५ कर्तव्यता से प्रेरणा पाई हुई क्रिया । ये अशनाया के पांच अवयव हैं -ज्योति से प्रारम्भ होकर धृति पर्यन्त ये व्याप्त होकर क्रियाशील रहते हैं ।।११७।।

५. पांच अवयव वाली अशनाया के अवयव १ भोजनाभिमुखी बुद्धि । २ अभिमान ३ इच्छा ४ कर्तव्यता ५ कर्तव्यता द्वारा प्रेरित क्रिया । पहले जो ज्योति, प्रतिष्ठा और विधृति इन तीनों की व्याख्या हुई है, वहां ज्योति से लेकर विधृति पर्यन्त इस अशनाया बल की प्रवृत्ति होती रहती है ।

[१]विस्रस्य तु ज्योतिरिहात्मनश्चेदग्रेऽशनस्याभिमुखं प्रयाति ।
सैषाऽभिबुद्धिस्तमशं ततोऽभिव्याप्नोति तद्रूपतयाऽभिमानः ।।११८।।
तेनात्मविस्रस्त विभागपूर्त्यै या बुद्धिरिच्छा खलु साऽथ यत्नः[२] ।
कर्तव्यताऽऽत्मोदरसक्तिरस्य[३] क्रिया ततोऽन्नं भवतीदमात्मा[४] ।।११९।।
[५]द्विधाशनाया भवतीयमस्यात्मनोऽन्यभुक्तस्यतथाऽन्यभोक्तुः ।
स क्षीण आत्मा तु दरिद्र उक्तो योऽन्येन भुक्तः कलया क्वचित् स्यात् ।।१२०।।
स चाशनाया वशतः स्वहीनां कलां भरत्येष न वृद्धिमेति ।
क्षीणोऽथ यावत् स ततोऽधिकान्नं गृह्णन् पुनर्वृद्धिमुपैति काले ।।१२१।।
अथान्न[७] भोक्ता क्रमशोऽशनायावशाद्विहान्नं स्ववशे करोति ।
तेनाऽयमात्मा क्रमशोऽभिवृद्धः पुनर्महानेव पुनर्महान् स्यात् ।।१२२।।
रसः[८] समत्वं विषमत्वमस्मिन् बलं तदेतद् द्वयमत्र चिन्त्यम् ।
वैषम्यमायाति बलेन यद्यद् रसेन साम्यं पुनरेति तत्तत् ।।१२३।।
समत्वमात्मा[९] विषमत्ववृत्तेः साम्याय तस्माद् भवति प्रवृत्तिः ।
भरन् विरिक्तं त्वतिरिक्तमंशं समुद्धरन्नेव समीक्रिया स्यात् ।।१२४।।

आत्मा रूप ज्योति जब स्व स्वरूप से पृथक् भाव में अन्न ग्रहणार्थ अन्नाभिमुख होती है वह अभिबुद्धि रूप अशनाया है । आगे वह ज्योति उस अन्न में सर्वतो भावेन व्याप्त हो जाती है—वह अभिमान रूप है ।।११८।।

१. उन पांच अशनाया अवयवों की क्रमशः व्याख्या करते हैं—आत्मा रूप जो ज्योति है—वह अपने घनभाव से विस्रंसित (पृथक्) होकर—आगे अन्न के अभिमुख होकर प्रवृत्त होती है—वह अभिबुद्धि नाम से परिभाषित है । उसके अनन्तर वह ज्योति अन्न में सर्वतः व्याप्त हो जाती है—यह अभिमान है । अभिमान शब्द की बड़ी स्वाभाविक व्युत्पत्ति बताई अभि–मान, अभि, सब ओर से—मान अर्थात् मनन अन्न का सर्वतो भावेन मनन 'अभिमान' ।

उक्त आन्तर प्रक्रिया से अन्न ग्रहणार्थ जो ज्योतिमय आत्मांश का विभाजन हुआ उस रिक्तता की पूर्ति के लिये जो बुद्धि प्रवृत्ति होती है—वह इच्छा कही जाती है । आगे तदर्थ जो यत्न किया जाता है—वह कर्तव्यता-अवश्यकरणीयता है । उस प्राप्त अन्न को अपने

उदर में पहुंचा देने वाली क्रिया होती है। इस प्रकार वह अन्न भोक्ता के रूप में बदल जाता है ॥११६॥

२-३-४. यहां कर्त्तव्यता यत्न पद से कही गई है। आत्मोदर सक्ति का तात्पर्य—अन्न का यथास्थान स्थापन अर्थात् अन्न को उदर रूपता में ले जाना। इस प्रकार अन्न आत्मा का अर्थात् भोक्ता का ही रूप बन जाता है।

आत्मा का निकटतम सम्बन्धी पंचावयव अशनाया बल स्वयं दो प्रकार का हो जाता है। एक वह जिसके आत्मा का भोक्ता अन्य आत्मा हो गया है—अर्थात् अन्य आत्मा से स्वयं भुक्त हो रहा है। इस भुक्त आत्मा सम्बन्धी एक अशनाया बल। उदाहरणतः ऋण ग्रस्त आत्मा जो ऋण नहीं चुका पा रहा है—वह ऋणदाता से भुक्त आत्मा है। ऋणदाता भी वहां भोक्ता बना हुआ है। अशनाया बल दोनों से सम्बद्ध है। ऋण ग्रहण करने वाला आत्मा अन्य द्वारा भुक्त होने के कारण क्षीणता वश दरिद्रभावापन्न आत्मा कहा गया है। वह क्षीण आत्मा कला मात्रेण शेष रहा प्रतीत होता है ॥१२०॥

५. आधार में भेद हो जाने से अशनाया दो प्रकार की कही जाती है। अन्य के द्वारा भुक्त आत्मा में अशनाया का एक रूप। तथा अन्य भोक्ता में भी अशनाया अपने द्रव्य को पुनः प्राप्त करने की होती है—वह दूसरा रूप।

अन्य द्वारा भुक्त आत्मा दरिद्र क्यों होता है? उसकी विवेचना करते हैं—कहा जा चुका है कि अशनाया बल दोनों आत्माओं से सम्बद्ध है—अतः जो ऋणग्रस्त आत्मा है—वह अशनाया के वशीभूत होकर अपने हीन अंश की पूर्ति करने में ही इधर-उधर भटकता रहता है—अर्थात् उतना मात्र अन्न प्राप्त कर पाता है—जिससे प्रवाह मृत्यु जनित हीन अंश की पूर्ति करता हुआ जीवित रह सके—वह आत्मा तब तक क्षीण रहता है—जब तक ऋण उतार नहीं देता—उस आत्मा की भूमा रूप वृद्धि नहीं हो पाती। लम्बे समय के अनन्तर अपनी क्षुधा निवृत्ति से अधिक अन्न प्राप्त कर जब ऋण मुक्त हो जाता है—तब आगे बची हुई आयु में वह फिर भूमा रूप वृद्धि भाव की ओर अग्रसर हो पाता है। वृद्धि भाव में बाधा आ जाना दरिद्रता है ॥१२१॥

दूसरा आत्मा जो स्वतन्त्र भोक्ता है—वह अशनाया के वशीभूत होकर अपने भरण पोषण से अधिक अन्न का संचय कर अपने अधिकार में कर लेता है—उससे उस आत्मा की क्रमशः सब तरह की वृद्धि होती है—अतः वह पुनः पुनः महान् से महान् होता चला जाता है—अपने भूमा भाव को प्राप्त करने का यत्न करता रहता है ॥१२२॥

७. दूसरे प्रकार का अशनाया बल—जो स्वयं क्षीण (दरिद्र) नहीं होकर भी अपनी वृद्धि के लिये अधिकाधिक अन्न का ग्रहण कर संचय करता रहता है—उसकी महत्ता का प्रकार बताया गया है। यह स्मरण रहे कि इन सब जगह आत्मा शब्द के द्वारा माया बल विशिष्ट रस ही कहा गया है, सृष्टि कारकता उसमें ही होती है।

रस की सत्ता सर्वत्र समान है—अतः रस की समता कही गई है, बल स्वभावतः विषम है—इन दोनों के इस सम-विषम भाव को गहराई से देखना चाहिये, विषमता ही

संसार में प्रधान रूप से देखी जाती है—उस विषम भाव में भी संसार की प्रवाह रूप नित्यता कैसे रह पाती है—वह बताते हैं कि बल की विषमता के कारण ही रिक्तता-हीनता-जनित दुःख की प्रतीति होती है—उस वैषम्य जनित रिक्तता को रस अपनी स्वाभाविक समता से सभभाव में ले आता है—चक्र चलता रहता है ।।१२३।।

८. रस सदा सर्वत्र समान रूप से रहता है अतः समत्व गुण रस का ही कहा जाता है । बल विषम है अतः वैषम्य (भेदभाव) बल का गुण है । इन दोनों का सदा ध्यान रखना चाहिये । बल की प्रवृत्ति से प्रत्येक पदार्थ में विषमता आती है—रस उसको सम कर देता है । उपरोक्त अशनाया प्रक्रिया से जो अन्न दूसरे में प्रवेश करता है—वह भी तो रस-बल संश्लेष से ही उत्पन्न होता है—अतः उस अन्न में जो रस है वह ही क्षीण अंश की पूर्ति रूप क्षमता को बनाता है । यह तात्पर्य है ।

समताभाव का स्पष्टीकरण—समत्व अर्थात् रस—वह ही आत्मा पदवाच्य है, बल के द्वारा वैषम्य रूप जो रिक्तता आती है उसके समीकरण के लिये आत्म प्रेरणा होकर प्रवृत्ति होती है । समीकरण प्रक्रिया बताते हैं कि प्रतिक्षण विनाश शील बल से सम्बन्धित जो विरिक्त (खाली-अपूर्ण) अंश जो कि क्षुधा रूप में अतिरिक्त न केवल भासित होता है—अपितु न मिलने पर स्पष्ट ही दुःख रूप हो जाता है, इस दुःखदायी रिक्तता को अन्न पूर्ति के द्वारा हटा देना ही समीकरण है ।।१२४।।

९. पूर्वोक्त को स्पष्ट कर रहे हैं—श्लोक में समता पद से रस का संकेत है—वह रस आत्मा ही है । अतः आत्मा की प्रेरणा से समता प्राप्त करने के लिये सब की सहज प्रवृत्ति होती है । यह आत्मा विरक्त अथात् शून्य भूत की पूर्ति करता है अर्थात् जो अतिरिक्त अंश हो गया है उस रिक्तता को अन्न रूप से पहुंच कर उखाड़ फैंकते हुए सभी क्रिया—समता अवस्था का सम्पादक वह आत्मा ही होता है । यह तात्पर्य है ।

बलस्य[1] मृत्योर्मरणस्वभावाद् भवेत् परेणाहरणाच्च रिक्तम् ।
ऊने स्वभक्ते च समीक्रियार्थात्स्वांशप्रदानाच्च भवेद् विरिक्तम् ।।१२५।।

यावद्रसस्यावरणात्[2] कृतात्मता तावद्बलस्यायतनं नियम्यते ।
स्यात्तत्र चेदायतने विरिक्तता तदाशनाया समतामिहार्पयेत् ।।१२६।।

विरिक्ततायाः[3] अतिरिक्ततायाः अप्यस्ति सर्वायतनेषु सीमा ।
सीमानमुल्लङ्घ्य भवेद् विरेकाऽतिरेकयोरर्थविनाश एव ।।१२७।।

स्वं रिक्तमंशं[4] भरते यदन्यतो बलात् तदन्तर्यमनं समीक्रिया ।
स्वस्यातिरिक्ताच्च परस्य रिक्तकं भरन्नुपांशुः क्रमते समीक्रिया ।।१२८।।

वेदना रूपिणी वह रिक्तता तीन कारणों से होती है—प्रथम कारण तो बल का मरण स्वभाव है तत् सम्बन्ध से रिक्तता, अन्य कोई बल का अर्थात् हमारे अन्न का अपहरण करले उसके कारण रिक्तता, एवं च किसी निकट आत्मीय जन की हीन अवस्था में उसे अपना अंश दे दिया जाय उससे समुत्पन्न रिक्तता ।।१२५।।

१. यदि यह शङ्का की जाय कि रस जब समता रूप है तो उसमें रिक्तता हो ही कैसे सकती है? इसका समाधान करते हैं। बल की न्यूनता को ही रिक्तता कहते हैं, तथा बल की अधिकता महत्ता कही जाती है। बल मरण स्वभावी है अर्थात् अपने आप ही कहीं नष्ट हो जाता है—इस कारण ही बल की मृत्यु संज्ञा है। इसलिये बल के नष्ट हो जाने पर कहीं रिक्तता हो जाती है, कहीं, दूसरे के द्वारा अपहरण से बल की हानि हो जाती है, और कहीं अपने भक्त अर्थात् निकट सम्बन्धी की हीन दशा को हटाने के लिये अपना बलांश दे दिया जाय तब रिक्तता होती है। इस तरह तीन प्रकार से रिक्तता होती है।

रस का बल के द्वारा आवरण (सीमाकरण) जितने प्रदेश में होता है, वह ही पृथक्-पृथक् आत्माभाव प्रतीति का हेतु है और बल के आधारभूत उस आत्मा का ही एक-एक प्रदेश बनता है। उस बलविशिष्ट आयतन रूप प्रदेश भाव में जब रिक्तता आती है तब अशनाया उस रिक्तता का समीकरण करती है ।।१२६।।

२. यहां यह जिज्ञासा होती है कि—रस तो व्यापक होकर समान भाव में सर्वत्र रहता है—उस रस में रिक्तता रूप कमी होना और उस रिक्तता की पूर्ति होकर महत्ता रूप वृद्धि होना सम्भव ही नहीं है, और बल अत्यन्त अणु रूप होता है—वह अल्प स्थानीय स्वभाव से है—यह व्याख्या भी की जा चुकी है, तब उस बल में रिक्तता तथा महत्ता कैसे हो सकती है। तब फिर यह रिक्तता किसकी बताई जा रही है? इसका समाधान करते हैं कि बल विशिष्ट रस को ही यहाँ आत्मा पद से कहा गया है उस विशिष्ट आत्मा की ही रिक्तता तथा महत्ता होती है। बल यद्यपि अत्यन्त अणु होता है तथापि उन बलाणुओं का जब प्रवाह रूप पुंज (समूह) बन जाता है तब वह व्यापक रस के जितने अंश का आवरण (सीमा) करता है उतना ही एक आत्मा का प्रदेश माना जाता है। यद्यपि बल के ही अंश रूप प्रदेश होते हैं—व्यापक रस में स्वरूपतः प्रदेश कल्पना नहीं होती तथापि प्रवाह रूप पुंजी भूत बल के द्वारा रस के जितने अंश का सीमा भाव रूप आवरण हो जाता है उतना ही रस का अंश कहा जाता है। इस प्रक्रिया से रस का एक एक आयतन (प्रदेश) नियत हो जाता है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि माया विशिष्ट आत्मा में सीमित प्रदेश भाव बनते हैं। यह ही कारण है कि मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सारा प्राणी वर्ग तथा पर्वत, नदी आदि अचेतन वर्ग एक निश्चित सीमा प्रदेश में स्थिति पाते हैं। इस नियत प्रदेश में अर्थात् तत् तत् शरीर संस्थाओं में न्यूनता आ जाने को ही रिक्तता कहा जाता है, उस रिक्तता को ही सीमित रसानुगता अशनाया अन्य स्थान से अन्न लाकर पूर्ण करती है। फलस्वरूप वृक्ष आदि में तथा मनुष्य, अश्व आदि में उन सबकी वृद्धि के लिये ही अशनाया प्रवृत्त होती है वह उनकी वृद्धि करती है। तात्पर्य यह है कि अन्न जो अशनाया द्वारा लाया जाता है उससे ही रिक्तता, पूर्ति और वृद्धि हुआ करती है।

बल के आयतन (आधार) रूप रस के सीमा भाव जो सर्व नियत रहते हैं—इनमें होने वाली कथित रिक्तता तथा अतिरिक्तता (वृद्धि) की भी सीमा नियत रहती है। सीमा का उल्लंघन कर देने वाली रिक्तता अथवा अतिरेक (वृद्धि) से तो पदार्थ का स्वरूप नाश ही हो जाता है ।।१२७।।

३. प्रवाह रूप में सामूहिक पुंजीभूत बल के द्वारा ही रस के कुछ अंश के आवृत हो जाने से सीमा का नियमन होता है। रिक्तता अथवा अतिरिक्तता भी सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकती अर्थात् कमी और वृद्धि की भी सीमा होती है। सीमा का अतिक्रमण करने वाली रिक्तता या वृद्धि से तो नाम-रूपधारी उस पदार्थ का नाश ही हो जाता है अर्थात् पदार्थ का नाम-रूप ही नहीं रह जाता—वह वस्तु अन्य रूप में बदल जाती है। अतएव वृक्ष आदि अचर आदि का तथा सारे चर प्राणियों का शरीर रूप सन्निवेश नियत ही होता है। न तो उनमें उच्छृङ्खल वृद्धि हो सकती है और न ही अत्यन्त अणु रूपता आ सकती है।

उपरोक्त रिक्तता तथा समीकरण को ही अन्तर्याम तथा उपांशु नाम से भी जाना जाता है, जहां अपने रिक्त अंश को अन्य स्थान में अशनाया द्वारा अन्न लेकर भरण किया जाता है यह अन्तर्यमन (भीतर लेकर नियत कर लेना) रूप समीकरण होता है। एवं च जहां अपने अधिकार के अधिक अन्न से अन्य किसी स्व जन को रिक्तता का प्रदान करके पूर्ण किया जाय वहां उपांशु रूप समीकरण होना है ।।१२८।।

४. उक्त दोनों प्रकारों के भिन्न नाम बताते हैं—जो आत्मा स्वयं में रिक्तता का अनुभव करता हुआ अपनी स्वरूपानुगता अशनाया द्वारा अपने रिक्त अंश की पूर्ति करता है—वह पूर्तिभाव अन्तर्यमन अथवा अन्तर्याम नाम से वेद में कहा जाता है और यदि कोई महान् धनशाली अपने आप ही अपने दीन हीन स्व जन को अपना अंश अर्पण कर देता है तो वह धन का अर्पण उपांशु नाम से कहा जाता है।

उपांशुरन्तर्यमनं[1] च सर्वदा प्रत्यर्थमस्त्यव्यभिचारतो द्वयम् ।
सर्वेऽपि तस्मात्परतोऽर्थमाहरन्त्यनुक्षणं चाधिकमुत्सृजन्त्यपि ।।१२६।।

[2]सूर्यः समन्तादप आहरत्यथ प्राणं च सर्वस्य यथा हरत्ययम् ।
तथाऽखिलेभ्योऽप्यनिशं ददात्यपः प्राणं च सर्वेषु निवेशयत्यसौ ।।१३०।।

[3]चराचरप्राणिशरीरवर्तिनो देवाश्च भूतानि च धीश्च सर्वतः ।
क्षरन्ति चामुत्र सरन्ति संततं प्रतिक्षणं चाददतेऽमुतः समम् ।।१३१।।

[4]उपांशुरन्तर्यमनं च यद्द्वयं प्रत्यात्मदोलायितमित्थमीक्ष्यते ।
तदिष्टमस्मिन्नशनायया कृतं त्वस्मिन्परस्मिन्नपि यन्नयत्यशम् ।।१३२।।

[5]उपांशुरन्तर्यमनं च यद् द्वयं द्वयोर्विभेदेन तदर्थयोः क्वचित् ।
क्वचित्पुनः स्यादुभयं तदेककस्यार्थस्य वृत्तिद्वयसंभवादपि ।।१३३।।

द्विष्ठं यदेतद्द्वयमस्ति तर्हि प्राणस्तथाऽपान इति प्रसिद्धिः ।
एकस्थमेतद्द्वयमस्ति तर्हि प्राणस्तथोऽदान इति प्रसिद्धिः ।।१३४।।

संसार के प्रत्येक पदार्थ में उपांशु और अन्तर्याम सदा निश्चित् रूप से प्रवृत्त रहते हैं, अतएव सब कोई अपने पोषणार्थ दूसरे से धन यत्नपूर्वक ग्रहण करते हैं और अपने पास के अधिक धन को आवश्यकतानुसार अन्य को देते भी रहते हैं, यह प्रक्रिया प्रतिक्षण चलती रहती है ।।१२६।।

१. पूर्व श्लोक में कथित उपांशु और अन्तर्याम अशनायाबल के ही रूप हैं। वे दोनों सदा दृश्यमान और अदृश्यमान सब पदार्थों में नियत रूप से प्रवृत्त रहते हैं। उससे दूसरे से कुछ अपने लिए लेते रहना और अपने पास रहने वाले अधिक धन का दान दूसरे के लिए करते रहना यह दान और आदान (ग्रहण) रूप प्रक्रिया सदा सर्वत्र व्याप्त रहती है।

उदाहरणार्थ – सूर्य सब स्थानों से जलरूप रसभाग को किरणों द्वारा अपने में खींचता रहता है एवं च इसी तरह सब प्राणिवर्ग के प्राणांशों का भी हरण करता रहता है और त्याग प्रक्रिया में सारे संसार के पोषणार्थ रातदिन जल दान देकर उनके प्राणों को यथा स्थान सन्निविष्ट भी रखता है ।।१३०।।

२. यहां दृष्टान्त रूप में सबसे प्रधान सूर्य को ही बताया गया है – वेद में "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः" इस श्रुति वाक्य द्वारा सूर्य की प्राणरूपता आम्नात हुई है। एवं च प्राण और शक्ति की व्याख्या बल और विधारण (प्रतिष्ठा) रूप में की गई है। उस बल और धारणास्वरूप प्राण का समर्पण सूर्य सदा सर्वत्र करता रहता है और तत् तत् स्थान से अधिक अंशों का अपने में आकर्षण करता है। जल का सूर्य के द्वारा आकर्षण और प्रदान तो सब शास्त्रों में घोषित होने के अतिरिक्त सुस्पष्ट भी है। सूर्य द्वारा सर्वत्र प्राणों का सन्निवेश रहना ही "निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च" इस मन्त्र द्वारा उपदिष्ट हुआ है। उस को ही यहां स्पष्ट अक्षरों में पद्य रूप में कहा गया है।

चर तथा अचर सब प्राणियों के शरीर में रहने वाले देवगण, पंचमहाभूत तथा बुद्धि नित्य शरीर से बाहर निकल कर सूर्य में जाते हैं और सूर्य से नवीन रूप लेकर अपनी सम अवस्था में लोट आते हैं। यह प्रक्रिया प्रतिक्षण चलती रहती है ।।१३१।।

३. इस चराचर जगत् में सबके शरीरों में इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवता हैं, शरीर के स्थूल भाव में भूतों की स्थिति है और बुद्धि में सब सूर्य के अंश रूप हैं अतः इन सबका नित्य क्षरण अर्थात् शरीर से बाहर निःसरण होता है, अमुत्र (सूर्य में) संचरण होता है—ये शरीर से बाहर निकलकर सूर्य के आकर्षण से खिचकर सूर्य मण्डल में जाते हैं और प्रतिक्षण नये नये होकर सूर्य से लोटकर सब पदार्थों में प्रविष्ट होते रहते हैं, यह ही आदान (ग्रहण) कहा जाता है। इस प्रकार प्रतिक्षण सर्वत्र परिवर्तन होता रहता है। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि सबमें रस सदा एक रूप में ही अनुगत रहता है अतः परिणाम रूपता ही हमारे शास्त्रों में मानी जाती है – बौद्ध जनाभिमत सर्वथा असम्बद्ध विनाश नहीं माना जाता।

उपांशु और अन्तर्याम ये जो दो आदान-प्रदान रूप हैं—ये प्रत्येक आत्मा में दोलायित अर्थात् झूले में झूलने से सतत इत स्ततः होते प्रतीति में आते हैं यह इनका दोलन क्रम इनको अभीष्ट होता है और यह अशनाया द्वारा सम्पादित होता है – अभीष्ट इस कारण है कि यह यहां और वहां दोनों जगह अन्न पहुंचा रही है। (सूर्य भी ले रहे हैं, हमको भी मिल रहा है। यहां हम भी पा रहे हैं—अन्य भी पा रहा है) ।।१३२।।

४. इस प्रकार उपांशु अर्थात् दूसरे को अपना धन देना और अन्तर्यमन—अपने लिये अपने भीतर लेकर रखना—आदान ये जो दोनों कथित हुए हैं, ये आदान-प्रदान अशनाया नाम के बल द्वारा

ही किया जाता है। अशनाया अपने लिये भी और अन्य के लिये भी अश अर्थात् अन्न की योजना करती है।

उपांशु और अन्तर्याम ये दो हैं और दोनों में परस्पर भेद है—इनके भेद से ही पदार्थों में भेद होता है, यह जगत् अवस्था की स्वाभाविक अग्रेतन अवस्था है। मूल सर्जन के आरम्भ काल में तो एक ही पदार्थ की आदान-प्रदान अथवा उपांशु—अन्तर्याम ये दोनों वृत्ति मानी गई हैं—क्योंकि उस 'एकमेवाद्वितीयम्' अवस्था में अन्य कोई है ही नहीं—वहां स्वयं में ही आदान-प्रदान चलता है ।।१३३।।

५. पूर्व उदाहरण में सूर्य द्वारा अन्य से अन्यत्र प्रदान और अन्यों द्वारा सूर्य में समर्पण कहा गया—किन्तु कहीं एक ही ग्रहण करता है—तथा उत्सर्ग भी करता है। जैसे आग की चिनगारियां कहीं रखे हुए जलते काष्ठ में से निकलकर स्वयं ही इंधन रूप अन्न को स्वयं में समेट लेती हैं और अन्यों को स्वयं ही प्रकाश भी देती हैं। सृष्टि के आदिकाल में तो एक ही मूल तत्व है, वहां परस्पर आदान अथवा दूसरे में समर्पण कथमपि उपपन्न नहीं होता। वहाँ एक ही पदार्थ है—वह अपने ही अंश को ग्रहण करता है और अपने ही अंश को अपने में ही अर्पण करता है। इस हेतु ही वेद में तथा पुराणों में विराट् पुरुष के अपने शरीर के अवयवों का यज्ञ, पुरुष सूक्त आदि में व्याख्यात है। वहां प्राण अपान-उदान रूप संज्ञा भेद आगे बताये जा रहे हैं।

उपांशु और अन्तर्यमन जब दो में प्रवृत्त होते हैं तब उनकी प्राण और अपान संज्ञा होती है। एक में ही जब ये दोनों भाव होते हैं तब प्राण और उदान नाम से प्रसिद्ध होते हैं ।।१३४।।

[1]अन्यद्बलं प्राणनवृत्ति यत्स्यादन्यत्तथाऽपाननवृत्ति दृष्टम् ।
अपेक्षते तद्द्वयमत्र मात्रां व्यानस्य तद्धचायतनं तयोः स्यात् ।।१३५।।

[2]व्यानस्य चाणुत्वमहत्त्वभेदाद् रिक्तातिरिक्तत्वविशेषतो वा ।
अश्नाति सर्वोऽल्पमनल्पमर्थं तदल्पताधिक्यमितिश्च सिद्धा ।।१३६।।

[3]उक्तं यदत्रायतनं तयोर्द्वयोर्न तद्रसस्यावरणं विना भवेत् ।
तस्मात्तमोमानधृतात्मनि ध्रुवं सदाशनाया भवतीति मन्महे ।।१३७।।

एकं बलं प्राणनवृत्ति यद्भवेत्तदेव लब्ध्वा प्रतिपन्थिनोदनाम् ।
पश्चादिहोदाननवृत्ति जायते गतिर्विरूद्धैकगता ततो भवेत् ।।१३८।।

व्यानस्य नम्यस्य कृतात्मनः कृता सा नोदनैकस्य गतौ विरोधकृत् ।
तस्मात्तमोरूपधृतात्मनि ध्रुवं सदाशनाया भवतीति मन्महे ।।१३९।।

[4]यथा खलु प्राणिशरीरनिष्ठव्यानेऽल्पकात्मन्यधिकात्मके वा ।
सौरं बलं प्राणनवृत्ति यद्दृष्टं तद्वत्सदापाननवृत्ति भौमम् ।।१४०।।

सौरं बलं प्राणनवृत्ति यत्स्यात्तदेव तु व्यानमुपेत्य भूयः ।
उदानवृत्या पुनरूर्ध्वगामि प्रजायते तद्द्वयमत्र दृष्टम ।।१४१।।

प्राणन (ग्रहण) और अपानन (त्याग) दोनों विभिन्न अवस्था के बल हैं। इनमें मात्रांश का भेद व्यान प्राण से होता है, व्यान दोनों का आधार है ।।१३५।।

१. अपने में ग्रहण भाव को प्राणन बल, तथा अन्य के लिये त्याग को अपानन कहते हैं—यह पहले पद्य में कहा गया है। वे दोनों भिन्न-भिन्न बल हैं। परन्तु कितनी मात्रा में प्राणन होवे और कितना अपानन होवे यह मात्रा का नियमन व्यान द्वारा किया जाता है। यह व्यान ही प्राण और अपान दोनों का आधार है। श्रुति वचन है कि—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ।। इति । (कठोप. ५ बल्ली ५ म.)

इस श्रुति का स्पष्टार्थ ही पद्य में किया गया है।

व्यान रूप प्राणवायु की अणुता और महत्ता के भेद से ही अशन में अल्पता तथा वृद्धि होती है। व्यान प्राण यदि अधिक मात्रा में प्रबल होता है तो अधिक खाया या भोगा जाता है, अल्प मात्रा होने पर अशन भी अल्प होता है। इससे ही वृद्धि तथा अल्पता सिद्ध होती है ।।१३६।।

२. यह ध्यान रहे कि व्यान प्राण देव रूप वायु का अंश है जिसका व्यान वायु अणु अर्थात् अल्प बल वाला है—वह रिक्त कहलाता है, जिसका व्यान महान् है अति बलशाली है—वह अतिरिक्त कहा जाता है। व्यान की अणुता में भोग भी अल्प ही होता है। किन्तु जिसका व्यान महान् है वह महाभोक्ता होता है। इस व्यान के अनुसार ही प्राण और अपान की प्रवृत्ति होती है।

प्राण और अपान का आयतन (आधार) रूप जो उदान विवेचित हुआ है—वह माया संवलित रस के बिना सम्भव नहीं हो सकता माया से आवरित अर्थात् सीमाबद्ध रस ही आधार बनता है। सीमा रूप आवरण सदा तमस् (अन्धकार) किया करता है। निष्कर्ष यह है कि तमोगुण से आवृत आत्मा में ही निश्चित रूप से रिक्तता को पूर्ण या सम करने वाली सदा अशनाया होती है, यह हमारी मान्यता है ।।१३७।।

३. अति अणु होने के कारण न तो केवल बल का आयतन (आश्रय) भाव बन सकता है, और आकाश के समान सर्वत्र विभु व्यापक होने से रस का भी आयतन भाव नहीं बनता। अतः बल से आवरित रस का आयतन भाव जानना चाहिये। आवरण करने वाला तम-नाम से कहा जाता है—यह आगे आवरण प्रकरण में बताया जायगा। स्पष्ट यह हुआ कि तमोगुण से घिरे हुए रस में अशनाया प्रवृत्त होती है। आगे के पद्य में व्यान को नभ्य प्राण कहा जा रहा है—उसकी ही मध्यस्थता कही है। मध्य केन्द्र को ही नाभि कहा जाता है यह आरम्भ में कहा जा चुका है।

एक बल जो प्राणन (आदान) रूप में प्रवृत्त होता है—वह ही विरोधी बल की प्रेरणा पाकर पीछे उदान स्वाभावी बन जाता है। प्राण और उदान की एकत्र स्थिति का संकेत पूर्व किया गया है—फलस्वरूप प्राणन की विपरीत गति हो जाती है ।।१३८।।

नाभि केन्द्र स्थित व्यान प्राण जो आत्मानुगामी होकर आत्मा रूप बन चुका है—वह ही उस विपरीत गति का प्रेरक होता है—उससे एक प्राण की स्वाभाविक गति विपरीत हो जाती है। वह व्यान भी बल का ही रूप है—अतः तमोगुण से सीमाबद्ध आत्मा में ही निश्चित रूप से अशनाया सदा प्रवृत्त होती है यह ही हमारी मान्यता है ॥१३९॥

जैसे प्राणी मात्र के शरीर में व्यान प्राण अल्प वा अधिक मात्रा में रहता है और तदनुसार ही प्राणन-अपानन होता है। इनमें प्राणन (आदान) स्वाभावी बल सूर्य का बल होता है तथा अपानन (विसर्ग) स्वाभावी बल भूमिका होता है ॥१४०॥

४. प्राणियों के शरीर में प्राण—अपान-व्यान आदि प्राणों के विभागों की व्याख्या कोश ग्रन्थों में की गई हैं। अमर कोश में—हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि केन्द्र में समान, कण्ठ में उदान तथा सारे शरीर में संचरण शील व्यान, व्याख्यात है। इनमें प्राणन रूप प्रवृत्ति सूर्य के बल से होती है और अपानन प्रवृत्ति भूमि के बल से। सूर्य से आता हुआ जो बल हृदय में प्रतिष्ठित होता है—वह प्राण नाम से कहा जाता है, भूमि से आता हुआ जो बल गुदा को आधार बनाकर रहता है—वह अपान कहा जाता है। प्राण ही व्यान के पास आकर उसके सम्पर्क से ऊर्ध्वगामी हो जाता है—वह उदान है। अपान वायु रूप प्राण, ऊपर आता हुआ व्यान से आघात पाकर समानता में आकर नीचे लोट जाता है। मनुष्य, पशु आदि बच्चों का जन्म काल में शिर भाग ही प्रथम उठता है—वह ऊपर की ओर ही उठा दिखाई देता है, यह सूर्य बल का प्रभाव है। शरीर में शिर के भाग में ही सूर्य के आकर्षण का विशेष प्रभाव कहा गया है, किन्तु भूमि को छोड़कर सारा शरीर ऊपर नहीं जाता—यह भूमि बल के आकर्षण का प्रभाव है। इस सारे विषय की व्याख्या अनेक श्लोकों द्वारा स्पष्ट अक्षरों में की गई है उसे विद्वानों को स्वयं जान लेना चाहिये।

सूर्य सम्बन्धी प्राणन स्वभाव वाला प्राण नाम का बल व्यान का सामीप्य पाकर उदान वृत्ति द्वारा फिर ऊर्ध्वगामी हो जाता है—ये दोनों बात संसार में देखी जाती हैं ॥१४१॥

> कृमेः पशोः पञ्चजनस्य यच्छिरो यात्यूर्ध्वतः प्राणकृतं तदिष्यते।
> न प्राणिनां वर्ष्म तु विप्रकृष्यते क्वचित्पृथिव्यास्तदपानकर्मणा ॥१४२॥
>
> प्राणो न चेदत्र भवेत्तदा शिरो न प्राणिनां भूमित उत्थितं भवेत्।
> न चेदपानोऽत्र भवेत्तदा वपुः समुत्थितं सूर्यगतं तदा भवेत् ॥१४३॥
>
> [1]पृथ्वी निजव्याननिबद्धविग्रहा संवत्सरेऽर्केण च संनिकृष्यते।
> क्वचित्पुनस्तेन च विप्रकृष्यते तत्प्राणनापाननवृत्त्यपेक्षया ॥१४४॥
>
> प्राणो न चेदत्र भवेत्तदा मही सूर्यादिसंबन्ध[2]वशात्क्वचिद्व्रजेत्।
> न चेदपानोऽत्र भवेत्तदा मही क्षणेन सूर्ये[3] पतितालयं व्रजेत् ॥१४५॥
>
> [4]सूर्योऽप्ययं व्याननिरुद्धविग्रहः प्राणे न सोमं हरते समंततः।
> अपानतोऽग्निं वितरत्यनुक्षणं प्राणन्नपानन्निव तप्यते सदा ॥१४६॥

प्राणो न चेदत्र भवेत्तदा रविर्निर्वाणमेयान्न चिरादनिन्धनः ।
न चेदपानोऽत्र भवेत्तदा रविर्बृद्धोऽपि नाग्नि जनयेदघर्षणः ।।१४७।।

उदान[1] वृत्तिः पुनरत्र सर्वतः साधारणी प्राणमपानमप्यनु ।
यदेति तत्प्राणनमाह तं पुनः प्रेयात्पराबृत्य तदित्युदानकम् ।।१४८।।

कीड़े, पशु तथा पंचजन अर्थात् मनुष्य जाति का शरीर गत शिर का भाग जो सदा ऊपर की ओर उठा रहता है—वह सूर्य से आने वाले प्राण बल के आकर्षण से माना जाता है, और प्राणियों का शरीर उस सूर्य के आकर्षण से खिचकर सर्वथा पृथ्वी को छोड़कर जो ऊपर नहीं चला जाता—उसमें कारण पृथ्वी का आकर्षण रूप अपानन कर्म होता है। (मनुष्य वर्ग– ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य शूद्र तथा निषाद इन पांच विभागों में विभक्त होने से पंचजन नाम से कहा गया है) ।।१४२।।

इस संसार में सूर्य सम्बन्धी प्राण यदि न होवे तो प्राणियों का शिर भूमि से ऊपर उठ ही न पावे और यदि भूमि सम्बन्धी अपान न होवे तो सब के शरीर सूर्य के आकर्षण से खिचकर सूर्य में ही चले जांये। प्राण-अपान ही संसरण के आधार हैं ।।१४३।।

भूमि, सूर्य आदि में भी प्राणन तथा अपानन प्रक्रिया अनुगत रहती है—यह कहा जा रहा है—ये पृथ्वी, अपने व्यान प्राण से जिसका स्वरूप सदा बंधा रहता है, सूर्य के आकर्षण द्वारा एक वर्ष भर के लम्बे काल में सूर्य पर्यन्त पहुंचती है और प्राणन वृत्ति द्वारा वहां से सम्पन्न होकर, फिर निज की अपानन वृत्ति से सूर्य मण्डल से दूर हटती चली जाती है। इस तरह प्राणन अपानन वृत्ति वहां भी होती है ।।१४४।।

१. जैसे प्राणियों के शरीर में प्राण– अपान आदि वृत्तियों की व्याख्या हुई है, वैसे ही पृथ्वी आदि में भी ये ही प्रक्रिया होती है—इसे स्पष्ट करते हैं—पृथ्वी का भी प्रधान प्राण व्यान है—वह पृथ्वी की सीमा का नियमनकर्त्ता है। उस व्यान-प्राण से ही पृथ्वी की प्रतिष्ठा रहती है। ये भूमि संवत्सर रूप लम्बे काल में कदाचित् सूर्य मण्डल के समीप पहुंचकर सूर्य सम्बन्धी प्राणों को विशेष रूप से ग्रहण करती है—उनसे वह पर्याप्त मात्रा में जल अन्न आदि से सम्पन्न हो जाती है– यह पृथ्वी की प्राणन वृत्ति से होता है। फिर सूर्य मण्डल से कदाचित् दूर जाकर अपने अंश भूत उस अन्न जल आदि का परित्याग करके स्वयं अल्प जल तथा अल्प अन्न वाली रह जाती है—ये पृथ्वी की अपानन रूप त्याग वृत्ति है। पृथ्वी की दूरी और समीपता की गति यहां भू भ्रमण सिद्धान्त को मानकर व्याख्यात हुई है। ये प्राण-अपान तो सब सिद्धान्तों में मानने होंगे। आगे के पद्य में इस ही अर्थ का व्यतिरेक से विवरण है।

सूर्य सम्बन्धी प्राणबल यदि न होवे तो यह भूमि सूर्य का सम्बन्ध न होने पर आकाश में न जाने कहां चली जाय और अपानन बल यदि न होवे तो यह पृथ्वी सूर्य के आकर्षण से खिंची हुई सूर्यमण्डल में गिर कर विलीन ही हो जाय ।।१४५।।

२. क्वचिद्व्रजेत्—का तात्पर्य है कि अनन्त आकाश में कहीं भी चली जाय—सूर्य का आकर्षण न रहने पर किसी निश्चित स्थान पर नहीं ठहर सके।

३. अपानन रूप बल के अभाव में सूर्य द्वारा आकर्षण बद्ध होती हुई सूर्य में जाकर भूमि नष्ट ही हो जाय ।

सूर्य का स्वरूप भी व्यानप्राणद्वारा सीमाबद्ध रहता है, उसमें प्राणन तथा अपानन होता रहता है । प्राणनरूप आदानभाव से वह सोम का सब ओर से ग्रहण करता है और उस सोम को अग्नि रूप में परिवर्तित करके अपानन वृत्ति से उस अग्नि को प्रतिक्षण सर्वत्र प्रसरित करता रहता है । इस प्रकार मानो प्राणन और अपानन करता हुआ यह सूर्य सदा तपता है ।।१४६।।

४. सूर्य में भी प्राणन-अपानन दोनों बल रहते है यह बता रहे हैं—सोम का आहरण करके अपने रिक्त अंश को पूरण करना यह सूर्य की प्राणन वृत्ति है । उस ही सोम को अग्नि रूप में परिणत करके उसका सर्वत्र पदार्थों में समर्पण करते रहना अपानन वृत्ति है । इन अग्नि और सोम से ही सारा जगत् बनता है, यह "अग्नीषोमात्मकं जगत्" इस वाक्य द्वारा पूर्व कहा जा चुका है । वे अग्नि-सोम भी एक ही तत्व के अवस्था भेद से दो रूप हो जाते हैं । परिधि रूप अन्तिम सीमा भाग से केन्द्र की ओर आता हुआ संकोचन वृत्ति शील सोम होता है, वह ही परिणामतः परिवर्तित होकर केन्द्र से विकास पाकर परिधि पर्यन्त जाता हुआ अग्नि रूप हो जाता है यह व्याख्या पहले हो चुकी है । सूर्य मण्डल में ऊपर के परमेष्ठि मण्डल से सोम सदा सूर्य के केन्द्र की ओर आता रहता है, उस सोम को अग्नि रूप में परिवर्तित करके सूर्य सर्वत्र प्रसरित करते हैं । इस तरह सूर्य के प्राणन-अपानन की व्याख्या यहां की गई । आगे के श्लोक में व्यतिरेक भाव से उनका स्पष्टीकरण किया जा रहा है ।

यदि आदान स्वभावो प्राणबल सूर्य में नहीं होवे तो ये रविमण्डल कुछ काल में ही सोम रूप इन्धन पाये बिना समाप्त ही होजाय । (इन्धधातुदोप्ती अर्थक है—सूर्य में दीप्ति अग्नि रूप में परिणत सोम की ही है ।) इस ही प्रकार यदि उत्सर्ग रूप अपानन बल न हो तो प्राणन रूप सोम का ग्रहण मात्र होते रहने से सूर्य की वृद्धि भले ही होतो रहे किन्तु वह परस्पर घर्षण क्रिया के बिना अग्नि को उत्पन्न नहीं कर सकता, स्पष्ट हुआ कि प्राण और अपान के संघर्ष से ही अग्नि की उत्पत्ति होती है ।।१४७।।

उदान नाम का प्राणवायु अपान और प्राण दोनों में समान रूप से अनुगत रहता है, आदानात्मक प्राणवायु जो भीतर आता है—वह प्राण कहा जाता है—भीतर आत्मा तक जाने में उदान उसका सहायक रहता है और उदान का ही धक्का पाकर वह प्राण जब वापस लोट कर चल पड़ता है—वह अपानन है—यहां भो उदान सहायक रहता है ।।१४८।।

५. पहले कहे गए उदान और समान के स्वरूप को यहां अन्य प्रकार से भी स्पष्ट किया गया ।

अपानवृत्तेर्यदुदाननं तत्समानशब्देन वदन्ति वृद्धाः ।
'तत्प्राणनं यत् तदपानशब्दं भिन्नोऽत्र शब्दः प्रतिपत्तिहेतुः ।।१४९।।

तदेकतः प्राण उदान एवं तदन्यतोऽपानसमानयुग्मम् ।
व्यानोऽन्तरस्थः क्षमते तदित्थं बलानि सर्वत्र भवन्ति पञ्च ।।१५०।।

[२]उपांशुकान्तर्यमने ग्रहौ स्तो ग्रहे सदोपांशुसवे तृतीये ।
ग्रहत्रयं सर्वगतं यदिष्टं तेनेदमादाय ददाति सर्वम् ।।१५१।।

उपांशुरन्तर्यमनं यतः स्यात्सर्वत्र तस्माद्बलपञ्चकं स्यात् ।
ग्रहौ पुनस्तौ भवतोऽशनायामेकामुपाश्रित्य तदेति चिन्त्यम् ।।१५२।।

तेनेदमाकर्षति सर्वमन्नं सर्वं परस्मा अशनं ददाति ।
[३]सर्वस्य पुष्टिः कृशता च दानादानाल्पताधिक्य विशेषतस्तः ।।१५३।।

कृशस्य सेच्छायतनप्रपूत्यै पुष्टस्य सेच्छायतनप्रवृद्धयै ।
[४]इत्थं द्विधेच्छास्ति रसं ग्रहीतुं तपःश्रमौ चान्यबलं ग्रहीतुम् ।।१५४।।

अपानन क्रिया जो नीचे ले जाने वाली स्वभाव से होती है—वह ही विपरीत होकर यदि ऊर्ध्व गामिनी होने लगे तो उसको समान भाव में लाने वाले वायु को वृद्धजन समान नामक प्राण कहते हैं। वास्तव में प्राणन अपानन दोनों गति रूप ही हैं। व्यवहार मात्र इनके भेद का हेतु है, भिन्न संज्ञा का भी हेतु वह ही है ।।१४९।।

१. इस प्रकार गति रूप क्रिया सब में एक ही होने पर भी व्यवहार में सरलता से जानने के लिये भिन्न-भिन्न शब्दों का व्यवहार हो रहा है—यह यहां दिखाया गया।

बल के ये प्राण आदि पांच विभाग सर्वत्र रहते हैं, इनमें एक तरफ प्राण और उदान का जोड़ा रहता है और दूसरी ओर अपान और समान का जोड़ा रहता है, व्यान इन सबका भीतर नियमन करता रहता है। इस तरह पांच सर्वत्र रहते हैं ।।१५०।।

यज्ञ की प्रक्रिया में, पूर्व वर्णित उपांशु (अन्यत्र दान) और अन्तर्याम (स्व की रिक्त पूर्ति) ये दोनों ग्रह (सोमपात्र) माने गये हैं, तीसरा ग्रह उपांशुसव नामका है। ये तीन ग्रह सब यज्ञों में अभीष्ट माने जाते हैं क्योंकि सब देवों को सोम इन पात्रों से ही दिया जाता है ।।१५१।।

२. वैज्ञानिक रीति से उपांशु और अन्तर्याम नाम के दो तत्व बताये गये, इनके ही अनुकरण रूप इन ही नामों के दो ग्रह यज्ञ की प्रक्रिया में प्रसिद्ध हैं। ग्रह का अर्थ सोम रस को रखने का पात्र विशेष है। जिसमें रखकर सोम का हवन किया जाता है। भिन्न-भिन्न यज्ञों में विभिन्न नामों के ग्रह होते हैं। उपाँशु, अन्तर्याम तथा उपांशुसव इन नामों के ग्रह भी यज्ञ प्रक्रिया में कहे गये हैं। वेद की विज्ञानमयी प्रक्रिया में तो ये सब पदार्थों में व्याप्त हो रहे हैं। इनसे दान और आदान (देना-लेना) सर्वत्र प्रवर्तमान होता है। मुनिवर पतंजलि ने व्याकरण महाभाष्य में लिंग विषय का तात्विक स्वरूप बताते हुए 'स्त्रियाम्' इस पाणिनीय सूत्र पर 'संस्त्यान प्रसवौ लिङ्गमास्थेयौ' कहकर संस्त्यान और प्रसव शब्दों द्वारा अन्तर्याम और उपांशु की ओर ही निर्देश किया है। संस्त्यान का अर्थ है अन्यत्र से पाये गए का संग्रह करना। प्रसव का अर्थ है दूसरे को दे देना। शब्दों के लिंग विचार में वहां भाष्यकार ने व्यवस्था की है कि जिन शब्दों में दूसरे को दे देना मात्र विवक्षित है—वे सब पुंल्लिग शब्द होते है, और जिन शब्दों में संस्त्यान विवक्षित होता है—वे सारे शब्द स्त्रीलिंग होते हैं, एवं च जहां ये दोनों नहीं होते—पदार्थ की

सत्ता मात्र विवक्षित होती है वे शब्द नपुंसक लिंग होते हैं। संस्कृत भाषा के शब्दों की लिंग व्यवस्था महा भाष्यकार ने इस ही प्रकार—की प्रदर्शित की है।

ये उपांशु और अन्तर्याम जहां भी होते हैं और जिस हेतु से होते हैं उस ही हेतु से सर्वत्र प्राण, अपान आदि पाँचों बल भी रहते हैं। वास्तव में प्राकृतिक यज्ञ प्रक्रिया में अर्थात् अन्तर्याम में ये उपांशु और अन्तर्याम अशनाया बल प्रवृत्ति में दो ग्रह (सोम पात्र) रूप ही बनते हैं—उन दोनों की स्थिति अशनाया बल पर ही निर्भर करती है—यह अवधान से देखना चाहिये (सारा धन सोम रूप होता है—उसका ही दान वा आदान होता है) ।।१५२।।

जिसमें जितना अशनाया बल होता है उसके आधार पर ही वह अपने लिये संपूर्ण अन्न का ग्रहण करता है और तदनुसार ही दूसरों को भी भोजन देता है। इस कारण ही कोई खूब पुष्ट हो जाता है और कोई दुर्बल-कृश रह जाता है। जहां अन्न के आदान की अधिकता होती है वहां पुष्टि रहती है और जहां दान की अधिकता हो आदान कम हो वहां कृशता हो जाती है ।।१५३।।

३. इस पद्य के द्वारा दान और आदान की अनुमान प्रमाणता भी दिखा दी गई। यदि दान और आदान न होते तो संसार के सारे पदार्थ एक रूप ही दिखाई देते। कभी किसी की खूब मोटी हालत रूप पुष्टि और कालान्तर में उसकी ही दीन हीन अवस्था कभी भी प्रतीत नहीं होती। यहां यह संकेत मात्र सब पदार्थों के लिये किया गया है—क्योंकि जड़ और चेतनों में समान रूप से सर्वत्र काल क्रमानुसार जो नयापन और पुरानापन प्रतीत होता है, उसकी प्रतीति नहीं हो पाती, किन्तु प्रत्यक्ष प्रतीती होती है। अतः परिवर्तन सर्वत्र होता है, यह अनुमान सिद्ध है। यह दूसरी बात है कि कहीं पर्वत आदि में बहुत दीर्घ समय में प्रतीती होती है तो कहीं लता वृक्ष आदि में अल्प काल में ही, पर नये पुरानेपन की प्रतीती होती सर्वत्र है। यह परिवर्तन एक वर्ष, मास, दिन, मुहूर्त वा किसी घड़ी में नहीं होता, अपितु प्रतिक्षण होता रहता है—यह मानना पड़ता है। सब जगह आदान अधिक हो औरदान अल्प हो तो पुष्टि होती है और आदान की अपेक्षा दान की अधिकता में कृशता होती है—ये सब प्राण और अपान का ही कार्य होता है। यह सर्वत्र समझना चाहिये।

अशनाया रूपिणी ग्रहण करने की इच्छा, बलहीनकृश व्यक्ति की अपनी रिक्तता को पूर्ण करने के लिये होती है और जो अपने आप में पहले से पुष्ट है उसको वह ग्रहण भाव की इच्छा अधिक वृद्धि के लिये होती है। इस प्रकार रस ग्रहण करने के लिये इच्छा द्विविधा होती है, इसके सहचारी तप और क्रियारूप श्रम अन्य स्थान से बल ग्रहण करने को प्रवृत्त होते हैं ।।१५४।।

४. इस पद्य में इच्छा, तप और श्रम तीन का संकेत हुआ है। शतपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में जहां नवीन पदार्थ की उत्पत्ति का प्रसंग आता है, अथवा अपनी पुष्टि का प्रसंग आता है, वहां सब जगह 'स ऐक्षत, स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्' यह वेद वचन मिलता है। उसका तात्पर्य यह है कि संसरण स्थिति में आत्मा मनरूप, प्राणरूप और वाक् (वाणी) रूप में प्रवृत्त रहता है—यह पहले अनेक बार स्पष्ट किया गया है। उनमें मन की वृत्ति इच्छा रूप में, प्राण की प्रवृत्ति तपरूप में और वाक् की क्रिया को श्रम रूप में बताया जाता है। लोक में भी मन आदि वृत्तियों

का इन शब्दों से ही व्यवहार देखा जाता है। सर्वप्रथम मन में इच्छा रूप वृत्ति का उदय होता है, फिर इच्छा की प्रेरणा से प्राण में तप होता है, इच्छा पूर्ति के लिये सजग होकर कृत-संकल्प होना ही प्राण का तप है, फिर प्राण की प्रेरणा पाकर वाक् में श्रम रूप क्रिया की प्रवृत्ति होती है। इच्छा सर्वत्र रस पाने के लिये होती है क्योंकि रस से स्वयं की सत्ता बनी रहती है तथा रस से ही पोषण होना सम्भव होता है। तप और श्रम तो केवल बल ग्रहण करने के लिये प्रवृत्त होते हैं। क्योंकि प्राण की अथवा वाणी की साक्षात् रूप से रस में प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती वे अपने व्यापार द्वारा बल का सामीप्य पा जाते हैं, बल तो कहीं भी रस के बिना रहता नहीं है—फलतः जब दूसरी जगह से बल का ग्रहण किया गया तो उस बल की सीमा में समावृत रस भी आ ही जाता है उससे ही सत्ता बनी रही है, पोषण होता रहता है।

**[1]अथाशनाया द्विविधा परेषामाकर्षणं वा चिरमेकवृत्तिः।
बलं त्रिधापि क्षणिकं चिरायानुवर्तते तत्तपसा श्रमेण ॥१५५॥**

**[2]यदिच्छति श्राम्यति तप्यते तपस्ततः क्रिया यज्ञ इति प्रवर्तते।
यज्ञः स भाति त्रिविधं यदक्षरं न चाक्षरादन्यदिहास्ति किञ्चन ॥१५६॥**

**[3]प्रजा स यज्ञा खलु सृज्यतेऽखिला यत्सृज्यते यज्ञत एव सृज्यते।
यथा स यज्ञोऽयमुदेति सर्वतस्तथाक्षरे कर्म विशिष्य दृश्यते ॥१५७॥**

इस प्रकार अशनाया दो प्रकार की होती है, अपने लिये पर्याप्त होने पर भी दूसरे के धन का आकर्षण करना और उससे पुष्टतर होते रहना यह एक रूप। और दूसरा रूप अपने क्षीण अंश की पूर्ति करके चिरकाल तक एक स्थिति में रहने के लिये प्रवृत्त रहना। बल इच्छा, तप, श्रम रूप में विकसित होता है—परन्तु त्रिविध होता हुआ भी बल स्वभावतः क्षणिक होता है—यह तप और श्रम की ही महिमा है कि उस क्षणिक बल को प्रवाह रूपता देकर चिरकाल तक एक रूप में प्रवृत्त रखते हैं। (यह ही प्रवाह नित्यता कही जाती है) ॥१५५॥

१. पूर्व पद्य के पूर्वार्ध में कही गई रीति के अनुसार अपने क्षीण अंग की पूर्ति के लिये जो अशनाया अर्थात् इच्छा होती है—वह चिरकाल तक एक रूप में स्थिति पाने के लिये होती है और पहले से स्वयं के परिपूर्ण होने पर भी दूसरों के अधिकृत का अपने में आकर्षण—अधिक पुष्टि के लिये होता है, इस तरह इच्छा दो प्रकार की प्रवृत्त होती है। ये इच्छा, तप और श्रम बल के ही रूपान्तर हैं अत तप से और श्रम रूप कर्म से क्रमशः बल का ही अनुवर्तन होता है। बल सर्वत्र क्षण स्थायी ही होता हुआ भी प्रवाह रूप से सतत प्रवृत्त रहता है। यह बात पुनः स्मरण करा दी गई।

आत्मा इच्छा करता है तप द्वारा प्रतप्त होता है, कर्म करता हुआ परिश्रम करता है—तब क्रिया होती प्रतीत होती है—यह यज्ञ का स्वरूप है इस यज्ञ से ही संसार रूप प्रवर्तन होता है। इस यज्ञ का विकास अक्षर पुरुष द्वारा होता है—जिसकी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र रूप में त्रिविधता होती है। इस अक्षर पुरुष के अतिरिक्त इस संसार में अन्य कुछ भी नहीं है ॥१५६॥

२. ये इच्छा, तप और श्रम ही एक दूसरे में अनुवर्तित होते हुए दान और आदान के हेतु होते हैं। इस दान और आदान रूप क्रिया को ही यज्ञ नाम से कहा जाता है। और यह यज्ञ अक्षर पुरुष के आधार से होता है यह व्याख्या प्रथम अधिकार में पुरुष निरूपण प्रसंग में हो चुकी है। अक्षर पुरुष की तीन कला हृदय स्थायिनी हैं। उनमें विष्णु कला आदान की हेतु बनती है, इन्द्र कला अन्य को प्रदान करने में हेतु है। और ब्रह्मा नाम की कला स्थिति रूप सत्ता की हेतु होती है। अतः सर्वत्र अक्षर पुरुष का ही विकास हो रहा है। अक्षर से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

भगवद् गीता में भी यही कहा है—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥ इति (३ अ०)

यज्ञ क्रिया द्वारा होता है और क्रिया ब्रह्म से अर्थात् क्षर पुरुष से साक्षात् सम्पादित होती है— किन्तु वह क्षर, अक्षर से उत्पन्न होता है, इस तरह अक्षर ब्रह्म की व्यापकता कही गई। गीता कथित यह चक्र प्रवर्तन ही यज्ञ कहलाता है। इस यज्ञ के परिचालन में मनुष्य का योगदान आवश्यक है, यह बात इन गीता वाक्यों में स्पष्ट कर दी गई है। उसकी ही व्याख्या यहां स्वच्छ रूप से की गई है।

यह सारी प्रजा नाम से कही जाने वाली सृष्टि यज्ञ सहित ही सर्जन रूप में प्रवृत्त होती है। जो भी सृष्टि होती है यज्ञ से ही होती है। यह यज्ञ चक्र सर्वतो भावेन प्रचलित रह सके इस हेतु ही क्षर पुरुष में कर्म की प्रवृत्ति विशेषतया होती है ॥१५७॥

३. उदाहरणार्थ लिखे गए गीता के श्लोकों से पहले कहे गये श्लोक—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥ (भग. गी. अ. ३ श्लो. १०)

का अर्थ रूप अनुवाद कर दिया गया है। इस यज्ञ के परिचालन के लिये ही क्षर में कर्म करने की प्रवृत्ति होती है—यह अन्तिम चरण में उपसंहार किया गया।

[१]सदक्षरं तस्य यदस्ति सत्त्वं तदेतदुक्तं विविधैः प्रकारैः।
इच्छैव शक्तिर्मतमत्र सत्त्वं तयाभवत्सद्भवतीह भूमा ॥१५८॥

(३४) विक्षेपाधिकरणम्

विक्षेप[२] एवोत्क्रमविक्रमाक्रमा लयः क्षयः कर्म च विक्रिया क्रिया।
विस्रंसनोच्छित्ति विनाशनिर्गमा गतिः समानार्थतया मता इमे ॥१५९॥

विक्षेप[3]वृत्तिर्जडचेतनस्था तदुद्भवे प्राणमुखाः पुरोक्ताः ।
स्युर्वायवः पञ्चसमं निमित्तं जडेषु भूतेष्वपि चेतनेषु ॥१६०॥

अक्षर पुरुष नित्य सत् है, उस का सत्य बल है—उस बल का विवरण यहां अनेक प्रकार से किया गया । बल ही शक्ति रूप होता है, शक्ति ही इच्छा है उस इच्छाशक्ति से ही सत्व सम्पन्न अर्थात् सामर्थ्यवान् होता हुआ माया विशिष्ट रस इस संसार में भूमाभाव सम्पन्न होता है ॥१५८॥

१. "सदेव सौम्येदमग्र आसीत्", इत्यादि श्रुति वचन में अक्षर ब्रह्म ही सत् पद से कहा जाता है। उसका सत्व बल ही है, जिसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की गई । बलों में भी प्रधानतया इच्छा ही मुख्य सत्व है— वह ही शक्ति है । उस शक्ति से 'आभवत्' अर्थात् समर्थ होता हुआ बल विशिष्ट रस भूमा नाम से पहले कहा गया है | वह ही सत् पदवाच्य होता है । पद्य में सत् पद का विशेषण मानते हुए आभवत् यह नपुंसक लिंग प्रयुक्त हुआ है ।

विक्षेप, उत्क्रम, विक्रम, अक्रम, लय, क्षय, कर्म, विक्रिया, क्रिया, विस्रंसन, उच्छित्ति, विनाश, निर्गम और गति ये सारे शब्द समानार्थक माने गये हैं ॥१५९॥

२. विक्षेप से आरम्भ कर गति पर्यन्त सारे शब्द यहां समान अर्थ के द्योतक बताये गए हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि विक्षेप शब्द से इस अधिकरण में सामान्यतया क्रिया का विवरण करना है । ग्रन्थ की वास्तविक जानकारी के लिये यह बात यहां सावधानी से देखनी चाहिये कि बल, शक्ति और क्रिया इन तीनों का एक ही अर्थ है, यह विषय आरम्भ में रस बलाधिकरण में निरूपित हुआ है । प्रसुप्त अवस्था बल नाम से कही जाती है, कर्म करने की प्रवृत्ति को शक्ति कहते हैं, अन्तिम परिणाम में स्थूल भाव में आकर नष्ट हो रही अवस्था क्रिया कहलाती है । इनमें बल शक्ति रूप कैसे बनता है—यह विवरण अशनाया अधिकरण में किया गया, वास्तव में अशनाया मुख्य बल है, वो अशनाया भिन्न-भिन्न शक्तियों के रूप में कैसी-कैसी देखी जाती है और कौन कौन से उसके कार्य होते हैं यह सब विवरण अशनाया अधिकरण में हुआ है। आगे शक्ति क्रिया रूप में कैसे परिणत होती है इसका निरूपण इस विक्षेप अधिकरण में किया जा रहा है । विक्षेप क्रियाओं की पूर्व अवस्था है, उस विक्षेप से उत्पन्न होने वाली क्रियाएं सब जगह देखी जाती हैं । इस विक्षेप की क्रियाओं के प्रति उत्पादकता की व्याख्या इस प्रकरण में की जायगी । इसके साथ-साथ इसके तीसरे अधिकार के आरम्भ में मूल बल के अधिकरण में महान् नाम से कहे जाने वाली शक्ति के तीन गुण सत्व, रज, तम नाम के कहे गए हैं । उस ही अधिकरण के सत्रहवें पद्य में उन गुणों के स्वरूप इच्छा, विक्षेप और आवरण नाम के बताये गए हैं । उनमें इच्छा शक्ति जो सत्व गुण रूपिणी है उसका निरूपण अशनाया नाम से पहले अधिकरण में किया गया । रजोगुण रूपिणी विक्षेप शक्ति की विवेचना अब की जा रही है । सर्वत्र क्रिया रजोगुण का परिणाम रूप होती है यह सांख्य दर्शन के वेत्ता विद्वान जानते ही हैं । सारे क्रिया भावों का और उनके उत्पन्न होने के प्रकारों का विवरण वैशेषिक सूत्रों में भगवान् कणाद ने विशेष रूप से किया है । उन सारे प्रकारों को ग्रन्थकार ने इस अधिकरण में अपनी युक्तियों से परिष्कृत करके और उपनिषत् वचनों से उनकी संगति लगाकर

निबद्ध किया है। ये सब बातें सावधानी से मन में रखकर विद्वानों को इस प्रकरण का अव-लोकन करना चाहिये। यद्यपि यह प्रकरण अत्यन्त विरस है तथापि जगत् के उत्पत्ति क्रम का हथेली में रखे आंवले के समान स्पष्टीकरण कर देता है। खास कर जगत् के उत्पत्ति क्रम को जानने की इच्छा जिनकी हो उनके लिये यह प्रकरण अत्यन्त उपादेय है।

विक्षेप नाम की वृत्ति जड़चेतन सब में रहती है। इस विक्षेप वृत्ति के उद्गम में कारण रूप प्राण जिनमें मुख्य है ऐसे अपान, उदान, समान, व्यान नाम से पहले कहे गये पांच वायु भेद होते हैं। ये जड़ तथा चेतन जीवों में सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। ये पांचों समान रूप से विक्षेप के निमित्त हैं ।।१६०।।

३. ये विक्षेप नाम से कहे जाने वाली क्रिया अथवा चेष्टा की पूर्व अवस्था केवल चेतन प्राणियों में ही नहीं होती, यह तो जड़ चेतन सब में साधारण रूप से प्रवृत्त होती है। क्रिया के कारण पांच प्राण आदि पहले कहे जा चुके हैं। वे भी जड़ चेतन साधारण में रहते ही हैं यह जानना चाहिये। भाव यह है कि पहले वर्णित प्राण, अपान आदि पांचों जैसे चेतन प्राणियों में रहते हैं वैसे ही वे जड़ों में भी व्याप्त रहते हैं।

[1]तत्कर्मयोनिः खलु पञ्चधा स्याद्विशेषतो जन्तुषु चेतनेषु।
धृतिश्च श्रद्धा च सुखाशनाया ज्ञानाशनायार्थ चयाशनाया ।।१६१।।
[2]धृतिं विना नो लभते बलं क्वचिद् धृतिं विना नैव बलं प्रयोजयेत्।
धृतिं बिना वा न बलेन युज्यते धृतिर्हि विक्षेपणयोनिरिष्यते ।।१६२।।
[3]प्राणं ह्यपानं च निरुध्य मध्ये व्यानो यदा तिष्ठति निश्चलः सन्।
तदा प्रसादेन परेण धृत्या जीवो लभेतात्मबलं यदिच्छेत् ।।१६३।।
[4]तत्रैव यत्र प्रणिधीयते बलं प्राज्ञेन तच्चेद्विधृतं भवेदलम्।
तर्त्तहि विक्षेपबलेन युज्यते न चाधृते वस्तुनि कर्म कल्पते ।।१६४।।
[5]यात्वात्मनः स्याद्विधृतिर्धृतेऽर्थे तामेव निष्ठामिति नारदाय।
ताण्डश्रुतौ प्राह सनत्कुमारः श्रद्धा हि निस्तिष्ठत एव भाति ।।१६५।।

जैसे पांच प्राण कर्म के हेतुभूत होते हैं—वैसे ही चेतन प्राणियों में कर्म के हेतु पांच और विशेष भी होते हैं। उनके नाम हैं १. धृति (धारणा शक्ति), २. श्रद्धा, ३. सुखाशनाया अर्थात् सुख प्राप्त करने की इच्छाशक्ति, ४. ज्ञानाशनाया—ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा, ५. अर्थ चयाशनाया—धन इकट्ठा करने की भूख-इच्छा ।।१६१।।

१. चेतन प्राणियों में क्रिया के हेतु अन्य भी पांच विशेष रूप से कहे गए हैं। विशेषता यह है कि वे पांचों अत्यन्त अन्तरंग हैं। उनके नाम पद्य में बताये गये, आगे प्रत्येक का विवरण किया जा रहा है।

धृति (धारण शक्ति) के बिना अर्थात् आधारभूत प्रतिष्ठा के बिना बल की स्थिति कहीं भी नहीं पाई जा सकती, इस ही प्रकार धृति के बिना बल का प्रयोग भी सम्भव नहीं होता। इस प्रतिष्ठा रूप रसप्रधान धृति के बिना क्षणिक बल का परस्पर स्वरूप जुड़कर

धारावाही रूप कैसे बने ? अत: वास्तव में धृति को ही प्रधानतया विक्षेपण रूप क्रिया की पूर्वावस्था का हेतु मानना चाहिये ।।१६२।।

२. कथित पांच चेतनगत विशेष कर्म हेतुओं में, पहले धृति का निर्वचन करते हैं—बल का धारण धृति नाम से कहा जाता है । यह पहले कहा जा चुका है—कि बल मरण स्वभावी क्षणिक होता है—वह बल अत्यन्त छोटे से स्थान में अति अणु भाव में रह पाता है—उन बलाणुओं का समूह रूप प्रवाह रस का आधार पाकर ही बनता है—जो कि न केवल एक रूप से स्थिर ही दिखाई देता है, अपितु अब पर्याप्त बड़े प्रदेश को भी घेर लेता है । यदि इस बल को रस का आधार न मिले तो बल का कोई स्वरूप ही नहीं पाया जा सके । यही कह रहे हैं कि धृति के बिना कोई भी बल को नहीं प्राप्त करता अर्थात् धृति से ही उस बल का ज्ञान स्वयं को होता है । धृति के बिना बल का दूसरे पर प्रयोग भी सम्भव नहीं होता—क्योंकि जो पहले स्थिर अर्थात् दृढ हो लेवे—वह ही अपने बल का अन्यत्र प्रयोग कर सकता है । इस धारणारूप प्रतिष्ठात्मक धृति के बिना तो रस से संसर्ग भी सम्भव नहीं हो सके—क्योंकि योगरूप वह संसर्ग भी तो धृति रूप ही है । धृति का नाम ही योग है । योग का अन्य कोई निर्वचन नहीं होता ।

प्राण और अपान को रोक कर मध्यगामी व्यानवायु जब निश्चल होकर ठहर जाता है तब धृति रूप धारणा शक्ति की वृद्धि होती है, उससे ही जीव को यथेष्ट बल मिलता है ।।१६३।।

३. धृति से ही बल की प्राप्ति होती है—इसका व्यावहारिक स्थूल उदाहरण बता रहे हैं, जब मनुष्य किसी भारी वस्तु को उठाने आदि का बल प्रयोजक काम करना चाहता है तब वह प्राण वायु की ऊपर की गति को तथा अपान की अधोगति को रोक कर व्यान की स्थिरता से ही काम लेता है । धृति से जनित जो पर प्रसाद—अर्थात् स्वभावत: बल की अधिकता हो जाना—उससे ही प्राणी सारे बल (ताकत) सम्बन्धी काम कर सकता है और यह व्यान प्राण धृति रूप ही है । अतः स्पष्ट यह हुआ कि धारणात्मक धृति के सहारे ही सारे कर्म किये जा सकते हैं—इसलिये धृति को ही कर्म का कारण मानना चाहिये ।

जिस पदार्थ पर बल का प्रयोग किया जाता है उसही पदार्थ को यदि प्राज्ञ नामक जीवात्मा पूरी तरह स्वीकार करना चाहता है अर्थात् अपने में उसे विशेष रूप से धृत कर लेता है—वह भी 'अलम्' अर्थात् पूर्णतया, तब ही क्रिया का पूर्व भाव विक्षेप बल प्रवृत्त होता है, बिना धृति के किसी प्रतिष्ठाहीन पदार्थ में कर्म कभी प्रवृत्त नहीं होता ।।१६४।।

४. धृति रूप व्यान के द्वारा जिस वस्तु पर बल का आधान किया जाता है उस वस्तु का जब प्राज्ञ के द्वारा अर्थात् बुद्धि से आवृत चैतन्यरूप जीवात्मा के द्वारा पूर्णतया ग्रहण कर लिया जाता है तब ही विक्षेप बल से उस वस्तु का योग होता है । शरीरावरण में घिरे हुए चैतन्य से संयोग न होने पर व्यान के द्वारा जगाई जाने वाली क्रिया की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती—इस कारण भी धृति को विक्षेप की उत्पत्ति का स्थान मान लेना होगा ।

आत्मा की ग्रहण किये हुए पदार्थ में सत्ता बताने वाली तथा आधार आधेय भाव की मुख्य प्रयोजक विधृति जब हो जावे तो उसे ही निष्ठा (आस्था या विश्वास) कहा जाता

है, यह विवेचना ताण्ड श्रुति नाम से प्रसिद्ध वेदवचन में सनत्कुमार ने नारद को उपदेश देते हुए की है और यह तो निश्चित ही है कि निष्ठावान् पुरुष में ही श्रद्धा उत्पन्न होती है ।।१६५।।

५. ताण्डयमहाब्राह्मण के अन्तिम भाग में छान्दोग्य उपनिषत् सप्तम प्रपाठक में नारद के प्रति सनत्कुमार के उपदेश में सत्रहवें खण्ड का आरम्भ करते हुए कार्य कारण परम्परा की तालिका का उपदेश इस प्रकार हुआ है—'सत्य रूप कार्य का कारण विज्ञान है, विज्ञान का कारण मति है, मति का श्रद्धा, श्रद्धा का निष्ठा, निष्ठा का कृति, कृति का सुख और सुख का कारण भूमा-करण है । वहां निष्ठापद से धृति ही कही गई है, यह पद्य का आशय है । वहां यह भी कहा गया है कि "यदा वै निस्तिष्ठति-अथ श्रद्दधाति, निष्ठात्वेव विजिज्ञासितव्या" इति । अर्थात् निष्ठा वाले पुरुष को ही श्रद्धा मिलती है । इस वेद वचन में निष्ठा नाम से कहे जाने वाली धृति ही श्रद्धा का कारण है यह कहा गया है । आगे के पद्यों से श्रद्धा की व्याख्या विस्तार से की जा रही है ।

[1]क्षेत्रज्ञनामा पुरुषोऽस्ति जीवः स षोडशी चान्द्रमसो निरुक्तः ।
प्रज्ञामयः प्राज्ञ इहास्ति चान्द्री प्रज्ञा सतत्थाऽन्यगता हि श्रद्धा ।।१६६।।

[2]श्रद्धा परस्मिन्निहिता द्रवात्मा यतस्ततस्ता उदिता इहापः ।
तत्सत्यमन्तर्यमनाक्षरं यत् स एष विक्षेप बलस्य योनिः ।।१६७।।

[3]श्रद्धामयोऽयं पुरुषोऽस्ति यस्मिन् श्रद्धास्ति यस्यैव भवेत्तदात्मा ।
अतस्सत्यमुक्तं निजसत्यमस्मिन् धत्तेऽर्थं सत्ये हितमात्मसत्यम् ।।१६८।।

क्षेत्र अर्थात् शरीर का उत्पादक क्षेत्रज्ञ नाम का पुरुष जीव कहलाता है, वह ही षोड्शी पुरुष है, चन्द्रमा के रस से पोषण पाने से इसका निर्वचन चान्द्रमस (चन्द्रमा का अंश) कहकर भी हुआ है, यह जीव प्रज्ञामय होने से प्राज्ञ कहा जाता है, प्रज्ञा चन्द्रमा के रस से उद्भव पाती है—वह प्रज्ञा सत्य रूप आत्मा से सम्बद्ध होकर जब अन्य की ओर प्रवृत्त होती है तब श्रद्धा कही जाती है ।।१६६।।

१. अब पूर्वोक्त छान्दोग्य उपनिषत् में कथित सनत्कुमार के संवाद के अन्तर्गत कार्यकारण भाव का समर्थन करते हुए ही विस्तार से श्रद्धा का निर्वचन करते हैं । वह कार्यकारण परम्परा भगवान् सनत्कुमार द्वारा भूमा में पहुंच कर समाप्त की गई है, यह पहले कहा गया है । और उस निरूपण के पर्यालोचन से यह भी स्पष्ट होता है कि वह भूमा क्षेत्रज्ञ पुरुष ही है । वह जीव नाम से कहा जाता है । जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन करने के लिये ही वह भूमा नाम से कहा गया है । पहले बताये गए अठारह व्यावहारिक आत्माओं में सबसे उत्कृष्ट भूतात्मा जो प्राज्ञ नाम से कहा गया है, व्यवहार में उसे ही जीव कहते हैं । वह प्रज्ञा प्रधान होने से प्राज्ञ कहा जाता है । उस प्रज्ञा में ही चिन्मय आत्मा का चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, उसे ही जीव समझना चाहिये । उस जीव की ये प्रज्ञा चान्द्री इसलिये कही जाती है कि वह चन्द्रमण्डल के रस से उत्पन्न होती है । इस कारण ही वह प्राज्ञ भी चान्द्रमस (चन्द्र से उत्पन्न) नाम से कहा जाता है । जैसे चन्द्रमा सोलह कलावान् होता है, वैसे ही यह जीव भी षोडश

कला वाला षोड्शी पुरुष कहा गया है। यह सारी व्याख्या पहले हो चुकी है। कौषीतकी उपनिषत् के आरम्भ में ही इसका उपदेश हुआ है। जो प्रज्ञा यदि सत्यमय आत्मा के साथ अन्य गामिनी होती है, तब 'श्रद्धा' नाम से कही जाती है। किसी पुरुष की अपने से उत्कृष्ट–गुरुजन आदि में अनुगत होने वाली आदर रूपिणी प्रज्ञा को ही लोक व्यवहार में श्रद्धा नाम से कहा जाता है।

अन्यत्र समर्पण की जाने वाली ये श्रद्धा तरलरूपिणी होती है। कर्मकाण्डरूप यज्ञ की प्रक्रिया में तत् तत् कर्म सम्बन्धी मन्त्राभिषिक्त विभिन्न जलों को श्रद्धा नाम से कहा जाता है। जिस सत्यस्वरूप आत्मा से ये श्रद्धा समन्वित होती है—वह सत्य अन्तर्यमन करने वाला अक्षर पुरुष है। यह अक्षर हो विक्षेप रूप बल को उत्पन्न करता है, ये ही विक्षेप का मूल कारण है ।।१६७।।

२. छान्दोग्य उपनिषत् पंचम प्रपाठक के चतुर्थ खण्ड में, पञ्चाग्निविद्या के प्रकरण में—जब सूक्ष्म शरीर से समावृत जीव स्थूल शरीर से बाहर निकलता है तब चन्द्रमण्डल में जाता है यह निरूपण करते हुए कहा गया है कि "असौ वाव लोको गौतमाग्निः। तस्यादित्य एव समित्। रश्मयो धूमः। अहरर्चिः। चन्द्रमा अङ्गाराः। नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गाः। तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति। तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति" इति। इस चन्द्रलोक के स्वरूप वर्णन प्रसंग में श्रद्धा पद द्वारा यज्ञ कर्म सम्बन्धी जलों का कथन हुआ है, ऐसी भाष्यकारों की व्याख्या हुई है। ग्रन्थकार कहते हैं कि उस व्याख्या से भी यहां कोई विरोध नहीं आता—क्योंकि श्रद्धा-चन्द्रमा की रसरूप होने से तरल रूपिणी होती है यह हमने कहा है—उससे ही उपनिषत् के भाष्यकारों ने जो श्रद्धा को अप् (जल) रूप कहा है—उस कथन से विरोध नहीं होता यह तात्पर्य है। वह श्रद्धा सत्य के साथ अन्यत्र समर्पित की जाती है यह पूर्व पद्य में कहा गया है, वहां सत्य क्या है ? ये बताते हैं—अन्तर्यामी रूप जो अक्षर पुरुष की कला है वह ही सत्य कही जाती है। इस प्रकार श्रद्धा और अक्षर ये दोनों विक्षेप कर्म के कारण बनते हैं।

पुरुष श्रद्धामय होता है, इसकी जिसमें श्रद्धा होती है तद् रूप ही यह हो जाता है। अव्ययों में परिगणित श्रत् पद का अर्थ सत्य है, तो एक तो यह श्रद्धा का सत्य और दूसरा पूर्व कथित अन्तर्यामी अक्षर रूप सत्य, इस तरह सत्य में सत्य निहित रहता है। उनमें उस अपने में निहित अन्तर्यामी सत्य को अन्य में धर देना, 'श्रत्-दधाति' इति श्रद्धा यह शब्द निरुक्त है ।।१६८।।

३. "श्रद्धामयोऽयं पुरुषो योयच्छ्रद्धः स एव सः" यह भगवद्गीता में कहा गया है—उसका ही आशय बताते हैं—जिस पुरुष की अपने से उत्कृष्ट जिसमें श्रद्धा होती है, वह पुरुष तदात्मा अर्थात् श्रद्धा के विषयीभूत पुरुष का रूप ही बन जाता है, क्योंकि श्रद्धाद्रवरूपिणी है अतः द्रवता का संश्लेष पाकर दोनों की एकरूपता का संपादन हो जाता है। यह मानने पर ही "श्रद्धामयोऽयं पुरुषः" इस वाक्य की संगति हो सकती है। दोनों के इस एकीभाव के कारण ही जिसमें श्रद्धा समर्पित की गई है उस महापुरुष के दोष श्रद्धा करने वाले को नहीं दिखाई देते—इसलिये विद्वानों ने श्रद्धा का लक्षण—'दोषदर्शनानुकूलवृत्ति प्रतिबन्धकवृत्तिः श्रद्धा' यह किया है अर्थात् दोष

दिखाने वाली मन की वृत्ति को रोक देने वाली वृत्ति को श्रद्धा कहते हैं। आगे उत्तरार्ध में श्रद्धा शब्द को विभक्त कर के श्रद्धा का निर्वचन किया गया है—श्रत् यह सत्य अर्थ को बताने वाला अव्यय है और सत्य पूर्व कथित अन्तर्यामी है, उस अपने अन्तर्यामी सत्य को अन्यत्र गुरू आदि में श्रद्धालु पुरुष धर देता है। यह ही अपने सत्य का अन्यत्र निधान है। फलार्थ हुआ कि दूसरे में संस्थापित जो निज का सत्य है—वह ही श्रद्धा नाम से कहा जाता है।

[1]सत्यद्वयं चेदिदमेकभूतं श्रद्धावशात्तर्हि मतं तदस्य।
[2]मत्या विजानाति ततोऽस्य सत्यं धत्ते स विज्ञानरसः प्रसादः ॥१६९॥

[3]धृतिः परं स्यात्तदतोऽक्षरं स्वं श्रद्धानमन्तर्यमनाभिधानम्।
प्रज्ञामतिः सार्थगता निजास्यामर्थस्य विज्ञानमुपैति सत्यम् ॥१७०॥

[4]यत्रैतदन्तर्यमने निजान्तर्यामी धृतिं याति ततोऽवधाय।
अर्थस्य च स्वस्य च सूत्रतारतम्यं प्रतीयात्कृति साध्यतां च ॥१७१॥

[5]यत्रैतदन्तर्यमने निजान्तर्यामी धृतिं नैति स नैक्यमेति।
न तत्र विक्षेपबलेन किञ्चित् कर्तुं समर्थोभवतीह कश्चित् ॥१७२॥

[6]यादृक् स्वमन्तर्यमनं ततोऽन्तर्यामी विशिष्टोऽस्ति परस्य यस्य।
तस्मिन्निजान्तर्यमनप्रयोगः श्रद्धा परा सा च बलोदयाय ॥१७३॥

श्रद्धा के वशीभूत होकर दो सत्य एक रूप हो जाते हैं, एक श्रद्धा करने वाले का सत्य और दूसरा जिसमें श्रद्धा की जा रही है उस का सत्य, इन दोनों की एकरूपता को मत वा मति नाम दिया जाता है। संसार का नियम है कि जिसमें जो श्रद्धा करता है—वह पहले उसकी पूरी जानकारी अपनी मति द्वारा प्राप्त करता है उसके अनन्तर अपने सत्य का वहां निधान करता है। यह सब विज्ञानमय रस की कृपा से होता है ॥१६९॥

१. श्रद्धालु का समर्पित सत्य और जिसमें समर्पण किया गया उसका सत्य, ये दोनों सत्य द्रवीभूता श्रद्धा के संश्लेष के कारण एक से हो जाते हैं तब उसे मत कहा जाता है। अतएव पूर्व कथित सनत्कुमार के उपदेश में श्रद्धा को मति का कारण बताया है। यह मत अर्थात् माननीयता दोनों की समझनी चाहिये—यदि गुरू आदि किसी पुरुष विशेष में श्रद्धा होती है तो वह पुरुष मत अर्थात् माननीय होता है और यदि किसी गुरु आदि के किसी वाक्य में श्रद्धा उदित होती है तो उस वाक्य का अर्थ मत अर्थात् स्वाभिमत होता है।

२. सनत्कुमार कथित मतिविज्ञान सत्यों का कारण कार्य भाव संगत किया जा रहा है—मति से जिसका मत रूप पहले बताया गया उससे 'विजानाति' अर्थात् विशेष रूप से, स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करता है उसके फलस्वरूप अपने श्रद्धारूप विषय की चित्त में पूरी तरह प्रतिष्ठा हो जाती है। उस श्रद्धा के वशीभूत होकर बुद्धि उसका अनुगमन करती है, बुद्धि में पदार्थ का प्रवेश विज्ञान अर्थात् विशिष्ट ज्ञान है—वह विजानाति इस पद से कहा जा रहा है। आगे सत्यं धत्ते कहने का तात्पर्य है कि पूर्वकथित सत्य में अर्थात् अन्तर्यामी रूप सत्य में भी प्रतिबिम्ब रूप से

उस विज्ञान का प्रवेश हो जाता है। यह सत्य विज्ञान का रस है अर्थात् विज्ञान का भी सार है जो कि प्रसाद नाम से निरूपण किया जा सकता है।

प्रतिबिम्बन की प्रक्रिया बताते हैं—धृति सबसे पहला कारण है उससे ही प्रतिष्ठित होने के अनन्तर अक्षर पुरुष कला अन्तर्यमन रूप अपने श्रद्धाभाव में प्रवृत्त होती है, उस श्रद्धा से प्रज्ञा रूप मति अर्थानुगामिनी होती है—मति में पदार्थ प्रवेश को विज्ञान कहा गया है वह विज्ञान अन्तर्यामी सत्य में प्रतिबिम्बित होता है ॥१७०॥

३. श्रद्धा का भी मूल कारण निष्ठा नाम से कही जाने वाली धृति होती है इस पूर्वोक्त का फिर स्मरण करा रहे हैं—कि अक्षर पुरुष में बल की धारणा से अपना श्रद्धान भाव जो अन्तर्यमन रूप पहले कहा गया है, प्रवृत्त होता है, श्रद्धा से पदार्थानुगामिनी मति—प्रज्ञा रूपा जो आत्मा की निजी है उसमें अर्थ का प्रवेश हो जाता है—वह ही विज्ञान है। वह विज्ञान अन्तर्यामी सत्य में प्रतिबिम्बित होता है। इस कारण ही "श्रद्धया सत्यमाप्यते" यह श्रुति की घोषणा है।

श्रद्धा का कारण धृति को बताया गया, अब धृति का कारण बताते हैं—जहां दूसरे अन्तर्यामी में निज का अन्तर्यामी धृति रूप प्रतिष्ठा पा जाता है तब वह उसकी और अपनी प्रबलता और दुर्बलता रूप तारतम्य का निश्चय करता है, तदनन्तर यह मेरे कृति साध्य है तथा करने योग्य भी है इस निर्णय पर पहुंचता है। इस प्रकार धृति होने पर ही कृति होती है ॥१७१॥

४. पूर्व कथित सनत्कुमार के उपदेश में धृति का भी कारण कृति को कहा है, उसका ही स्पष्टीकरण कर रहे हैं। यहां कृति इस पद से धारणा करने के लिये किये जाने वाले अन्तः प्रयत्न को समझना चाहिये।

पहले कही गई प्रक्रिया के अनुसार अन्य के अन्तर्यामी में निज का अन्तर्यामी जब धृति पा जाता है, अर्थात् निज अन्तर्यामी का अनुगमन करने वाले प्रयत्न से वह अन्य के अन्तर्यामी में सम्बद्ध होता है, तदनन्तर जिस अन्तर्यामी से वह बंधा है उसके और निज के प्राबल्य दौर्बल्य रूप 'सूत्र तारतम्य' का निश्चय करता है, उससे ही ये कार्य मेरे कृति साध्य है कि न ही यह निर्णय करता है। किसी भी कार्य की प्रवृत्ति में 'इष्ट साधनता ज्ञान' अर्थात् अभिलषित की पूर्ति होने का ज्ञान और 'कृति साध्यता ज्ञान' अर्थात् काम हमारी कृति के साध्य है यह ज्ञान ये दो ज्ञान कार्य प्रवृत्ति के कारण नैयायिकों ने माने हैं। वे दोनों ही ज्ञान कृति से पैदा होने वाली धृति से होते हैं—यह आशय है।

जहां अन्य के अन्तर्यामी में निज का अन्तर्यामी निष्ठा रूप धृति नहीं पाता वहां वह एकरूप भी नहीं हो पाता ऐसी स्थिति में कोई भी विक्षेप बल के सहारे कुछ भी करने में समर्थ नहीं होता। 'अर्थात् किं कर्तव्य विमूढ' हो जाता है ॥१७२॥

५. जहां पदार्थगत अन्तर्यामी से अपने अन्तर्यामी का धृति रूप सम्बन्ध नहीं होता, वहां विक्षेपबल की प्रवृत्ति नहीं होती, कुछ भी करने की प्रवृत्ति नहीं होती।

जैसा निज का अन्तर्यामी है उससे विशिष्ट अन्तर्यामी जिसका होता है उसमें अपने अन्तर्यामी का प्रयोग करने पर पूर्ण श्रद्धा होती है और वो श्रद्धा बल के उदयभाव के लिये होती है ।।१७३।।

६. जहाँ धृति के द्वारा प्रबलता और दुर्बलता रूप तारतम्य का ज्ञान हो जाने पर निज की अपेक्षा अन्य की उत्कृष्टता अन्तर्यामी जान लेता है—तब श्रद्धा उत्पन्न होती है—यह तात्पर्य है। तदनन्तर ही विक्षेपबल का उदय होता है और उसके अनन्तर क्रिया होती है इस प्रकार क्रम चलता है।

[१]सुखाशनायैव तु कर्मयोनिः सुखानुबन्धादिह चेतनोऽयम् ।
प्रवर्तते कर्मसु सर्वलोकः सुखं न पश्येन्न कदापि कुर्यात् ।।१७४।।
यत्कर्म कृत्वा सुखमाप्तुमीष्टे यत्कुर्वतो वास्ति सुखानुभूतिः ।
या वा क्रिया या च धृतिः सुखा स्याच्छ्रद्धा सुखा चेत् बलमेति कर्तुम् ।।१७५।।
[२]तज्ज्ञानसिद्धयै क्वचिदर्थसिद्धयै कर्म द्विधैवोभयथाऽपि तत्र ।
सुखोपलब्धिः परमार्थसिद्धिस्तदर्थताज्ञानधनादिषु स्यात् ।।१७६।।
धृत्या [३]दयश्चेतनमात्रनिष्ठा इतीह साध्वी न धृतिः परेषाम् ।
जडेष्वपीमे समवद्रुवन्तीन्द्रियाद्यभावात्तु न तत्प्रतीतिः ।।१७७।।
सर्वत्र[४] सत्यं समवत्प्रपद्ये श्रद्धाधृती सत्यकृते भवेताम् ।
मिथोऽनुसारादपसारतो वा संप्रीतिविद्वेषणयोः प्रसिद्धिः ।।१७८।।

संसार में कृति रूप कर्म प्रवृत्ति का प्ररक रूप कारण सुख होता है अतः सुख रूप अशनाया को कर्म की योनि बताया है। चेतन आत्मा स्वयं सुखमय है अतः सुख ग्रहण रूप अनुगत बन्धन में बंधा हुआ वह विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त होता है। किसी भी कर्म में यदि सुख मिलता दिखाई न पड़े तो कोई भी उस कर्म को नहीं करता यह प्रत्यक्ष है ।।१७४।।

१. आगे कृति का भी कारण सुख होता है, यह सनत्कुमार ने कहा है—उसका आशय बताते हैं—कि सब कर्मों में प्रवृत्ति का कारण सुख पाने की इच्छा ही है, वैदिक परिभाषा में जिसे सुखाशनाया कहते हैं। इसके बिना कहीं कोई कर्म नहीं करता।

जिस काम को करने से फलस्वरूप सुख पाया जा सके अथवा जिस क्रिया को करते हुए भी सुख का अनुभव होता हो, जो क्रिया और जो निष्ठा सुख रूपिणी हो, एवं च श्रद्धा भी जहां सुखमयी हो वहां ही बल की क्रिया रूप में प्रवृत्ति होती है ।।१७५।।

कर्म कहीं तो ज्ञान प्राप्ति के लिये अथवा कहीं धन प्राप्ति के लिये, इन दो रूपों में ही किया जाता है। दोनों विधाओं से सुख की प्राप्ति हो यह परम लक्ष्य होता है, और सुख पाने के साधन ज्ञान, धन आदि ही होते हैं, अतः इन सुखसाधनों को पाने के लिये ही कर्म में प्रवृत्ति होती है ।।१७६।।

२. अपने किये हुए कर्म से साक्षात् सुख की प्राप्ति कभी कहीं नहीं होती है, क्रिया से कहीं तो ज्ञान की अथवा कहीं धन की प्राप्ति हुआ करती है और ज्ञान, धन ये दोनों प्राणीमात्र के अभीष्ट

होते हैं। नहीं जानी हुई चीज को जान लेने की प्रवृत्ति जीव की सदा होती है, इस ही प्रकार नहीं मिले हुए धन को पाने की भी प्रवृत्ति सदा होती है। दोनों तरह से अभिलाषा पूर्ण होने से सुख होता है—इस तरह सुख ही सर्वत्र कृति में प्रेरक होता है। सुख प्राप्ति के लक्ष्य से ही ज्ञान, धन आदि को पाने के लिये प्रवृत्ति होती है। लोक व्यवहार में जो कामना के तीन विभाग वित्तैषणा, पुत्रैषणा और लोकैषणा रूप में किये जाते हैं, उन एषणाओं अर्थात् कामनाओं का अन्तर्भाव भी इस सुख प्राप्ति में ही कर लेना चाहिये। वे सब भी सुख पाने के लिये ही होती हैं अतः सुखाशनाया की ही पर्याय रूप सुखैषणा में उनकी अन्तर्गणना हो जाती है।

कुछ विद्वानों की धारणा है कि ये धृति आदि केवल चेतन प्राणियों में ही रहते हैं, उनकी यह मान्यता समुचित नहीं है—क्योंकि ये धृति आदि तो जड़ चेतन सब में समान भाव से ही रहते हैं। जड़ वर्ग में इन्द्रिय आदि का अभाव होने से उनकी प्रत्यक्ष प्रतीति नहीं होती है ॥१७७॥

३. आरम्भ में धृति आदि विशेषकर चेतनप्राणियों के कर्म के कारण बनते हैं—यह कहा गया था—उसका तात्पर्य यह ही है कि चेतन प्राणी से धृति श्रद्धा आदि की प्रतीति स्पष्ट रूप से हो जाती है। वास्तव में तो ये धृति आदि सारे ही भाव चेतन तथा जड़ सब में समान रूप से रहते हैं—इसलिये पद्य में कहा गया कि 'अन्य विद्वानों की जो यह धारणा है कि ये चेतन प्राणियों में ही रहते हैं, यह समुचित नहीं है। वेद के सिद्धान्त के अनुसार तो ये धृतिश्रद्धा आदि भाव जड़ चेतन सब में ही रहते हैं। यदि सर्वत्र रहते हैं तो जड़वर्ग में उनकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? इसका समाधान करते हैं कि 'इन्द्रियाभावात्' अर्थात् जड़वर्ग में इन्द्रियों का विकास नहीं होता अतः प्रतीति नहीं होती। अनुभूति रूप प्रत्यक्ष प्रतीति की साधक तो इन्द्रियां ही होती हैं। जहां इन्द्रियां विकसित नहीं हुई हैं, वहां प्रतीति का साधन न होने से प्रतीति नहीं होती। इस ही विषय में चरक की उक्ति "सेन्द्रियं चेतनद्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम्" पहले कही गई है उसका यहाँ भी स्मरण कर लेना चाहिये।

धृति श्रद्धा आदि सारे ससार में व्याप्त रहते हैं इसकी मौलिक अनिवार्यता यह है कि—सत्य भाव में कहा गया अन्तर्यामी तत्व तो सर्वत्र व्याप्त रहता ही है, उस सत्य रूप कारण से ही श्रद्धा आदि की कार्य रूप में उत्पत्ति होती है और कारण सत्ता से कार्य की सत्ता तो बंधी रहती है, अतः सत्य के समान श्रद्धा धृति आदि की स्थिति भी सर्वत्र रहती है। इन श्रद्धा आदि का परस्पर सम्बन्ध जुड़ा हुआ अनुसरण जीवनकाल में यदि होता है तो परस्पर प्रीतिभाव का उदय रहता है और जिनमें इनका सम्बन्ध नहीं जुड़ पाता, अपसार रूप दूरी हो जाती है वहां परस्पर द्वेष हो जाता है, यह सर्वत्र देखा जाता है।।१७८॥

४. धृति आदि जड़चेतन में साधारण रूप से सर्वत्र रहते हैं इसकी उपपत्ति बताते हैं—पहले अन्तर्यामी रूप जो सत्य कहा गया है—उस की सर्वत्र व्यापकता में तो किसी का भी विवाद है नहीं, सारे वैदिक दर्शन के विद्वान यह तो मानते ही हैं कि अन्तर्यामी रूप से चैतन्य सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। और नारद सनत्कुमार संवाद में भूमा पद द्वारा इस चैतन्य पर ही उपसंहार किया गया। उस अन्तर्यामी सत्य चैतन्य द्वारा कृति आदि के क्रम से निष्ठा- जिसका दूसरा नाम है

वह धृति उत्पन्न हुई है और उस धृति से श्रद्धा हुई है— अतः उस चैतन्य के रहने पर इनका रहना तो स्वतः सिद्ध है। क्योंकि सर्वत्र ये नियम माना जाता है कि कारण यदि स्थित है तो वहां कार्य भी अवश्य होगा। इस तरह संसार में जिनका परस्पर अनुसरण (अनुकूल) रूप सम्बन्ध होता है, वहाँ प्रीति का व्यवहार होता है, और जिनका यह अनुसरण सम्बन्ध नहीं होता उनका व्यवहार द्वेषमय कहा जाता है, ये प्रीति और विद्वेष भी जड़चेतन सब में साधारण हैं।

[1]चिदन्वयाज्ज्ञानमथान्नभोगादर्थाभिसन्धिश्च समं समेषु।
प्रज्ञान कर्म व्यतिरिच्य सर्वं कर्मैव सर्वत्र समं प्रपद्ये ।।१७९।।

[2]अथ प्रणोदो गति वेग वृत्त्यो भावश्च विक्षेप बलानि पञ्चधा।
महद् गतानि क्षणिकान्यमूनि तैः कृतः स्वरूपा बहुधोदिताः क्रियाः ।।१८०।।

[3]स्यान्नोदनाऽन्यत्र बलोपधानं संस्कार एषोऽस्ति स पञ्चरूपः।
घातावनाघातयुतेरदृष्टात् प्राक्कर्मतोऽर्थान्तरपर्ययाच्च ।।१८१।।

[4]साघातजा यत्र बलं बलप्रदाद् व्युत्तिष्ठतेऽन्या तु बले समीकृते।
अदृष्टजा दैवकृताऽथ कर्मणः क्षयोपलब्धावसरा तु कर्मजा ।।१८२।।

[5]संयोग एषोऽस्ति बलाऽभिसंक्रमे हेतुः सहेतुर्यदि शब्दसंभवे।
संयोगजं कर्म विभागकारणं संयोगिनोश्चेदभिघात उच्यते ।।१८३।।

इस आत्मचैतन्य का अन्वय (आधार रूप सम्बन्ध) पाकर ही प्राणीमात्र का ज्ञान से सम्बन्ध, प्रवृत्तिरूप होता है, नहीं जाने हुए को जानने की इच्छा सबको ही होती है। इस ही प्रकार अपने भोजन के लिये अन्न ग्रहण करना यह भी सर्वत्र समान है, एवं च अभि अर्थात् चोतरफ सन्धि—जुडी हुई—जो प्रयोजन सिद्धि कही जाती है, यह भी सर्वत्र साथ रहती है। इस तरह सर्वसाधारण ज्ञान, भोग और लक्ष्यसाधना सब में होते हैं। केवल—प्रज्ञान—आत्मा की शक्ति प्रज्ञा के द्वारा सम्पादित कर्म, चेतन प्राणियों के ही होते हैं, इन प्रज्ञानकर्मों को छोड़कर अन्य सारे कर्म सब में समान हैं। यह ही प्रायः देखने को मिलता है ।।१७९।।

१. चेतना रूपिणी चित् जब सर्वत्र व्यापक रहती है तो ज्ञान भी सर्वत्र व्याप्त रहता है ये मानना होगा क्योंकि चित् और ज्ञान शब्द तो पर्याय हैं। सर्वत्र यह भी देखा जाता है कि सब कोई अपने भोगार्थ दूसरे से कुछ ग्रहण करता रहता है, अतः ज्ञान के समान अन्न का भोग भी जड़ और चेतन में समान है। परस्पर सम्बन्ध रूपा जो अभिसन्धि है वह भी सब में ही रहती है। निष्कर्ष यह है कि पहले जो मनः प्रधान प्रज्ञान आत्मा कहा गया है, उसके कर्म जड़वर्ग में नहीं होते, क्योंकि जड़ों में मन का जागरण नहीं हो पाता, मन के साथ चलने वाली इन्द्रियों के द्वारा सम्पादन होने वाले कर्मों के अतिरिक्त अन्य सारे कर्म तो जड़ चेतन साधारण ही होते हैं। वेदान्त सूत्रों में जगत् की विलक्षणता के अधिकरण में कहा है कि जड़ पदार्थों में व्यापक रहने वाले सोम की यदि कहीं मन रूप में परिणति हो जाती है तो वे काठ कहे जाने वाले

जड़ भी चेतन घुनजीवों के रूप में बदल जाते हैं। चेतन जगत् मनः प्रधान है—यह स्पष्ट होता है।

क्रिया की पूर्व अवस्था रूप जो विक्षेप बल कहा गया है—वह पंचधा—पाञ्च रूपों में विभक्त होता है, उनकें नाम प्रणोद, गति, वेग, वृत्ति और भाव हैं। महान् नाम के प्रथम बल में वे प्रणोद आदि क्षणिक बल संचरण करते रहते हैं, इनसे ही क्रियाओं के अनन्त रूप उदित होते हैं ॥१८०॥

२. अब विक्षेप बल के पांच प्रकार प्रणोद गति आदि बताये गये। महान् नाम के बल प्रधान प्रथम रूप की व्याख्या पहले हुई है, उस महान् के सहारे ही सारे क्षणमात्रावस्थायी बल रहा करते हैं, महान् के सम्बन्ध से वे शक्ति रूप में आ जाते हैं, उनके द्वारा ही उत्पन्न की जाने वाली बहुधा दिखाई देती हैं।

प्रणोद नाम नोदना अर्थात् प्रेरणा का है, अपने बल को अन्य में समर्पित करने को नोदना कहते हैं। इस को ही संस्कार भी कहते हैं। यह नोदना रूप संस्कार पांच प्रकार का होता है। उन पाँचों के नाम हैं—घात, अनाघातयुति, अदृष्ट, प्राक्कर्मजन्यता तथा प्रेरणा का अन्य रूप में परिवर्तन ॥१८१॥

३. प्रणोद नाम का जो विक्षेप बल के भेदों में पहला भेद कहा गया है, वह नोदना नाम से भी कहा जाता है। निज सम्बद्ध बल का अन्यत्र उपधान अर्थात् समर्पण ही नोदना है। संस्कार पद से भी इसका व्यवहार होता है। इस नोदना की संस्कार रूपता का विवरण तत्काल आगे मूल में ही किया जायगा। उस नोदना के भी कारणों के भेद से पांच भेद होते हैं। किसी के आघात से उत्पन्न नोदना, अनाघातयुति से हुई नोदना, भाग्य विहिता, कर्मजनिता तथा अर्थान्तर पर्यय अर्थात् रूप बदल जाने से होने वाली नोदना, इस तरह कारण भेद से नोदना पंचधा होती है।

पाँचों भेदों का विवरण—जहाँ बल का प्रयोग करने पर बल प्रयोक्ता से बल सर्वथा पृथक् होकर अन्य में संक्रान्त होजाय—वहां आघात जनित नोदना होती है। एवं च जहाँ जिस पर बल का प्रयोग किया जाय उसमें और प्रयोक्ता में दोनों समान भाव में नोदना बल रहे—वहाँ अनाघातयुति जनित अर्थात् सर्वथा पृथक् न होती हुई उभयनिष्ठ रहती है। जहां नोदना का कारण तो समझ में न आवे किन्तु प्रेरणा हो जावे—वह नोदना अदृष्ट (भाग्य) जनित वा दैव जनित होती है। क्षणमात्र स्थायी प्रथम कर्म के नष्ट होजाने पर भी आगे क्रमशः कर्म प्रवृत्ति रूप नोदना जहाँ होती रहे वह कर्म जनिता नोदना होती है ॥१८२॥

४. जिस संयोग में नोदना योग से एक पदार्थ का बल अन्य में संक्रान्त हो जाय पहले बलाधार पदार्थ में बल का अभाव हो जाय— वो आघात जनित नोदना है। जहां दूसरे के संघर्ष से बल अन्य में भी संक्रमित हो जावे और अपने में भी रहे वो अनाघात युतिजनित नोदना है। जिस नोदना का प्रत्यक्ष कोई कारण ज्ञान सीमा में न आवे वो दैव की की हुई अदृष्ट जनित होती

है। एक जगह क्रिया का क्षय हो जाने पर जिस नोदना को प्रवृत्ति का अवसर मिलता है चोथी वह कर्म जनित कही जाती है।

आघात आदि भेदों का स्पष्टीकरण -- दो पदार्थों का संयोग हो बल के अन्यत्र संक्रमण का हेतु होता है—वह संयोग यदि ध्वनि रूप शब्द उत्पत्ति का भी कारण बन जाय अर्थात् संयोग से आवाज भी होने लगे और संयोग से होने वाली क्रिया से संयुक्त पदार्थ का अवयवशः विभाग भी होने लगे तो उस संयोग को अभिघात वा आघात कहा जाता है ।।१८३।।

५. आगे इन भेदों का विवरण करते हैं—बल के अन्यत्र संक्रमण का हेतु भूत संयोग यदि वहाँ शब्द उत्पत्ति का भी हेतु बन जाय और साथ ही संयोग से जनित क्रिया, संयुक्तों के अवयवशः विभक्त करने में भी कारण बन जाय तो उसे अभिघात पद से कहा जाता है। जैसे काठ से कुठार का संयोग होने पर, प्रहार से आवाज भी होती है और काठ के संयुक्त अवयवों का विभाजन भी होता है। वहां ये कुठार का बल कुठार के संयोग से काठ में संक्रमित होता है, यह अभिघातजा नोदना है।

[1]यदन्यदाहन्यत एतदाहिताघातः परस्मिन् परतः समागतः ।
संस्कारधर्मः स विलीयते न चेद् भोगात् क्षयं यात्यभिघातनोदना ।।१८४।।

[2]अथाऽनभीघातज नोदना हि सा संयोगतो यत्र बलं समर्प्यते ।
व्यासज्य वृत्या तु बलप्रदायिना बली बलोदर्कमिहाश्नुते स्ववत् ।।१८५।।

संयोग एषोऽस्ति बलाभिसंक्रमे हेतुर्न हेतुर्यदि शब्दसम्भवे ।
संयोगजं कर्म विभाग कारणं न स्यात् तदाऽसौ सहयोग नोदना ।।१८६।।

[3]कुर्वद्बलं कुत्रचिदन्ययोगतो विलुप्यतेऽन्यत्र बलं विलीयते ।
संस्कारनाशात् पतनं गुरुत्वतः वर्वाचित्तु योगाद् बलिनोः फलान्तरम् ।।१८७।।

[4]अदृष्टमुक्तं यदलौकिकं भवेद्धा मनुष्यैरनुपाख्यमस्ति यत् ।
तद्दैवसंयोगकृतं क्वचित् क्वचित् सत्यं क्वचित् कर्मजवाऽसनामयम् ।।१८८।।

अभिघात नोदना का अन्य प्रकार—एक अभिघात जनित नोदना जब प्रवृत्त हो रही हो उस ही संयोग में यदि अन्य पदार्थगत नोदना अन्य घात से उत्पन्न हो जाय तो वह नोदना आहित आघात है-- वह आघात दूसरे ने दूसरे पर किया है—ध्वनि के गतिक्रम से वह काठ काटने वाले तक आ रहा है, 'जैसे काँसे की की आरती बजने की ध्वनि'। यह संस्कार रूप धर्म होता है, वह संस्कार रूप धर्म किसी अन्य स्पर्श के द्वारा यदि रोका न जावे तो जितना नोदना बल पदार्थगत हो चुका है, वह पूरा भुक्त होकर ही क्षीण होता है। ये भी अभिघात नोदना है ।।१८४।।

१. जिस समय काष्ठ काटने की आवाज हो रही हो—उसही संयोग में परम्परा प्रचलित यदि अन्य किसी पदार्थ पर भी आघात पड़े तो आहित (अन्यत्र से रखा गया) आघात है, और वह संस्कार रूप धर्म है, उसकी प्रवृत्ति को यदि अन्य स्पर्श आदि से रोका न जाय तो उसका पूरा

भोग हो जाने पर ही क्षय होता है, अर्थात् जितना बल का प्रभाव होता है उतनी क्रिया होती है, मध्य में अन्य के स्पर्श मात्र से भी विलीन हो जाती है—जैसे कांसे के पात्र का अनुरणन हाथ के स्पर्श मात्र से विलीन हो जाता है ।

जिस नोदनाबल की प्रवृत्ति में किसी प्रकार का आघात नहीं होता वह अभिघात के बिना उत्पन्न होने वाली नोदना है, वहाँ संयोगवश अपने धन-अन्नादि रूप बल का अन्यत्र समर्पण कर देने पर भी, जो कि संयोगवश हुआ है, तदनन्तर भी वहाँ बल दोनों में समान भाव में रहता है। फलस्वरूप उस नोदना प्रवृत्तिजनित सुख का दोनों साथ-साथ, उस सुख को निज का सुख मानकर भोग करते हैं। अर्थात् जिसने उस बल का दान किया है वो और ग्रहीता दोनों सुख पाते हैं ॥१८५॥

२. अब दूसरी अनाघात नोदना को इस पद्य में अनभिघात नोदना नाम से स्पष्ट किया जा रहा है। आघात और अभिघात शब्द परस्पर पर्याय हैं। अभिघात शब्द जो पद्य में दीर्घ-अभीगात रूप में प्रवृत्त हुआ है—वह "उपसर्गस्यघञ्यमनुष्ये बहुलम्" इस सूत्र पर आधारित है । जिस नोदना द्वारा संयोगवश अन्यत्र बल का समर्पण तो किया जाता है किन्तु बल देने वाले में और जिसमें वह बल समर्पित किया गया है उसमें वह बल व्यासज्य वृत्ति से रहता है । जो कि एक ही धर्म दो वस्तुओं को आधार बनाये रहे, एक में ही पूरी तरह न रहे उसे व्यासज्य वृत्ति कहते हैं। वहां बल दाता तथा बल ग्रहीता, दोनों अर्थात् जो पहले से बल सम्पन्न था वह दाता भी उस दिये गए बल के उदर्क (फल) का निज अर्जित बल के समान ही भोग करता है । ऐसी नोदना प्रवृत्ति 'अनभीघातयुतिनोदना' बिना किसी आघात के संयुक्त रहने वाली नोदना कही जाती है। व्यासज्य वृत्ति शब्द नवीन न्याय के ग्रन्थों में सुप्रसिद्ध है। जैसे द्रव्यों में द्वित्वत्रित्व आदि संख्या। आगे के पद्य में अन्य विवरण भी किया गया है—ये नोदना जनित कर्म वास्तव में शब्द का कारण नहीं होता और न विभाग का कारण होता है । उदाहरणों का समन्वय आगे हो जायगा ।

बल के अन्यत्र संक्रमण में यह संयोग हेतु बनता है—वह जहाँ शब्द की उत्पत्ति का हेतु न बने वहाँ संयोगजनित क्रिया पदार्थ के अवयवों के विभाग की कारण भी नहीं बनती, तब वह सहयोग नोदना होती है। "यह भी अनभीघातजनित नोदना का ही प्रकार है" ॥१८६॥

बल जब क्रियाभाव में परिणत हो रहा हो उस समय प्रतिरोधक किसी अन्य पदार्थ के संयोग से वह बल विलुप्त हो जाता है, प्रतिरोधक पदार्थ में वह विलीन हो जाता है, पूर्व क्रिया का अनुगत संस्कार नष्ट हो जाता है और पार्थिव गुरुत्वाकर्षण से वह पदार्थ नीचे गिर जाता है और यदि समान बलशाली आपस में संयुक्त होते हैं तो अन्य ही फल होता है ॥१८७॥

३. नोदना से उत्पन्न होने वाला क्रिया रूप में परिवर्तित बल, पहले शक्ति रूपता पाकर फिर क्रिया को उत्पन्न करने के लिये उन्मुख होता है, वह बल कहीं अन्य किसी पदार्थ के संयोग से विलुप्त हो जाता है—जैसे किसी के हाथ से फेंका हुआ पत्थर वा अन्य कोई पदार्थ, दिवाल का स्पर्श

पाकर अथवा दूसरे के द्वारा हाथ आदि से रोके जाने पर आगे नहीं चल पाता, उससे सम्बन्धित बल भींत वा हाथ आदि में विलीन हो जाता है। उस फैंके हुए पत्थर आदि का गति संस्कार नष्ट हो जाने से और पत्थर में स्वभावतः रहने वाले भारीपन के कारण पतन हो जाता है। दूसरी अवस्था में जहां दो समान बल शक्तियों का संयोग होता है वहां फल कुछ और ही होता है, जैसे दौड़कर आये हुए दो मीढों की परस्पर टक्कर होने पर दोनों में से एक अथवा दोनों ही थक जाते हैं और गिर भी जाते हैं।

अदृष्ट नोदना— जैसी लोक में कहीं देखी न जाती हो ऐसी अलौकिक भाव से जनित नोदना को अदृष्टजा या दैवजनिता कहा जाता है, इस नोदना के विषय में कोई मनुष्य कुछ भी स्पष्ट नहीं कह सकता, वह नोदना दैवसंयोग से संपादित होती है किन्तु ऐसी कहीं-कहीं ही होती है, कहीं तो यह सत्य होती है और कहीं अपने कर्म से उत्पन्न वासना रूप में असत्य भी होती है ।।१८८।।

४. इस पद्य में अदृष्ट जनित नोदना का स्पष्ट रूप में विवरण है श्लोक के अन्तिम चरण में तो ये कहा गया कि अदृष्ट जिसमें हेतु बनता हो ऐसी नोदना से होने वाला कर्म कहीं ही होता है सर्वत्र नहीं, और जहां कहीं होता है वहां कभी तो सत्य होता है और कहीं प्राणियों की पूर्व उपार्जित कर्म से समुत्पन्न वासना से असत्य भी प्रतीत होता है—जैसे स्वप्न आदि में होता है। इस श्लोक में कहे गये सत्य रूप और वासना रूपों का विवरण आगे के पद्य में स्पष्ट रूप से हुआ है।

> उत्पत्तिशिष्टं प्रतिवस्तु धर्मकं सत्यं तथा स्वेन परेण वा कृता ।
> स्यात्कृत्रिमा संस्कृतिरेव वासनाऽथागन्तुको दैवतयोग इष्यते ।।१८९।।
>
> [1]या नोदना क्वापि कृता तदादौ प्रदृश्यते यः पुरुषप्रयत्नः ।
> तमन्तरेणैव यदुत्तरं स्यात् सान्तानिकं कर्म च कर्मजं तत् ।।१९०।।
>
> [2]संस्कार एव प्रथमेन कर्मणा भवत्यतस्तूत्तरमुत्तरं क्रमात् ।
> संस्कारजं कर्म भवत्यतो विदुर्न कर्मसाध्यं किल कर्म विद्यते ।।१९१।।
>
> [3]अथात्मसंयोगगुरुत्वयत्नतो हस्ते खलूत्क्षेपणकर्म जायते ।
> तद्धस्तसंयोगवशात् तथा पुनर्हस्ताहते स्यान्मुसलेऽपि कर्म तत् ।।१९२।।
>
> [4]यज्ञोऽशनायासहितस्त्विहात्मा तन्नोदितः प्राण इह प्रयत्नः ।
> पृथ्वीबलं वस्तुगतं गुरुत्वं वेगः सजातीयबलोच्चयः स्यात् ।।१९३।।

प्रत्येक पदार्थ की उत्पत्ति के अनन्तर पदार्थ में रहने वाला स्वाभाविक धर्म सत्य होता है, अर्थात् पदार्थगत स्वाभाविक धर्म सत्य है तथा स्वयं अथवा दूसरे के द्वारा किया गया कृत्रिम संस्कार वासना कहलाता है और सत्य तथा वासना से अतिरिक्त अज्ञात रूप में बाहर से अचानक आया हुआ आगन्तुक धर्म अदृष्ट वा दैवयोग माना जाता है ।।१८९।।

जो नोदना या प्रेरणा कहीं भी होती है उसमें प्रथम नोदना पुरुष के प्रयत्न से होती है—उससे क्रिया का आरम्भ होता है—तदनन्तर प्रयत्न के बिना भी क्रिया पर क्रिया

रूप जो क्रिया प्रवाह चलता है—वह सन्तान रूप कर्म, कर्म से उत्पन्न नोदना द्वारा होता है, वहां कर्मजा नोदना प्रवृत्त होती है ॥१६०॥

१. अब पहले कही गई चौथी कर्मजनिता नोदना का विवरण करते हैं। पुरुष के प्रयत्न से प्रथम नोदना कहीं की गई तदनन्तर पुरुष प्रयत्न के बिना ही जो क्रिया से उत्पन्न अन्य क्रिया, सन्तान रूप से कर्म रूप में प्रवृत्त होती है। उसे कर्म से ही उत्पन्न हुई समझना चाहिये। इसका दृष्टान्त मूसलका आघात आदि आगे ग्रन्थ में ही बताया जा रहा है।

प्रयत्नजनित प्रथम कर्म से संस्कार का उदय होता है, आगे होने वाली क्रिया के बाद क्रिया, संस्कार जनित होती है, अतः जा कर्म से कर्म का उत्पत्ति नहीं होती यह मान्यता है—वह समुचित ही है—क्योंकि प्रथम कर्म के अनन्तर तत् कार्य सम्बन्धी सारी क्रियायें संस्कार से उत्पन्न होती हैं ॥१६१॥

२. महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्र 'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' (१।१।११) में कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती यह कहा गया है, उस कथन से यहां कोई विरोध नहीं होता यह स्पष्ट कर रहे हैं—पुरुष के प्रयत्न से किये गये प्रथम कर्म से संस्कार का जन्म होता है, उस संस्कार से ही आगे क्रिया पर क्रिया होती है, इस प्रक्रिया में कर्म से साक्षात् अन्य कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, यह सूत्र का तात्पर्य है। संस्कार द्वारा क्रिया परम्परा का जन्म तो होता ही है। यह संस्कार वेग नाम से कहे जाने वाला बलों का एकत्र समूह रूप ही होता है—ये आगे बताया जायगा। निष्कर्ष यह निकला कि कर्म की पूर्व अवस्था ही संस्कार है। फलित यह हुआ कि स्थूल क्रिया द्वारा सूक्ष्म अवस्था रूप बल का आधान अन्यत्र किया जाता है—उस सूक्ष्म बल से फिर सजातीय क्रिया की प्रवृत्ति होती रहती है। स्थूल क्रिया कर्म की जनक नहीं होती, यह निषेध ही कणाद ने किया है, यह तात्पर्य है।

कर्म की उत्पत्ति कर्म से न होकर चेतनामयी नोदना से हो होती है, इसका दृष्टान्त मूसल से धान कूटने वाली परिस्थिति में देखना चाहिये—वहां हाथ से मूसल को उठाकर जोर से धान पर पटकने की क्रिया होती है, किन्तु उस हाथ की क्रिया में हेतुभूत आत्मचेतना का संयोग, हाथ से और हाथ की गुरुता, स्वयं को होती है, उस चेतना के सम्बन्ध से हाथ में उछाल रूप क्रिया होती है, और उस चेतन हाथ को पकड़ रूप संयोग से पकड़े हुए उस मुसल वा मूसल में भी वही उछाल पटक रूप क्रिया होती है। अतः क्रिया की क्रिया निमित्त नहीं होती, प्रथम नोदना ही निमित्त है ॥१६२॥

३. वैशेषिक सूत्र में कहा हुआ मुसल से धान कूटना रूप कर्म ही दृष्टान्त रूप से बता रहे हैं। जब कोई स्त्री धान को मुसल से कूटकर स्वच्छ करने में प्रवृत्त होती है, तब सबसे पहले उसके हाथ में मुसल को ऊपर की ओर उठाने का—क्रिया नाम से कहा जाने वाला कर्म होता है, उस कर्म के हेतु अनेक हैं—जैसे आत्म चेतना का हाथ से सम्पर्क, हाथ से गुरुत्व रूप आकर्षण शक्ति और आत्मा और मन के सम्पर्क से पैदा हुए आत्मा में कर्माभिमुख होने का प्रयत्न रूप व्यापार आदि, इन हेतुओं से संयुक्त हाथ के संयोग से नोदना रूप से मुसल में क्रिया होती है। वहां भी हाथ की क्रिया से मुसल का संयोग है और संयोग से समुत्पन्न क्रिया मुसल में होती

है—अतः कर्म ही कर्म का साक्षात् जनक है यह नहीं माना जा सकता। यह ही बात भगवान् कणाद ने कही है, वहां दो सूत्र हैं—"आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" (१) तथा—"हस्त-संयोगाच्च मुसल कर्म" (२) (वैशे०५ अ०१) इन सूत्रों का स्पष्टीकरण हो चुका है।

यज्ञ स्वरूप आत्मा, सदा अशनायारूप इच्छा के साथ रहने वाला यहां आत्मा माना जाता है, उस आत्मा से प्रेरणा पाया हुआ प्राण ही प्रयत्न रूप में प्रतीत होता है, पदार्थ में स्वाभाविक रूप से रहने वाला पृथ्वी का बल गुरुत्व नाम से कहा जाता है और एक जाती के बलों का एकत्र समुच्चय ही वेग नाम से ख्यात होता है ।।१९३।।

४. पूर्व श्लोक में कहे गये आत्मा आदि शब्दों का विवरण करते हैं—यहां अशनाया नाम की इच्छा शक्ति के सहित यज्ञ रूपी भूतात्मा ही आत्मा पद से कहा जाता है । इसकी जानकारी के लिये पहले जो व्यावहारिक आत्माओं का विवरण किया गया है उसे देखना चाहिये । भूतात्मा की उत्पत्ति यज्ञ से होती है अत. यज्ञ पद से ही यहां कहा गया है। उस भूतात्मा रूप चैतन्य द्वारा जो प्राण में प्रेरणा होती है—वह यत्न नाम से कही जाती है, अर्थात् प्रेरणा पाया हुआ प्राण ही प्रयत्न है, और प्रेरणा जो कि क्रिया की मूल आधार है उसका भी प्राण में ही अन्तर्भाव हो जाता है। गुरुता नाम से भी नैयायिकों के समान किसी गुण विशेष की कल्पना नहीं करनी चाहिये क्योंकि पृथ्वी का आकर्षण रूप बल जो सब पदार्थों में स्वभावतः रहता है—उसको ही गुरुत्व कहते हैं। पृथ्वी के इस आकर्षण बल का निर्देश -वेद में अनेक जगह हुआ है। सिद्धान्त शिरोमणि नाम के ग्रन्थ में भास्कराचार्य ने भी 'आकृष्टिशक्तिश्च मही' कहकर इसका विवरण किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि न्यूटन नाम के विदेशी ने आकर्षण विद्या का आविष्कार किया है, ये कहना अज्ञानमूलक प्रजल्पना का फैलाव मात्र है । यह पृथ्वी का आकर्षण-बल हमारे शरीरों में भी प्रसर्पित होता है इसलिये हाथ आदि शरीर के अवयवों में भी गुरुता का व्यवहार होता है। ऐसे आकर्षण विशिष्ट शरीर के अवयवों में ही क्रिया होती है, सूक्ष्म नाड़ियों को अथवा शरीरगत रोमावली को कोई ऊपर नहीं उछाल सकता है। इस ही कारण हाथ की ऊपर क्षेपण रूप क्रिया में ग्रन्थकार ने गुरुत्वाकर्षण को भी कारण रूप में निविष्ट कर दिया है। वेग नाम का संस्कार जो आगे कहा जायगा—वह भी कोई पृथक् गुण नहीं है—सजातीय बलों का समुदाय रूप ही वेग होता है । बल का ही रस के आधार से भिन्न भिन्न गुणों के नाम से व्यवहार होता है । नैयायिकों की द्रव्य गुण परिभाषा तो अल्प बुद्धि वाले बालकों के प्रबोधन मात्र के लिये ही है, यह सार है । इसलिये यह कहना समुचित ही है कि—सजातीय बलों का समुच्चय ही वेग नाम का संस्कार है।

[१]अथाऽभिघाताज्जनिते तु कर्मणि स्यान्मौसलेऽभ्युत्पतने न कारणम् ।
स हस्तयोगो व्यतिरेकदर्शनात् तथात्मयोगोऽपि न हस्तकर्मणि ।।१९४।।
[२]तत्राभिघातान्मुसलानुयोगाद्धस्तेऽस्ति कर्माथ तथात्मकर्म ।
तद्धस्तयोगाच्च तदात्मकर्मसंयोगनाशे पतनं गुरुत्वात् ।।१९५।।

आगे उस ही मुसल क्रिया में आघातजनित क्रिया जब तीव्र वेग से होने लगती है तब मुसल के उत्थानपतन में हाथ का योग भी कारण नहीं होता, क्योंकि उस अवस्था में

व्यतिरेक (क्रिया की तीव्र गति) देखा जाता है, हाथ सहज भाव में स्वतः उठता गिरता रहता है, उसको उठाने के लिये स्वयं को प्रयत्न भी नहीं करना पड़ता, क्रिया जनित क्रिया यही कही जाती है ।।१९४।।

१. इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से मुसल में क्रिया प्रवृत्ति पैदा हो जाने पर मूसल का आघात ऊखल में जब पुनः-पुनः किया जाता है, तब उस आघात से मूसल में वेग नाम का संस्कार उत्पन्न हो जाता है, अर्थात् हाथ के द्वारा पैदा हुए बल का और ऊखल में आघात से पैदा हुए बल का एक रूप में समुच्चय हो जाता है। वैसे वेग से ही मूसल में आगे क्रिया होती है। उस अवस्था में बार-बार मूसल के उछलने रूप कर्म में हाथ की क्रिया ही कारण नहीं बनती। उसमें 'व्यतिरेक दर्शन' को हेतु बताया है। व्यतिरेक का तात्पर्य है कि कूटने का प्रारम्भ करते समय हाथ की क्रिया से पैदा हुई मुसल क्रिया की अपेक्षा इस समय की मुसल क्रिया में व्यतिरेक-विशेषता दिखाई देती है, पहले हस्तजनित क्रिया से मुसल में क्रिया शिथिलता से प्रवृत्त हुई थी अब वेग आ जाने पर मूसल में तीव्र क्रिया देखी जाती है—यह ही व्यतिरेक है। कूटने वाली की हल्की सी हाथ की चेष्टा से बड़ी तेज उछाल होती है, यह भी व्यतिरेक की व्याख्या की जाती है, भगवान् कणाद ने यही कहा है "अभिघातजेमुसलादौ कर्मणि व्यतिरेक दर्शनाद कारणं हस्तसंयोगः" (वै० सू० ५।१।३)। सूत्र के व्याख्याकार कोई तो यह कहते हैं कि हाथ की क्रिया के रुक जाने पर भी एकक्षण मूसल की उछाल दिखाई देती है—वह व्यतिरेक है। वैसी अवस्था में उस तीव्रगति में हाथ को ऊपर उठाने के लिये भी स्वयं का प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता—वेग से चलने वाले मूसल के संयोग से ही हाथ भी उठता रहता है। यह पहले कहे गये कर्मजनित कर्म का उदाहरण समझना चाहिये।

तीव्र गति से होने वाले इस कर्म के रुक जाने का हेतु—हाथ और मुसल की संयुक्त अवस्था में मूसल में नोदना रूप आघात से हाथ में क्रिया होती है, शरीर के अवयव भूत हाथ का शरीरगत आत्मा से सम्पर्क रहने के कारण आत्मा में प्रेरणा रूप कर्म होता है, उस प्रेरणा से ही हस्तमुसल संयोग होता है, आगे जब उस ही आत्मा के यत्न से हाथ और मुसल का संयोग नष्ट कर दिया जाता है तो क्रिया रुक जाती है और मूसल अपनी गुरुता के कारण गिर जाता है ।।१९५।।

२. पूर्वोक्त का और स्पष्टीकरण—मूसल में जो आघात लगता है तो उससे संयुक्त हाथ में भी क्रिया होती है। और उस हाथ के योग से पूर्व कथित भूतात्मा नाम से कहे जाने वाले यज्ञात्मा में भी कंपन रूप कर्म होता है। हाथ और मुसल का संयोग तो सर्वप्रथम होने वाले आत्मा के प्रयत्न से होता है यह कहा जा चुका है। उस आत्मा के प्रयत्नजनित संयोग का जब पुनः आत्मा के प्रयत्न से ही हाथ के पृथक् कर देने पर नाश हो जाता है तो मुसल की गुरुता से मुसल का पतन हो जाता है। उस समय आघात द्वारा जो वेग नाम का संस्कार उदित हुआ था वह भी नष्ट हो जाता है, ये भाव है। विशेष नोदना के बिना मूसल में ऊपर की ओर अथवा तिरछी गति नहीं होती यह अग्रिम श्लोक में स्पष्ट किया जा रहा है। ये सब भी कणाद ने सूत्रबद्ध किया है—(वै० सू० ५-१-५-१०) "अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च।

संयोगाभावे गुरुत्वात्पतनम् । नोदनाविशेषाभावान्नोर्ध्वं न तिर्यग्गनम् । प्रयत्नविशेषान्नोदनाविशेषः । नोदनाविशेषादुदसनविशेषः" । वैशेषिकदर्शन की परिभाषा में व्यापक आत्मा में किसी क्रिया की सम्भावना नहीं हो सकती । अतः आत्मा पद से लक्षणा द्वारा अथवा आत्मा इस शब्द के अनेक अर्थ में व्यवहार के कारण व्याख्याकार शरीर का ही ग्रहण करते हैं । अथवा सूत्र का अन्य ही अर्थ लगाते हैं । हमारी सम्मति में तो व्यावहारिक आत्मा जो भूतात्मा कहा जाता है—वह परिच्छिन्न (सीमित) ही है—अतः उसमें भी कर्म की स्थिति है ही । इस विषय में अन्य सूत्र भी अन्यान्य प्रसंगों में व्याख्याकारों ने संयोजित किये हैं । ग्रन्थकर्ता ने तो एक जगह ही उस योजना को सम्भव मानकर अन्यान्य प्रकरणों के अनुधावन को व्यर्थ जानकर, सब की एक जगह ही योजना कर दी है ।

नोद्ध्वं न तिर्यग् गमनं च नोदनाविशेषहीने मुसलेऽभिजायते ।
प्रयत्नभेदात्तु भवन्ति नोदनाभेदास्ततस्तूदसने विशेषता ।।१६६।।

[1]तुल्यं शिशोः कर्म च हस्तकर्मणा विस्फोटने कर्म च दग्धवस्तुनः ।
अथा प्रयत्नं चलनं च निद्रितस्यैवं तृणे कर्म च वायुयोगतः ।।१६७।।

[2]मणेस्तु यत् स्याद् गमनं च सूचिकाऽभिसर्पणं चैतददृष्टकारणम् ।
[3]तथाद्य कर्मैतदिषोः प्रणोदनात् संस्कारतोऽन्यानि तु कर्म कारितात् ।।१६८।।

चेतनायुक्त किसी विशेष नोदना के बिना मूसल में ऊपर, तिरछे जो गति होती है वह होना सम्भव ही नहीं है, और वो नोदना आत्मचैतन्य का जैसा प्रयत्न होता है वैसी होती है । प्रयत्न के नाना भेद हैं तो नोदना के भी नाना भेद हैं । अतएव उदसन में अर्थात् फेंकना, उठाना, पटकना, बाहर निकालना आदि सारी क्रिया परिणतियों में विशेषता होती है ।।१६६।।

जिस चेतनामयी नोदना का सहयोग पाकर संसार के सारे कर्म संचरित हो रहे हैं, वह नोदना जैसी हमारे हाथ पैर चलाने में होती है, वैसी ही एक शिशु के हाथ पैर उछालने में होती है । इस नोदना का विस्तार तो यहाँ तक है कि बिना ही आत्म प्रयत्न के निद्रित अवस्था में भी आदमी उठकर चलने लगता है, पड़े हुए तिनकों में तीव्र गति वायु नोदना के संयोग से ही होती है । अग्नि सम्पर्क से जल जाने पर जो दाहमयघाव हो जाता है—वह अग्नि नोदना का परिणाम है ।।१६७।।

१. कथित नोदना जनित कर्म की समानता अन्यत्र भी समझा रहे हैं कि—जैसे आत्मा की प्रेरणा से प्रयत्नपूर्वक हमारे हाथ में क्रिया होती है, वैसे ही एक शिशु के भी आत्मा की प्रेरणा से ही हाथपैरों में उछाल रूप गति होती है । शिशु के शरीर में गति होने की एक अन्य व्याख्या भी यहां सम्भव होती है कि जिस समय माता अथवा धाय बच्चे को गोद में लेकर अपने प्रयत्न से हिलाती डुलाती है तो उस अवस्था में माता या धाय की नोदना से शिशु के शरीर में क्रिया होती है । इस ही प्रकार अग्नि दग्ध में विस्फोट (घाव) अग्नि की नोदना से होता है । वायु की नोदना से तृण आदि में गति आ जाती है । ये सारे उदाहरण बिना किसी आघात से जनित

जो नोदना है उससे उत्पन्न हुए कर्मों के उदाहरण हैं। ये सब (वै० सू० ५।१।११।१४) के अनुसार ही बताये गये हैं, सूत्र हैं—

हस्तकर्मणा दारककर्म व्याख्यातम्। तथा दग्धस्य विस्फोटने।
यत्नाभावे प्रसुप्तस्य चलनम्। तृणे कर्म वायुसंयोगात्।

सूत्र व्याख्याकारों ने यहां कहा है कि जैसे किसी शिशु के कर्म में हितकर का ग्रहण और अहित का त्याग रूप विचार न होते हुए स्वाभाविक क्रिया होती है—उस कर्म में पुण्य पाप जनकता नहीं होती वैसी ही समानता मूसल क्रिया में भी है और अग्निदग्ध के शल्य कर्म जनित कष्ट में भी कोई पुण्यपाप जनकता नहीं होती आदि, किन्तु इस प्रकार की सादृश्य कल्पना में उपस्कार की की गई व्याख्या का वृथा प्रयास है। इससे तो सूत्र के अक्षरों का अर्थ ही अन्यथा भाव में चला जाता है। इस पर विद्वानों को ध्यान देना चाहिये।

अदृश्य जनित नोदना का उदाहरण अयस्कान्त मणि (चुम्बक) के पास लोहे की सूई आदि का आकर्षण होता है—कहीं किसी मणि की गति भी होती है और सूई आदि का खिचाव भी होता देखा जाता है, इन क्रियाओं में अदृष्ट ही कारण होता है।

धनुष से बाण चलाने में सबसे पहली क्रिया तो हाथ की नोदना से ही होती है किन्तु आगे जो उत्तरोत्तर बाण की गति होती है वह वेग रूप संस्कार से होती है ॥१६८॥

२. अदृष्ट जनित नोदना से होने वाले कर्म का दृष्टान्त बता रहे हैं—मणिविशेष का एक स्थान से अन्य स्थान पर स्वतः सरकना, अथवा सूई आदि लोहे से बनी हुई वस्तु का चुम्बक नाम से प्रसिद्ध अयस्कान्त मणि के समीप स्वतः खिच जाना—इस कर्म में अदृष्ट ही कारण होता है अदृष्टकारणम् इस पद की दो प्रकार से व्याख्या सम्भव हो सकती है, एक तो—नहीं देखा है कारण जिसका, अर्थात् इस क्रिया का कारण आजतक कोई भी नहीं जान सका, यह सरल व्याख्या है। इससे अतिरिक्त विद्वानों की कल्पना प्रधान व्याख्या है कि—कारण पद से भोक्ता पुरुष में रहने वाला धर्म-अधर्म नाम से कहा जाने वाला कारण लेना चाहिये—उस कारण को किसी ने नहीं देखा है यह 'अदृष्टकारणम्' का अर्थ है।

चाहे जैसी नोदना से जनित कर्म हो—कर्म सामान्य में यह सर्वत्र देखा जाता है कि कर्माभिसर्पण से किसी पुरुष को लाभ होता है तो किसी की हानि, उस लाभ हानि द्वारा ही सुख अथवा दुःख का अनुभव होता है, वैसे सुख दुःख को पैदा करने की शक्ति रखने वाले अदृष्ट ने ही मणि आदि में गति रूप क्रिया भी उत्पन्न कर दी, ये भाव हैं। यह कथन भी सूत्र के अनुसार ही है "मणि गमनं सूच्यभिसर्पणमदृष्टकारणकम्" (वै० सू० ५।१।१५) यहां उपस्कार कर्ता के अनुसार मन्त्र साधना से प्रेरित तस्कर आदि को नष्ट करने के लिये उनके अभिमुख जाने वाली मणि अथवा कांसे की थाली का ग्रहण करना चाहिये, उनको यही अभिमत है। चन्द्रकान्त तर्कालंकार तो तृण आदि का तृणकान्त मणि के समीप चले जाना ये व्याख्या कर चुके हैं।

अदृष्ट जनित कर्म के विषय में यह शंका की जाती है कि उक्त दृष्टान्तों में भी किसी प्रकार के संयोग वा विभाग को ही हेतु मानना चाहिये—किसी नहीं दिखने वाले अदृष्ट को कारण क्यों कह रहे हैं किसी विशेष मणि वा रत्न में अभिसर्पण (पदार्थ की ओर तेजी से गति) करने का

हेतुभूत बल है, वह ही जाग पड़ता है तब वह मणि स्वतः स्थानान्तरित हो जाता है और अयस्कान्त (चुम्बक) में आकर्षण शक्ति है उसके कारण सूई आदि उसकी ओर खिंच आती हैं, ये तब भी तो सम्भव है, फिर अदृष्ट को कारणता क्यों ? इस विषय में वक्तव्य यह है कि यदि गति का प्रयोजक बल मणि में रहता है, तो उसमें सदा ही गति भाव क्यों नहीं होता ? यदि यह कहा जाय कि किसी विशेष परिस्थिति में ही उस बल का जागरण होता है तो उस जागरण का हेतु भी तो अदृष्ट को ही मानना होगा, तो फिर गति में ही अदृष्ट को हेतु क्यों नहीं मान लेते हैं ? एवं च हाथ आदि की प्रेरणा से भी किसी विशेष मणि में कोई क्रिया होना सम्भव होता ही है। यदि मणि में भी पृथक् स्वतन्त्र बल की स्थिति मानी जाय तो हाथ की नोदना से मणिगत स्वतन्त्र बल का संघर्ष होगा तो दोनों के संयोग से कोई विचित्र सी गति उदित होजानी चाहिये, किन्तु वैसी कोई गति देखी नहीं जाती है। चुम्बक मणि में यदि आकर्षण स्वाभाविक मान लिया जाय तो पत्थर आदि का आकर्षण भी उससे क्यों नहीं होता है ? यदि यह कहा जाय कि सूई आदि पर ही उसके आकर्षण का प्रभाव होता है, तो वैसे नियम में भी अदृष्ट हेतु की ही कल्पना करनी होगी। इस कारण ये मानना होगा कि दिखाई देने वाले हेतु मात्र से निर्वाह नहीं हो सकता।

३. बाण सन्धान कर्म का उल्लेख वैशेषिक सूत्र ५.१ में किया है "अथ नोदनादाद्यमिषोः कर्म, तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च। संस्काराभावे गुरुत्वात्पतनम्। इस सूत्र के अनुसार ही फैंके गए बाण की क्रिया का विवरण करते हैं कि—बाण की सबसे पहली क्रिया नोदना जनित होती है, प्रकार है—आत्मचैतन्य की प्रेरणा से हाथ की क्रिया, हाथ के संयोग से धनुष में क्रिया, उस धनुष से संयुक्त रहने से बाण में पहली नोदना से होने वाली क्रिया। फिर बाण का जो आगे से आगे बढना होता है—वह वेग नाम के संस्कार से होता है। हाथ से की जाने वाली पहली क्रिया उस वेग को उत्पन्न करती है—फिर उस वेग के कारण ही अग्रिम क्रियाओं का जन्म होता है, समुच्चय होता जाता है। इस तरह कर्म को उत्पन्न करने वाला साक्षात् कर्म नहीं होता, यह सोचना उचित है।

[1]कर्माण्यतेषां प्रतिपद्यते यतः संयोगभेदा युगपन्नसन्ति हि।
संस्कारनाशे पतनं गुरुत्वतो मध्ये विकारः क्व च नोदनान्तरात् ॥१९९॥
[2]कर्मोदियान्नोदनतोऽभिघाततः संयुक्तसंयोगवशाच्च पार्थिव।
तेषामभावे तददृष्टकारितं ततोऽन्यथा कर्म न पार्थिवे क्वचित् ॥२००॥
[3]रज्जौ प्रणोदाद्रथकर्म वर्त्मना तूच्चावचेन प्रहतस्य शब्दवत्।
भूकम्पनाद्येतददृष्टकारितं तदित्थमन्यत्र पृथग् विभावयेत् ॥२०१॥

धनुष से छूटे हुए बाण में असंख्य क्रिया होती हैं यह स्पष्ट जाना जाता है कि बाण का आगे बढने का तात्पर्य हुआ कि पहले स्थान को छोड़ना और अगले स्थान को पकड़ना—यह क्रम है—और बाण का संधान जिस प्रदेश तक किया गया है—वह प्रदेश भी क्रमशः दूरी में है—सारी दूरी इकट्ठी एक जगह नहीं होती इससे आगे फिर उससे आगे यह क्रम सर्वत्र रहता है—अतः बाण एकबार की क्रिया में ही सारी दूरी को एक साथ ही पार नहीं

करता क्रमशः ही करता है—वहाँ तक बाण असंख्य क्रियाओं का आश्रय बन जाता है। वेग नाम का आदि नोदना जनित संस्कार जब समाप्त हो जाता है तो बाण अपने भारीपन के कारण गिर जाता है, अथवा लक्ष्य पर पहुँचने से पहले मध्य में ही किसी अन्य प्रेरित बाण आदि से विकृत हो जाता है क्योंकि वहाँ विरोधी नोदना हेतु बन जाती है ।।१९९।।

१. बहुत दूरी पर जो बाण आदि का लक्ष्य बनाया जाता है, उस दूरी में विभिन्न प्रदेशों के बहुसंख्य संयोग हो रहे हैं, वे सारे संयोग एक ही कर्म से पार कर लिये जांय यह तो सम्भव नहीं माना जा सकता अतः वहां बहुतसी क्रिया हो रही हैं यह मानना होगा, यही कह रहे हैं कि—'इषां कर्मान्यता प्रतिपद्यते' अर्थात् बाण में विभिन्न क्रियाओं की आधारता सिद्ध होती है क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रदेशों के सम्बन्ध युगपत् (एकसाथ) नहीं हैं अर्थात् क्रमशः हैं। बाण क्रमशः ही बीच के आकाश प्रदेशों को पार करता है एक साथ नहीं। क्योंकि बीच के किसी अवकाश रूप प्रदेश को छोड़कर आगे गति होना सम्भव ही नहीं है। जब प्रथम प्रदेश से संयोग नहीं रहा तो वह पहली क्रिया भी नष्ट हो गई अब दूसरी क्रिया उत्पन्न हो गई यह मानना होगा क्योंकि चतुर्थ क्षण में क्रिया का नाश माना गया है। प्रथम क्षण कर्म का उत्पत्ति क्षण है, द्वितीय क्षण में क्रिया में विभाजन होता है, तीसरे क्षण में पूर्व संयोग का नाश हो जाता है और चतुर्थ में आगे के प्रदेश से संयोग। इस अग्रिम संयोग को उत्पन्न कर के ही पूर्व क्रिया नष्ट हो जाती है, यह वैशेषिक दर्शन की प्रक्रिया है। (वै० सू० ४।१।१६) में कहा गया है 'इषावयुगपत्संयोगाः कर्मान्यत्वे हेतुः'। अन्त में वेग नाम के संस्कार के नष्ट हो जाने पर गुरुता के कारण बाण का पतन हो जाता है, कहीं किसी अन्य विरुद्ध प्रेरणा से मध्य में ही वेग नष्ट हो जाता है।

पार्थिव पदार्थों में कर्म का उदय नोदना से होता है, अथवा नोदना संयुक्त के संयोग से होता है अथवा अभिघात (आघात) से होता है, ये हेतु न रहने पर भी जो कर्म होता है उसमें अदृष्ट (दैव) कारण होता है। इनके अतिरिक्त पार्थिव पदार्थों में कर्म होने का और कोई कारण नहीं होता ।।२००।।

२. कथित विषय का संक्षेप में उपसंहार कर रहे हैं। उक्त प्रकार से पार्थिव प्रस्तर लोहे आदि में तीन प्रकार से ही क्रिया की सम्भावना होती है, अन्य कोई प्रकार नहीं है। कणाद ने (वै० सू० ५।२।१।२) में यह स्पष्ट कर दिया है—"नोदनाभिघातात् संयुक्तसंयोगाच्चपृथिव्यां कर्म" "तद्विशेषेणादृष्टकारितम्" इत्यादि।

संयुक्त संयोग का दृष्टान्त रथ चलने की क्रिया—अश्व के प्रयत्न से जो उसके शरीर में गति हुई—उस गति से अश्व के साथ बंधी हुई रथ की रस्सी खिंच रही है तो रथ में भी गति होने लगती है—यह संयुक्त संयोग में कर्म है। इस गति कर्म में शब्द भी होता है यदि रथ की गति ऊंची नीची जमीन पर हो रही हो—अथवा रथ के पहिये कंकड़ पत्थरों से टकरा रहे हों। इसके अतिरिक्त सहसा भूकम्प होने से जो शब्द और संचलन हो जाता है वह अदृष्ट का किया होता है। इस प्रकार सर्वत्र इन संयोगों पर पृथक् दृष्टि रखनी चाहिये ।।२०१।।

३. इससे पूर्व श्लोक में कहे गये संयुक्त संयोग को दृष्टान्त सहित बता रहे हैं—रथ के चलने में घोड़ों के निज के प्रयत्न से उनके शरीर में क्रिया होती है, घोड़े संयुक्त रथ की घोड़े के साथ बंधी हुई

रथ की रज्जू (रस्सी आदि) में नोदना उदित हो जाती है रथ क्रियावान् हो जाता है। ऊंचे-नीचे असम स्थल में चलते हुए कंकड़ पत्थरों के आघात से इस कर्म में शब्द भी साथ रहता है—यह संयुक्त संयोग—नोदना और अभिघात का समुच्चय रूप है। कदाचित् भूकम्प आ जाने से जो रथ आदि में सहसा संचलन—कंपन क्रिया हो जाती है—वह अदृष्ट जनित होती है।

[1]संयोगनाशे पतनं गुरुत्वादपां तथा प्रस्रवणं द्रवत्वात्।
अपां च संयोगदशाद् विभागात् तडित्वतः स्फूर्जयु संभवः स्यात् ॥२०२॥

[2]संघात एवं विलयश्च तेजो विशेषसंयोगवशादपां स्यात्।
विस्फूर्जथुः स्पष्टमिहास्ति लिङ्गं महर्षयश्चापि तथा वदन्ति ॥२०३॥

वृष्टि कर्म का विवरण—वायु के संयोग से ऊपर आकाश में गया हुआ पार्थिव जल, उस वायु संयोग के नष्ट हो जाने पर अपनी गुरुता के कारण पृथ्वी पर आगिरता है और तरलता रूप द्रवता के कारण सर्वत्र फैल जाता है। ऊपर आकाश में जिस निरोधक वायु ने जल के अनन्तकणों को रोक रखा था—उस अवस्था में उनके परस्पर संयुक्त हो जाने से तरलता हटकर घनता आ जाती है—जल की बर्फ शिला बन जाने के समान। उस घन-भाव में जब भेदन करने वाले वायु की टकराहट होती है तो वो घनता का संयोग टूटता है, तब बिजली की कड़क और चमक दोनों होती हैं ॥२०२॥

१. जल में कर्म निरूपण—जल को रोक रखने वाले वायु के सम्पर्क से जल मेघ के रूप में अन्तरिक्ष में टिके रहते हैं। इस जल के पतन को रोक रखने वाले एक विशेष वायु को वेद की तथा पुराणों की परिभाषा में 'वृत्र' कहा जाता है। उस ही अन्तरिक्ष का ज्योतिर्मय वायु विशेष इन्द्र ही उस जल पतन-निवारक वृत्र वायु के संयोग को विघटित करता है—इस हेतु से इन्द्र वृत्रहन्ता कहा जाता है। अवरोधक वायु संयोग के नष्ट हो जाने पर गुरुता के कारण जलों का भूमि में पतन हो जाता है। गुरुता भूमि का आकर्षण है यह पहले कहा जा चुका है, द्रवता जल का अपना स्वभाव है—अतः वह भूमि में सर्वत्र प्रसरित हो जाता है। यह द्रवता भी अग्नि संयोग जनित नोदना से होती है, यह आगे के पद्य में बताया जायगा।
अन्तरिक्ष में रुके हुए घनभाव में आये हुए अर्थात् अनन्त जलकण परस्पर संयुक्त होकर एकदम सट गए हों उस अवस्था में विरुद्ध वायु की टक्कर से विद्युत् रूप चमक और वज्रनिर्घोष रूप मेघ गर्जन की उत्पत्ति सम्भावित होती है।

जल का संघात इकट्ठा होकर शिलाभाव वा हिमभाव, अथवा तरलता रूप द्रवण अग्नि विशेष के संयोग से हुआ करता है—वह द्रवता जल की स्वाभाविक नहीं है। घनता पर तेजमय वायु की चोट से घन गर्जन और विद्युत् दर्शन होते हैं यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस विषय में महर्षियों की मान्यता भी यही है ॥२०३॥

२. इस विषय में नवीन नैयायिक जल में स्वभाव सिद्ध द्रवता मानते हैं और जल के हिमभाव में आ जाने पर जो कठिनता प्रतीत होती है, उसे वे भ्रान्ति कहते हैं, उनका यह कथन युक्तिसंगत तर्क हीन होने से तथा सूत्र के विरुद्ध होने से स्वयं में ही भ्रान्त है, यह बता रहे हैं। एक अग्नि इस प्रकार का होता है—जिसके संयोग की विशेषता से जल में घनभाव आकर कठोरता आती

है, और दूसरे प्रकार के विलक्षण तेज (अग्नि) के संयोग विशेष से विलयन अर्थात् द्रवता आती है । यदि द्रवता को स्वाभाविक माना जाय और हिमखण्ड की कठिनता प्रतीति को भ्रान्ति रूप माना जाय तो अन्तरिक्ष में मेघ गर्जना और बिजली की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सके । द्रवीभूत बहने वाले जल में परस्पर टकराकर वैसी उत्कट गर्जना का होना असम्भव है । लोक में बहते हुए जल में जो शब्द सुनाई देता है—वह तो घनीभूत पार्थिव पदार्थ के संघर्ष से उत्पन्न होता है । अन्तरिक्ष में उसकी सम्भावना भी नहीं की जा सकती क्योंकि वहां कोई घनीभूत दूसरा पदार्थ होता ही नहीं । अतः ये मानना होगा कि घनभाव के पदार्थों की परस्पर टक्कर से ही विद्युत् की उत्पत्ति और वैसी उत्कट गर्जना सम्भव हो सकती है अतः अन्तरिक्ष में होने वाली मेघ गर्जना और विद्युत् विकास को जल की घनता में प्रमाण माना जा सकता है । उपलक्षण रूप में यह उदाहरण है । जल जो घनभाव में हिमशिलारूप हो जाते हैं—उस अवस्था को भ्रान्ति बताने वालों के शिर पर यदि उस हिमशिला का आघात किया जाय तो शिर का स्फोटन होकर जो रुधिर पात होवे, उससे भ्रान्ति बताने वालों का मस्तक ही चकरा जावे यह प्रत्यक्ष है । यह सब भगवान् कणाद ने सूत्रित कर दिया है—(वै० सू० अ० ५ आ० २) अपां संयोगाभावे गुरुत्वात् पतनम् ।३। द्रवत्वात् स्पन्दनम् ।४। नाड्योवायुसंयोगादारोहणम् ।५। नोदनापीडनात् संयुक्त संयोगाच्च ।६। वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम् ।७। अपां संघातो विलयनं च तेजः संयोगात् ।८। तत्र विस्फूर्जथुर्लिङ्गम् ।९। वैदिकं च ।१०। अपां संयोगाद् विभागाच्च स्तनयित्नो ।११। इति । यहां भगवान् कणाद ने तेज (अग्नि) के संयोग से ही जल की घनावस्था का विलयन (पिघलना) होता है इस कथन को दसवें सूत्र में वेदोक्तता से भी प्रमाणित किया है । इस ही बात को मूल में 'महर्षयश्चापि तथा वदन्ति' कहकर संकेत किया है । जल में अग्नि की स्थिति (ऋ० सं० १।२।११)—"अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा । अग्निं च विश्व-शम्भुवम् ।" ऋग्वेद में निर्दिष्ट है, अन्यत्र "या अग्नि गर्भं दधिरे" मन्त्रों में भी जल मे अन्तर्निहित अग्नि का निर्देश हुआ है, उन मन्त्रों पर विचार करना चाहिये । आधुनिक वैज्ञानिक विद्वान् भी (आक्सीजन) नाम से अग्नि की जल में स्थिति मानते ही हैं । इस सारी विचार परम्परा के विरुद्ध जल में स्वाभाविक द्रवता की कल्पना सर्वथा अश्रद्धेय है । इन सूत्रों में ५, ६, ७ संख्या के सूत्रों का विवरण आगे मूल में ही मिल जायगा । इन सूत्रों की व्याख्या करते हुए उपस्कार कर्ता ने तीसरे सूत्र की व्याख्या में कहा है कि—मेघ के और जल के संयोग के अभाव हो जाने पर जल का वर्षा रूप में पतन हो जाता है । उनका यह कथन तो उपहास योग्य ही है—क्योंकि जल ही तो मेघरूप में दिखाई दे रहा है—जल के अतिरिक्त मेघ और किस को कहते हैं—जिस मेघ से जलों का संयोग माना जाय । मेघ तो पात्रविशेष है, उसमें रखे हुए जल क्रमशः गिरते रहते हैं, यह विश्वास तो ग्रामीणों का है । उन महान् विद्वानों पर यह कटाक्ष नहीं है इसमें उस समय की विज्ञानशून्यता ही कारण है । आगे भी आठवें सूत्र 'अपां संघात' आदि की व्याख्या करते हुए उन महानुभाव ने जल में 'सांसिद्धिकद्रवत्व' रूप मान्यता की रक्षा करते हुए कहा है कि "दिव्य तेज से प्रतिबन्धित हो जाने से जल के परमाणु जो द्वयणुक को बनाने जा रहे हैं— वे द्वयणुकों में द्रवता पैदा नहीं कर रहे हैं तो द्रवता से शून्य वे दो अणु और वैसे अनेक द्वयणुक द्रवता के अभाव में हिम रूप तथा कारक रूप हो जाते हैं, इस ही कारण उनमें कठोरता रहती

है । तेज के संयोग से हिम और कारक बनाने वाले परमाणुओं का क्रिया द्वारा विभाग हो जाता है तब बनाने वाले संयोग का नाश हो जाता है, इस परम्परा से महान् अवयवी हिम आदि का नाश हो जाता है । अब द्रवता को रोकने वाले तेज के संयोग का विभाग हो जाने से वे ही परमाणु द्वयणुकों में द्रवता उत्पन्न करने लगते हैं तब पिघल जाने से हिम करक आदि विलीन हो जाते हैं इत्यादि" । यह सब उनकी कल्पना का फैलाव मात्र है, परमाणुओं में द्रवता मानने में कोई प्रमाण नहीं है, एवं च परमाणु के धर्म किसी प्रतिबन्ध से अवयवी में धर्मों की प्रवृत्ति नहीं करते इसका कोई दृष्टान्त भी नहीं मिलता, अत: अवयवी जल में द्रवता तो अग्नि के संयोग से ही होती है—जैसे सुवर्ण को अग्नि संयोग से गला दिया जाता है, वैसी निमित्त सम्भवा द्रवता ही जल में मानना समुचित है—जैसा कि सूत्रकार ने बिलयन तेज के संयोग से होता है यह स्पष्ट कहा है । द्रव्यनिरूपण में भी "आपोद्रवा स्निग्धा:" इतना मात्र सूत्रकार ने कहा है, वह तो निमित्त से द्रवता मानने पर भी उपयुक्त माना ही जायगा, सूत्र में विशेषतया सांसिद्धिक (स्वाभाविक) द्रवता नहीं कही गई है, प्रत्यक्ष भी हिम खण्ड तथा करक (ओले) आदि की विलीनता स्पष्ट देखी जाती है, इसलिये परमाणु पर्यन्त विभाग हो जाने पर पुन: द्रवता का आरम्भ होता है ये कल्पना तो प्रत्यक्ष के विरुद्ध है, यदि परमाणु पर्यन्त हिमखण्ड आदि का विभाजन हो जाय, तो द्वयणुकों के अदृश्य रहने से कुछ क्षण तक देखने वाले के सामने कुछ भी न दीख पड़े, किन्तु ऐसा कहीं होता नहीं है । अत: तेज के सयोग से जो द्रवता कही गई है—वह ही न्याय युक्त है ।

[1]आरोहणं स्यादिह नाडचवायुसंयोगतो नोदनपीडनाच्च ।
संयुक्तसंयोगवशाच्च वृक्षेऽभिसर्पणं त्वेतददृष्टमूलम् ।।२०४।।

[2]पृथ्वीवदाभाति हि कर्म तेजसो ऽप्यग्नेस्तथोर्ध्वज्वलनं त्वदृष्टत: ।
द्रव्यान्तरेणावरणात्तु तेजसोऽभावस्तम: स त्रिकतो विधर्मि यत् ।।२०५।।

जल की ऊपर आरोहण की प्रक्रिया—नदी, तालाब, समुद्र आदि से जल नाड्य वायु के संयोग से ऊपर खिच जाता है । "नाड्यवायु टीका में स्पष्ट की गई है" । कहीं पुरुष के द्वारा पानी को ऊपर उछालने की क्रिया से जल के अणु ऊपर चले जाते हैं, कहीं अग्नि से पीड़ित होकर अवयवश: विभक्त होकर ऊपर भाप के रूप में चले जाते हैं, कहीं अग्नि संयुक्त यन्त्र द्वारा जल को ऊपर खींचा जाता है—वहां संयुक्त संयोग हेतु होता है । इन से अतिरिक्त वृक्ष की जड़ में डाला हुआ जल जो उसके ऊपर के सारे अवयवों में व्याप्त हो जाता है उसका हेतु तो अदृष्ट ही है ।।२०४।।

१. जल की अन्य क्रिया का विवरण—समुद्र आदि के जल का नाडी सम्बन्धी वायु के सम्पर्क से अन्तरिक्ष में आरोहण रूप खिचाव होता है । जैसे शरीर में नाडियां फैली हुई हैं वैसे ही अन्तरिक्ष में बिखरा हुआ जल नाडी जाल की समानता से जलनाडी नाम से ज्यौतिष की परिभाषा में कहा जाता है । ज्यौतिष ग्रन्थों में यह परिभाषित है । यहां अन्तरिक्ष में जल को ले जाने वाले वायु को नाडयवायुतत्कारणवशात् कह दिया है । क्योंकि अन्तरिक्ष की उस जलनाडी का निर्माता वायु ही है । सूत्र के व्याख्याताओं ने तो नाडी पद से सूर्य की रश्मियों का ही ग्रहण

किया है। अन्य प्रक्रिया में पुरुष के प्रयत्न द्वारा किये गये सूर्य अर्घ्य के उत्क्षेपण आदि कर्मों से भी जलकणों का ऊर्ध्व गमन होता है, उनको ऊपर का सामान्य वायु ही खींच लेता है। कहीं पीडन से ऊपर जाता है अर्थात् जल-अग्नि संयोग पात्र माध्यम से होने पर जल को अग्नि पीडित करता है तो जल के अवयवों का विभाजन होकर जल सूक्ष्म भाप रूप में आ जाता है और ऊपर उड़ने लगता है। यन्त्र आदि के द्वारा जहां जल ऊपर ले जाया जाता है, वहां तो संयुक्त संयोग वश होता है—क्योंकि अग्नि की नोदना से अग्नि से संयुक्त यन्त्र में क्रिया की उत्पत्ति होगी फिर उस यन्त्र से संयुक्त जल में। वृक्ष आदि में सींचे गये जल का जो वृक्ष के अवयवों में व्याप्त हो जाना देखा जाता है—इसका कारण-अदृष्ट-दैव ही है। अदृष्ट की दो प्रकार की व्याख्या जो पहले की जा चुकी है—उसे स्मरण रखना चाहिए।

पृथ्वी के समान ही अग्नि में भी कर्म नोदनादि जनित ही होता है। अग्नि ज्वाला जो सदा ऊपर की ओर ही उठती है, उसमें अदृष्ट कारण होता है। किसी अन्य पदार्थ के आवरण से जब तेज का अभाव होजाता है तब तम या अन्धकार कहलाता है, वह द्रव्यगुण-कर्म इस त्रिक से विलक्षण होता है अर्थात् अन्य सामान्य धर्मों से तम का धर्म निरुद्ध होता है ॥२०५॥

२. तेज में अर्थात् अग्नि में भी कर्म संचार पृथ्वी के समान ही पुरुष के प्रयत्न से जनित नोदना से, अथवा वायु की प्रेरणा से होता है, जलने पर सदा ज्वाला का ऊपर की ओर ही गमन तो अदृष्ट हेतु से होता है। (वै० सू० ५।२।) में यह ही कहा गया है—"पृथिवी कर्मणा तेजः कर्म वायुकर्म च व्याख्यातम् ।१२। अग्नेरूर्ध्वज्वलनं वायोस्तिर्यग्गमनमणूनां मनसश्चाद्यं कर्मादृष्ट कारितम् ।१४। इत्यादि। जब तेज अन्य किसी द्रव्य से आवृत हो जाता है तब तेज का अभाव ही तम (अंधेरा) रूप में प्रतीत होने लगता है। अन्धकार या तम कोई भिन्न द्रव्य नहीं है। तम में 'त्रिकतः' अर्थात् अन्य द्रव्य गुण कर्मों से बिलक्षणता देखी जाती है। सामान्यतया द्रव्य सर्वत्र प्रथम अणुभाव में आकर फिर क्रमशः महान् बनता है। ये प्रक्रिया तम में नहीं देखी जाती, क्योंकि तम में अवयव तथा अवयवीभाव की प्रतीति ही नहीं होती। विशाल आंगन में सर्वत्र एकबार में ही अन्धकार व्याप्त हो जाता है, अन्य पदार्थों के समान अणु और महान् के तारतम्यभाव से तम की उत्पत्ति होती दिखाई नहीं देती। जिस पदार्थ का कोई रूप बन जाता है उसका स्पर्श भी किया जा सकता है प्रायः यह ही देखा जाता है। तम में विपरीत भाव है—अन्धकार में काला रूप तो दिखाई देता है किन्तु किसी प्रकार के स्पर्श का अनुभव नहीं होता—यह द्रव्यान्तरों से द्रव्य भाव की विलक्षणता है। प्रभा में भी यद्यपि एक बार ही सर्वत्र व्याप्त हो जाना और स्पर्श का अभाव प्रतीत होता है, और कणादमतावलम्बियों ने प्रभा को द्रव्य रूप ही माना है, तथापि प्रभा में श्वेतरूप ही होने से प्रभा का सन्निवेश तेज में किया जाता है। तम में तो नीले वा काले रूप की प्रतीति होती है, और कृष्ण वा नीला रूप पृथिवी में ही देखा जाता है। पार्थिव पदार्थों में सर्वत्र रूप और स्पर्श समान भाव से एकत्र रहा करते हैं—उनमें तम की इस विलक्षणता को विचार में लेना चाहिये। गुण और कर्म तो द्रव्य के सहारे ही होते हैं किन्तु इस तम का आधारभूत कोई अन्य द्रव्य भी प्रतीत नहीं होता, यह गुण कर्म की विलक्षणता है। विशेषिक दर्शन में यह ही कहा है (वै० सू० ५।२।१९-२०) "द्रव्य गुण कर्म

निष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः। तेज सो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च"। यद्यपि अन्यत्र जगद्गुरुवैभव आदि ग्रन्थों में श्री विद्यावाचस्पति जी, जो ग्रन्थकार हैं, उनने 'कृष्णायाः पृथिव्या रश्मय एव तमो रूपेण दृश्यन्ते' अर्थात् कृष्णावर्ण की पृथिवी की रश्मियाँ ही तम रूप में दिखाई देती हैं, यह निरूपण किया है। परन्तु यहां वैशेषिक दर्शन की प्रक्रियानुसार तम की अभावरूपता का ही प्रतिपादन किया है। इस से किसी प्रकार की विषमता नहीं आती क्योंकि पृथिवी सम्बन्धी काली किरणों की व्याप्ति तभी तो होगी जब तेज का अभाव हो जायगा, तेज से दबी हुई काली किरणों का प्रत्यक्ष तो हो नहीं सकता, यह कहा जा चुका है। इसलिए कोई विशेष वैषम्य नहीं है यह विज्ञजनों को विचार लेना चाहिये।

[1]पृथ्वीवदाभाति हि कर्म वायोरमुष्य तिर्यक् पवनं त्वदृष्टात्।
अदृष्टजं कर्म भवेदणूनामाद्यं हि संस्कारजमुत्तरं स्यात्॥२०६॥
[2]व्योमाऽथ कालोऽथ दिशोऽथवा गुणाः कर्माणि चैतानि तु निष्क्रियाणि हि।
तुल्यं मनःकर्म तु हस्तकर्मणा तस्यापि कर्माद्यमदृष्टकारितम्॥२०७॥

पार्थिव कर्मों में जो हेतु बताये गए हैं वे ही सब वायु के कर्म में भी हेतु होते हैं, किन्तु पवन की जो तिरछी गति ही होती है उसमें तो हेतु अदृष्ट ही है। इस ही प्रकार सर्वप्रथम परमाणुओं में जो प्रथम कर्म संचार हुआ या होता है वह भी अदृष्ट प्रेरित ही होता है, आगे के कर्म तो फिर वेग नामक संस्कार से जनित होते हैं॥२०६॥

१. पहले वैशेषिक सूत्र में कथित प्रक्रियानुसार भूमि के समान ही नोदना आदि से उत्पन्न होने वाला वायु का कर्म यहां कहा गया है। एक वायु की नोदना से सम्बन्धित दूसरे वायु में क्रिया उत्पन्न हो जाती है, फिर दूसरे की नोदना से उससे आगे की यह परम्परा जाननी चाहिये। वैशेषिक दर्शन में परमाणुओं से ही जगत् की उत्पत्ति मानते हैं। प्रलय काल में परमाणु पृथक्-पृथक् रहते हैं, सर्गकाल में उनमें क्रिया संचार होता है, उस क्रिया संचरण से परस्पर संयुक्त होकर द्वयणुक आदि रूप से क्रमशः वे परमाणु सगठित अवस्था में जगत् रूप में भासित होते हैं, यह उनकी सर्ग प्रक्रिया है। वहां सर्गारम्भ काल में उन प्रथम बिखरी हुई अवस्था के परमाणुओं में सबसे पहली क्रिया कहां से होती है? इसका उत्तर देते हैं कि सर्गकाल में पापपुण्य के फल के भोक्ता जीवों का धर्म-अधर्म रूप अदृष्ट जाग जाता है अर्थात् भलेबुरे पूर्व सृष्टि के किये हुए कर्मों का फल देने को तत्पर हो जाता है। पापपुण्य रूप कर्मों का फल भोग जगत् की उत्पत्ति के बिना सम्भव नहीं होता—अतः सारे जीवों का वह सामूहिक अदृष्ट ही जगत् की उत्पत्ति के लिये अणुओं में क्रिया उत्पन्न करता है"। उनके कथन का स्पष्ट भाव यह हुआ कि परमाणुओं की पहली क्रिया में अदृष्टनाम से कहे जाने वाला जागा हुआ आत्मा का संयोग असमवायीकारण होता है—यह वैशेषिक प्रक्रिया है—वह यहां कही गई है। यद्यपि ग्रन्थकार को यह परमाणु-वाद अभिमत नहीं है, क्योंकि वेदविज्ञान के अनुसारतो रस और बल ही जगत के मूल कारण माने जाते हैं। तथापि इस विवेचना का तात्पर्य यह है कि आगे क्षर आत्मा से जगत् की उत्पत्ति प्रक्रिया में पदार्थों की स्थूल अवस्था आने से पहले सूक्ष्म अणुओं की उत्पत्ति यहां भी मानी जाती है, यह ही मन में सोचते हुए अणुओं में होने वाले कर्म की चर्चा यहां की गई है। धर्म और

अधर्म स्वरूप अदृष्ट को तो सारे आस्तिकजन जगत् की उत्पत्ति में कारण मानते ही हैं—अतः कोई खास विरोध नहीं आता। इस ग्रन्थ की प्रक्रिया में प्रलयकाल में प्रसुप्तबल के जागरण में अदृष्ट को हेतु मानना चाहिये यह भी संकेत यहां कर दिया गया है। आगे की कर्म प्रक्रिया तो वेग आदि संस्कारों से अणुओं में प्रवृत्त होती ही है।

आकाश, काल, दिशा तथा पदार्थों से असम्बद्ध गुण-कर्म ये सब क्रिया शून्य होते हैं। मन की क्रिया हाथ की क्रिया के समान ही होती है अर्थात् जैसे हाथ की क्रिया आत्मा के प्रयत्न से होती है वैसे ही मन की भी होती है। मन की सर्वप्रथम क्रिया में कारण अदृष्ट ही होता है ।।२०७।।

२. वैशेषिकदर्शन में माने जाने वाले नो द्रव्यों में मूर्त अवस्था में आगे हुए पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा मन में ही कर्म की प्रवृत्ति होती है। आकाश, काल, दिशा, आत्मा जो विभु (व्यापक) हैं उनमें क्रिया नहीं होती। द्रव्य के अतिरिक्त स्वतन्त्र गुण-कर्मों में भी क्रिया नहीं होती यह सूत्रों में संकेत है तदनुसार ही यहां भी कहा गया है। श्लोक के उत्तरार्ध में मन की क्रिया का विवरण है—मन की क्रिया हस्त सम्बन्धी क्रिया के समान होती है। जैसे आत्मा के प्रयत्न से हाथ में कर्म प्रवृत्ति कही गई है वैसे ही आत्मा के प्रयत्न से मन में भी क्रिया संचार होता है। यहां प्रश्न होता है कि वह प्रयत्न भी तो मन के संयोग से ही होता है। और आत्मा का संयोग मन की क्रिया से ही मानना होगा, क्योंकि व्यापक आत्मा में तो कोई क्रिया होती नहीं। ऐसी स्थिति में जब मन में स्वतन्त्रतया क्रिया संचार नहीं होगा तो आत्मा और मन का संयोग ही नहीं होगा, तो फिर प्रयत्न की उत्पत्ति भी कैसे हो सकेगी? इसका समाधान किया कि उस मन की पहली क्रिया में कारण अदृष्ट है। उदाहरणतः तत्काल उत्पन्न हुए बालक के मन में, निद्रा से जागकर उठे हुए पुरुष के मन में, अथवा मूर्च्छा हट जाने पर होश में आये हुए पुरुष के मन में जो पहली क्रिया होती है—वह अदृष्ट जनित ही होती है। स्पष्ट यह हुआ कि आत्मा के संयोग से प्रयत्न आदि की उत्पत्ति में इच्छा शक्ति की प्रेरणा से आत्मा मन को प्रेरित करता है। श्रीमान् कणाद ने (सू० २।२।१३ तथा १४) में कहा है—"हस्त कर्मणा मनः कर्म व्याख्यातम्" "अणूनांमन-सश्चाद्यंकर्मादृष्टकारितम्" इति।

[1]आत्मेन्द्रियाणां मनसोऽर्थयोगात् सुखं च दुःखं च कृतिश्च बुद्धिः।
तेषामनारम्भ इहात्मसंस्थे मनस्यलं दैहिकदुःखनाशः ।।२०८।।

[2]सहात्मनो यन्मनसोऽपसर्पणं देहाच्च देहे च तथोपसर्पणम्।
तत् स्याद्दृष्टादशितप्रपीतयोः कार्यान्तराणामपि तत्र संगमः ।।२०९।।

[3]अदृष्टनाशादुपसर्पणादिसंयोगनाशोऽनुदयश्च मोक्षः।
इत्थं परीक्ष्याणि समस्तकर्मस्थानानि सर्वत्र भवेत् प्रणोदः ।।२१०।।

बलं न सुप्तं प्रतिबुध्यते क्वचिद् बलान्तरक्षोदविशेषकं विना।
कुर्वद्बलं विक्रियते च न क्वचिद् बलान्तरक्षोदविशेषकं विना ।।२११।।

स्थानच्युतिः कम्पनमेव सा गतिः संपद्यते नोदनया ऽथवा क्वचित् ।
यत्कम्पते तेन गतिर्भवेत् तया स्यान्नोदनाऽन्यत्र यदाहितं बलम् ।।२१२।।

गतिस्तु देशान्तरयोगलक्षणा द्विधांशतो वा समुदायगाऽपि वा ।
रथस्य चक्रं शिरसा धृतं यदि प्रणीयते सा समुदायगा गतिः ।।२१३।।

संसार स्थिति में आत्मचैतन्य, मन तथा इन्द्रियों का जब भोग्य पदार्थों से संयोग होता है, तब ही सुख, दुःख, प्रयत्न, ज्ञान आदि का अनुभव होता है, किन्तु सुषुप्ति अवस्था में अथवा समाधि अवस्था में जब मन एकमात्र आत्मा में स्थिति पाजाता है तब देह से सम्बन्धित इन्द्रिय जन्य सुख, दुःख आदि का अनुभव नहीं होता—वहां दुःख का नाश होजाता है, केवल एक अद्भुत सुख का ही संचार रहता है। पदार्थ संयोग से होने वाले सुख, दुःखों की वहां उत्पत्ति ही नहीं होती ।।२०८।।

१. आत्मा के गुण जो वैशेषिक दर्शन में कहे गये हैं, ग्रन्थकार के अपने मत में भी व्यावहारिकभूतात्मा के वे धर्म है, उनकी उत्पत्ति का प्रकार इस ही प्रकरण में वैशेषिक सूत्र में कहा है—यह ही बता रहे हैं कि आत्मा का, मन का, इन्द्रियों का और बाहर के पदार्थों का संयोग होने पर मन में सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा द्वेष आदि होते हैं। किन्तु जब मन सुषप्ति, अथवा योग समाधि अवस्था में आत्मा में ही स्थिर हो जाता है, अर्थात् निष्क्रिय हो जाता है, तब सुख दुःख आदि पैदा नहीं होते। निरन्तर अभ्यास से इस समाधि अवस्था की स्थिरता पा जाने पर देहजन्य दुःख का सर्वथा नाश ही हो जाता है।

मरणकाल में आत्मचैतन्य सहित मन देह को छोडकर निकल जाता है तथा अन्य शरीर में प्रविष्ट हो जाता है, वह सब अदृष्ट के कारण होता है और वहां अन्न जल की प्राप्ति तथा अन्य करणीय भी अदृष्टवश ही होते हैं ।।२०९।।

२. मरण में और जन्मान्तर प्राप्त करने में भी मन ही एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर में जाता है। मन के गमन से ही मन के द्वारा आवृत व्यापक आत्मा में भी गमन का औपचारिक व्यवहार कर लिया जाता है। जैसे घट को स्थानान्तरित करने पर घट के भीतर के आकाश में भी गति मान ली जाती है—जबकि आकाश स्वयं गति रहित है। यह जो मन का एक शरीर से अपसरण और अन्य शरीर में प्रवेश होता है, वह अदृष्ट हेतुक ही होता है। इस ही प्रकार तत्तत् स्थानों में स्व रक्षार्थ अन्न-पान आदि का लाभ भी अदृष्ट द्वारा ही होता है।

अदृष्ट जिसे प्रारब्ध अथवा भाग्य कहते हैं, इसकी समाप्ति भोगपूर्ण हो जाने पर ही होती है। भोगानन्तर अदृष्ट के नष्ट हो जाने पर भिन्न शरीरों में प्रवेश रूप मन के संयोग का भी नाश हो जाता है। अन्य अदृष्ट का उदय होता नहीं है, यह ही मोक्ष की परिभाषा है। सांसारिक अवस्था में रहते हुए समस्त कर्मविषयों को इस प्रकार परीक्षा करनी चाहिये, परीक्षा में नोदना को ही सर्वत्र कर्म का कारण पावेंगे ।।२१०।।

१. अदृष्ट का सर्वथा नाश और फिर अन्य अदृष्ट का उदित न होना सम्पूर्ण पाप-पुण्यों के फल भोग के पूरे हो जाने पर होता है, अथवा आत्मा के तत्व ज्ञान से अदृष्ट नष्ट होता है, तब मन

का यह निर्गम और प्रवेश रुक जाता है—फलतः मोक्ष हो जाता है। यह भी उस प्रकरण के वैशेषिक सूत्रों का अनुवाद है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन के पांचवें अध्याय का पूरा अनुवाद यहां कर दिया गया है। आगे के श्लोकों में अवयवों में होने वाली और समूह में होने वाली द्विविध गति का विवरण है।

प्रसुप्तावस्था में अवस्थित बल किसी अन्य बल की विशेष उत्तेजना के बिना कहीं भी प्रबुद्ध नहीं होता और जो बल कार्यरत है अर्थात् क्रिया रूप में परिणत होकर क्रियान्वित होरहा है—उसकी सहन क्रिया में विकार भी बलान्तर की विशेष उत्तेजना के बिना नहीं होता, अर्थात् प्रसुप्त अवस्था में या जागते हुए कार्यरत अवस्था में दोनों में अन्य बल जनित उत्तेजना आवश्यक है ॥२११॥

स्थान से च्युत हो जाना वा कम्पित हो जाना एक ही बात है, इसका नाम ही गति है, यह गति नोदना से उत्पन्न होती है, अथवा कम्पन से कहीं गति उत्पन्न होकर अन्यत्र स्थिति पाये हुए बल में नोदना होती है ॥२१२॥

पदार्थ का एक स्थान को छोड़कर अन्य स्थान से संयोग होना ही गति का लक्षण है, ये गति कहीं अवयवों में होती है और कहीं समुदाय में, इस प्रकार गति के दो प्रकार हो जाते हैं। उदाहरणतः—रथचक्र (पहिया) को यदि मनुष्य अपने शिर पर रखकर कहीं ले जाता है तो उस रथचक्र की जो स्थानान्तरण रूप गति होती है वह समुदायगत गति है ॥२१३॥

रथस्य चक्रं धुरि चेत् स्थिरायामावर्त्यते सा गतिरांशिकी स्यात् ।
रथस्य चक्रं रथसन्नियुक्तं संचाल्यतेऽश्वेन तदोभयी सा ॥२१४॥

[1]प्रसारणाऽऽकुञ्चनयोर्द्वयं तथापक्षेपणोत्क्षेपणयोर्द्वयं पुनः ।
इत्थं चतुर्धा गतिरांशिकी मता नाना विधाऽन्या समुदायगागतिः ॥२१५॥

[2]प्रसारणाकुञ्चनके तु वाससोऽवक्षेपणं चक्रगतं परं तरौ ।
यत्कम्पनं यश्च नतोन्नतक्रम उत्क्षेपणं त्वेव तथोर्मयोऽपि च ॥२१६॥

[3]अथान्यथा स्यादिह सामुदायिकी सा स्यन्दनस्पन्दनरेचनभ्रमैः ।
ऋज्वी च वक्रान्यविधा च लक्ष्यते योगाद्बलानामिह जायते गतिः ॥२१७॥

लोहे की धुरी में रथचक्र को डालकर यदि हाथ से घुमाया जाय तो वह चक्रगति रथ के अंशभूत चक्र में होने से अवयव की गति मानी जायगी और रथ में संयुक्त रथचक्र को जब अश्व खींच रहा हो तो वो गति समुदाय और अवयव दोनों में होती है ॥२१३॥

प्रसारण—फैलाना, आकुञ्चन—गति को संकुचित करना, अपक्षेपण—गति की वंचना, उत्क्षेपण—पैर को ऊपर उठाकर अश्व का गति आरम्भ, इस प्रकार अंशगतागति चार प्रकार की होती है और समुदाय में होने वाली गति तो नाना प्रकार की होती है ॥२१५॥

१. वैशेषिक मतानुयायी उत्क्षेपरण, अपक्षेपरण, आकुञ्चन, प्रसाररण और गमन इस प्रकार गतिकर्म के पांच भेद मानते हैं, उनमें आदि के चार भेद अवयव में गति के रूप हैं, पांचवा सामान्य गतिरूप भेद समुदाय गति का होता है, यह तात्पर्य है।

गीले वस्त्र को सुखाने के लिये फैलाना, सूखे को समेटना, रथचक्र को अंगुली के सहारे घुमाना, वायु की गति से वृक्ष के पत्तों में कम्पन होना अथवा पत्तों का नीचे ऊपर जाना, जल की तरंगों में जल के अवयवों का ऊपर नीचे होना ये सब अवयव सम्बन्धिनी गति होती है ।।२१६।।

२. वैशेषिक सूत्रों में उत्क्षेपण (ऊपर उछालना), अपक्षेपरण (नीचे गिराना), आकुञ्चन (संकोचन), प्रसाररण और गमन ये पांच गति कर्म कहे गये हैं। वहां व्याख्याकारों ने और निबन्धकारों ने शंका उठाई है कि भ्रमरण, रेचन, स्यन्दन (झरना), ऊर्ध्वज्वलन तथा तिर्यक (तिरछा) गमन ये पांच गतिभेद क्यों नहीं गिनाये गये ? इसका समाधान उनने इनका गमन में ही अन्तर्भाव करके किया है, वहां ही यह भी कहा गया कि उत्क्षेपरण आदि का भी अन्तर्भाव गमन में ही क्यों नहीं किया गया ? इसका समाधान कुछ विद्वानों ने क्लिष्ट कल्पना से किया है और कुछ विद्वानों ने मुनि की स्वतन्त्र इच्छा को काररण माना है। इस विषय में ग्रन्थकर्त्ता ने करणाद का अभिप्राय विलक्षरण रीति से प्रकट किया है। उनका कथन है कि गति दो प्रकार की होती है, एक समुदाय में गति और दूसरी अवयवों में गति । जहां समुदाय का अथवा समुदाय के केन्द्र बिन्दु का स्थानत्याग नहीं होता, वहां केवल अवयवों की गति ही मानी जाती है, और जहां केन्द्र बिन्दु तथा समुदाय का भी स्थान त्याग होता है वहां समुदाय की गति समझनी चाहिये। उनमें केवल अवयवों की गति के उत्क्षेपरण आदि चार भेद कहे गये हैं। समुदाय की गति सामान्य गमन शब्द से ही कही जाती है, यह पूर्व पद्य में कहा है। अवयव गति के चार भेदों की संगति अब बता रहे हैं। वस्त्र आदि के फैलाने और सिकोड़ने में केवल अवयवों में गति होती है यह स्पष्ट देखा जाता है वहां समुदाय का अथवा समुदाय के केन्द्र बिन्दु का देश त्याग नहीं होता। रथचक्र को अथवा अन्य किसी सामान्य चक्र को अपने हाथ में लेकर एक स्थान पर खड़ा हुआ मनुष्य अंगुली द्वारा उसे ऊपर नीचे घुमाता है वहां उत्क्षेपरण और अपक्षेपण होता है। वहां भी समुदाय में अथवा केन्द्र में गति न होने से मनुष्य का देशत्याग रूपगमन नहीं होता केवल अवयव रूप चक्र में ही गति होती है। वृक्ष के शाखा-पत्र आदि में वायु के संयोग से जो नीचे झुकना, ऊपर उठना रूप संचलन होता है वह भी अवयव गति रूप ही कहा जा सकता है। जल की तरंगों में जल के अवयवों की जो ऊपर नीचे गति होती है— वहां भी सारे समुदाय में गति न होने से अवयव गति ही कही जायगी।)

समुदाय में होने वाली गति के प्रकार विभिन्न होते हैं, उसमें झरना, कम्पन होना, बाहर निकालना, चारों ओर घूमना, सीधी गति, वक्र गति आदि अनेक प्रक्रिया होती हैं। अनेक प्रकार के बलों के संयोग से समुदाय गति होती है ।।२१७।।

३. समुदाय सम्बन्धी गति को सामान्यतया गमन शब्द से ही कहा जाता है, उसमें केवल भ्रमरण आदि भेद ही नहीं होते और भी अनेक भेद होते हैं, जैसे जल आदि का 'स्यन्दन'—झरना,

स्पन्दन भूकम्प आदि में शय्या आसन आदि का कम्पन, 'रेचन' मल आदि का अधः-पतन, 'भ्रमण'—नृत्य आदि क्रिया में एक ही जगह खड़े हुए चहुं ओर घूमजाना—उस क्रिया में भी केन्द्र में गति होने से गमन में ही गणना माननी चाहिये। 'ऋजु' सरल गति हंस आदि की, बक्रगति सर्प आदि की और भी पशु पक्षी आदि की तिरछी गति इस प्रकार समुदाय गति के अनेक भेद होते हैं। उन सबकी गणना नहीं की जा सकती। अतः सूत्रकार ने सामान्य रूप से गमन शब्द से ही समुदाय गति बताई है। ये सारे भेद अनेक बलों के परस्पर संयोग से होते हैं।

[1]आकर्षणं सिध्यति चाशनायया विक्षेपतः स्यात्तु विकर्षणं पृथक्।
तयोस्तु योगादिह जायते गतिः स्तम्भस्तथा चक्रगतिश्च बक्रता ॥२१८॥

[2]बलं हि मात्राकृतरूपमिष्यते तदुद्भवेत् खण्डसमुच्चयात्मना।
कम्पे प्रसारेऽथ गतौ तथा पृथग् भूत्वा तदेकैकमिवाथ लुप्यते ॥२१९॥

[3]कम्पो गतिस्तेन कृतस्वरूपं बलं रसे भूम्नि कृतावतारम्।
विकासयोगात् पृथगेकमेकमात्राणु भूत्वैव लयं प्रयाति ॥२२०॥

[4]कम्पस्य धारा यदि नाभिमेकं संश्रित्य तस्माच्च बहिर्मुखी स्यात्।
सा मण्डलीभूय बहिश्चरन्ती काष्ठासु गत्वा बिलयं प्रयाति ॥२२१॥

कम्पस्य धारा यदि नाभिमेकं संश्रित्य चान्तर्मुखतामुपेयात्।
सा मण्डलीभूय तदन्तरन्तर्गत्वैव नाभौ विलयं प्रयाति ॥२२२॥

[5]कम्पस्य धारा बलवत्प्रबुद्धा परस्परेण प्रतिहन्यते चेत्।
नोच्छिद्यते चेदितरेतरेण भुक्तं भवेदावरणं तदिष्टम् ॥२२३॥

पदार्थ को अपने में लेना—आकर्षण और पृथक् कर देना विकषर्ण ये दोनों अशनाया बल के आधार पर होते हैं, ग्रहण में आकर्षण विक्षप से विकर्षण। इन दोनों के संयोग से कहीं गतिस्तम्भ (रुकावट), कहीं चक्राकार गति, कहीं बक्र गति होती रहती है ॥२१८॥

१. जिसकी व्याख्या पूर्व की जा चुकी है उस अशनाया बल से आकर्षण होता है, अर्थात् पूर्ण अशनाय बल जिसका जागृत हो उसकी ओर पदार्थान्तिर का आगमन होता है। अशेनाया की ही विपरीत विक्षेप बल शक्ति से विकर्षण होता है, अर्थात् उस बिपरीत भाव में बस्तु पराङ्मुख हो जाती है। इन आकर्षण और विकर्षण के विपरीत अथवा अनुकूल संयोग होने पर गतिस्तम्भ, चक्रगति, वक्रगति आदि विशेषतायें उत्पन्न होती हैं। विद्वद्गण सावधानी से इसका परीक्षण करें। ग्रन्थ विस्तृत न हो जाय इस भय से सबके उदाहरण यहां नहीं दिये गये हैं।

बल स्वभावतः अल्पमात्रा में अणुरूप माना जाता है। प्रवाह रूप में अनेक बलों का समुदाय होने पर उसकी प्रतीति कहीं खण्ड रूप में तथा कहीं समुदाय रूप में होती है। वह बलों का समुदाय कहीं कम्पन भाव से, कहीं प्रसारण भाव से तथा कहीं गति भाव से पृथक्-पृथक् कर, एक-एक खण्ड में आता हुआ नष्ट हो जाता है ॥२१९॥

२. बल के विविध स्वभावों का स्पष्टीकरण करते हैं—बल अति सीमित थोड़े से स्थान में रहने वाला होता है। रस के आधार से धारावाहिता पाकर बलों का समुदाय भी हो जाता है यह अनेक बार बताया गया है। बल का प्रत्यक्ष रूप में आविर्भाव कहीं खण्ड रूप में और कहीं समुदाय रूप में होता है। कम्प, प्रसार अथवा गतिभाव को उत्पन्न करके वह बल समुदाय विभक्त हो जाता है और अलग अलग होकर एक एक खण्ड भाव में आकर विलुप्त हो जाता है।

कम्पन अथवा गति समान रूप ही हैं। उस गति से ही बल का स्वरूप कार्यरत रूप में अनुमित होता है। वह मायाबल भूमा (व्यापक) रस में प्रवेश पाकर विकसित होता हुआ परस्पर संयुक्त होकर समुदाय भाव में आजाता है, फिर कम्प आदि एक-एक मात्रा में अणुभाव में आकर ही विलुप्त होता है ॥२२०॥

३. कम्पन ही गतिनाम से कहा जाता है। उस गति द्वारा ही बल का स्वरूप ज्ञान क्रिया की चालू अवस्था में अनुमान द्वारा होता है कि गति बल के सहारे ही हो रही है। वह बल भूमा में अर्थात् सीमाशून्य व्यापक रस में अवतरित होकर अर्थात् स्वरूपतः प्रविष्ट होकर परस्पर संयोग से विकसित होता है। फिर एक एक रूप में पृथक् होकर घटा बन्ध से टूटे हुए बादल की तरह विलीन हो जाता है।

कम्पन की धारा यदि एक केन्द्र से उठकर उससे बाहर जाने को उद्यत होती है तो वह मण्डलाकार होती हुई बाहर फैलती है और अन्तिम सीमा में पहुंचकर विलीन होती है ॥२२१॥

४. बल से समुत्पन्न कम्पन की धारा नाभि अर्थात् एक केन्द्र का सहारा पाकर वहां ही पहले प्रकट होकर उस केन्द्र स्थान से यदि बहिर्मुख होती है, तब मण्डलाकार होकर चक्ररूप से प्रसरित होती हुई विभिन्न दिशाओं में जाकर लीन होती है। जैसे सरोवर आदि के जल में किसी के द्वारा फैंके हुए पाषाण आदि से केन्द्र स्थान से कम्पन का उत्थान होता है और उस कम्पन का बहिर्मुख प्रसार बहुत दूर के जल प्रदेश तक मण्डलाकार ही देखा जाता है, और जितना बल उसमें होता है उतनी दूर जाकर आगे विलीन हो जाता है। यदि कम्पन धारा बहिर्मुखी न होकर अन्तर्मुखी होती है तो वह प्रकट में नहीं दीखती हुई भीतर ही भीतर चलकर निःसहाय होकर केन्द्र में ही लीन हो जाती है, यह आगे के पद्य में कहा गया है।

यदि एक केन्द्रस्थान से उठी हुई कम्पन धारा अन्तर्मुखी हो जाती है तो वह भी मण्डलाकार ही है, किन्तु वह भीतर ही भीतर जाकर केन्द्र में ही विलीन हो जाती है ॥२२२॥

पर्याप्त बल के जागरण से जो कम्पन धारा प्रवृत्त होती है—वह यदि वैसी ही विरोधी कम्पन धारा से टकरा जाती है और परस्पर भुक्त होकर यदि वह समाप्त नहीं होती तो वह आवरण रूप में बदल जाती है। संसरण में वह आवरण उपयोगी माना जाता है ॥२२३॥

५. बल के जागरण के अनुसार यदि उससे समुत्पन्न कम्प की भी परस्पर विरुद्ध धारा परस्पर टकरा जाय, और संघर्ष से परस्पर भुक्त होकर यदि उच्छिन्न न होवे तो वह आवरण रूप में परिणत हो जाती है। आवरण की व्याख्या आगे की जायगी।

[1]एष स्वभावो विदितः परन्तु प्रवेशतोऽन्यस्य बलस्य मध्ये ।
स्थिताशनायां लभतेऽशनं चेत् प्रतिक्षणोच्छिन्नमपि स्थितं स्यात् ।।२२४।।

[2]कम्पात्मनोत्पन्नमपि क्षणेनोत्सन्नं निरन्नं बलमत्र वीक्षे ।
क्वचित् पुनः सान्नमिदं चिरायानुवर्तमानं विकृतं तदीक्षे ।।२२५।।

तत्रोपपत्यर्थममुष्य भेदस्यास्मिन् बले द्वैतमिदं प्रकल्प्यम् ।
येयं गतिस्तद्बलमन्यथा स्याद् या चाशनाया बलमन्यथा तत् ।।२२६।।

यत्पाप्मनोविक्रमणं गतिः सात्मन्वीह पाप्मा चरति स्वतोऽर्चन् ।
तत्रार्चता विक्रमणे घनत्वं वेगोऽतिशेते म्रियते च काले ।।२२७।।

[3]यथायथा तत्र बलप्रयोक्तुः स्याद्विप्रकर्षोऽथ तथा तथा स्यात् ।
वेगाल्पता तत्र घनत्वहान्या वेगोऽधिकत्वेन तु सन्निकर्षात् ।।२२८।।

[4]अत्युच्चतः पातित वस्तुनि स्यात्क्रमेण वेगाधिकता ह्यनुन्ने ।
उत्क्षिप्यते लोष्टमिदं यदा खे तदास्य वेगो ह्रसति क्रमेण ।।२२९।।

बल की प्रवाहरूपिणी स्थिरता सी स्थिति कैसे होती है—यह प्रकार बताते हैं—यद्यपि चार क्षण तक ही टिककर नष्ट हो जाने का बल का स्वभाव है यह सर्वविदित है, परन्तु अन्तिम क्षण में नष्ट होने से पूर्व वह बल बलान्तर से संयुक्त होकर तद्रूप हो जाता है अर्थात् दूसरे बल की अशनाया में मध्यगत होकर यदि वहाँ उसे अपने लिये अशनरूप (अन्न) बल मिल जाता है तो प्रतिक्षण नष्ट हो जाने वाले भाव के होते हुए भी वह बल क्रमशः स्थिरता रूपसत्ता पाजाता है ।।२२४।।

१. पूर्वोक्त प्रक्रियानुसार धारारूप में जाकर—धारा भाव से जो बल विच्छिन्न हो जाता है—वह स्वयं नष्ट हो जाता है यह बल की स्वाभाविकता ज्ञात हुई, परन्तु वह बल यदि दूसरे बल के मध्य में हो जाय और वहां उस बलान्तर सम्बन्धिनी अशनाया का अशन-अन्न जो कि अपरबल रूप ही है, उसे यदि यह प्राप्त कर लेता है तो उच्छिन्न होते हुए भी बल की स्थिरता हो जाती है ।

कम्पन रूप में उत्पन्न हुए बल को यदि अन्न नहीं मिलता है तो वह बल क्षणमात्र स्थायी रहकर नष्ट हो जाता है । कहीं जब उसे अन्य बल अन्न रूप में प्राप्त हो जाता है तो वह चिरकाल तक प्रवाह रूप में स्थिर होकर अन्य विकारों को भी उत्पन्न करता है ।।२२५।।

इस भेद को प्रमाणित करने के लिए बल के दो भेद मानने चाहिये । एक गति रूप बल और एक अशनाया रूप बल । गति रूप बल अन्य प्रकार का होता है और अशनाया बल का प्रकार दूसरा होता है ।।२२६।।

बल का पर्याय पाप्मा है यह पहले व्याख्यात है, इस पाप्मा रूप बल की जो बलान्तर में स्थिति है—अथवा बलान्तर में लीनता है वह यहां विक्रमण पद से कही गई है, उसे ही गति कहते हैं और जो पाप्मा रूप बल रसमय आत्मा का अनुगमन करता हुआ

स्थिरता पाकर स्वतः अर्चन करता है—गतिमान् होता है। इस अर्चन द्वारा विक्रमण में बल का घनभाव हो जाता है, वेग भी बढ जाता है और इस अवस्था में बल का नाश दीर्घ-काल में होता है ॥२२७॥

२. तीन पद्यों की व्याख्या —बल की स्वाभाविक स्थिति दो प्रकार की देखी जाती है, कहीं कम्पनमय क्रिया रूप में प्रकट होकर भी अन्न न मिलने पर वह बल क्षण मात्र में नष्ट हो जाता है, और कहीं नये नये अन्न का भोग करते हुए बहुत समय तक प्रवाह रूप में रहता है और नाना विकारों को उत्पन्न भी करता है। इस भेद की उपपत्ति के लिए बल की दो जातियां मानना समुचित है। एक बल गति रूप होता है और दूसरा अशनाया रूप होता है। पाप्मा नाम से कहे जाने वाले बल का विक्रमण होना अर्थात् दूसरे बल का सहारा पा जाना या उसमें विलीन हो जाना गति नाम से कहा जाता है। दूसरी अवस्था में जो बल 'आत्मन्वि' अर्थात रस रूप आत्मा के सहारे स्थिति पा जाता है और ऊर्ध्व तथा अधोभागक्रम से 'अर्चन' (प्रसारण) करता है। इस अर्चनरूप विक्रमण में बल सघन हो जाता है और स्थिर भी हो जाता है, उस बल का वेग भी बहुत बढ़ जाता है, वह बल चिरकाल तक ठहर कर तब नष्ट होता है। बृहदारण्यक उपनिषत् में यह ही कहा है— 'एतदेव अर्चन् श्राम्यन् चरति' इति। इसकी व्याख्या पहले की जाचुकी है।

बल के प्रयोग करने वाले से वह वस्तु जिस पर बल का प्रयोग किया जाता है, जब दूर हो जाती है तब उस बल की घनता कम होने लगती है और वेग भी कम हो जाता है। बल प्रयोक्ता के सामीप्य में वेग बहुत अधिक होता है ॥२२८॥

३. बल प्रयोक्ता से बल पाई हुई वस्तु जैसे-जैसे दूर होती जाती है वैसे-वैसे बल की घनता की हानि होती है अर्थात् शिथिलता आ जाती है, और वेग भी अल्प रह जाता है। प्रयोक्ता के समीप होने पर वेग की अधिकता रहती है। उदाहरण आगे आ रहे हैं।

बहुत ऊपर से यदि कोई पदार्थ नीचे गिराया जाता है तो वहां प्रक्रिया विपरीत होती है, जैसे-जैसे वह पदार्थ नीचे जाता है उसकी गति का वेग अधिकाधिक बढता चला जाता है, यद्यपि वहां फेंकने की प्रेरणा पहली ही रहती है बीच में कोई अन्य प्रेरणा नहीं होती, किन्तु नीचे खड़ा मनुष्य जब पाषाण आदि को ऊपर आकाश में फेंकता है तब पूर्वोक्त प्रक्रियानुसार पदार्थ के दूर होने पर वेग का ह्रास हो जाता है ॥२२९॥

४. किसी विशेष अवस्था में पूर्व प्रक्रिया से विपरीत देखा जाता है। जैसे ऊंचे पर्वत से नीचे गिराए गए पत्थर आदि में जितना वह दूर हो जाता है उतना ही गिरने का वेग अधिक हो जाता है, वहां मध्य में प्रेरणान्तर का अभाव ही रहता है। नीचे से ऊपर फेंके हुए पाषाण आदि में पहले वेग में प्रबलता रहती है, दूर जाने पर उस वेग का क्रमशः ह्रास होता है, यह भेद रहता है।

'गतौ बले वेगबलं हितं स्याद्बलप्रयोक्तात्वधार्यतेऽयम्।
वेगे प्रकर्षाभिमुखेऽथ वेगापकर्षस्तु वैमुख्यदिशि प्रतीतः ॥२३०॥
उत्पद्यते यत्र बलं पुनः पुनः पूर्वानुवृत्तं न निवर्तते बलम्।
तत्रास्य वेगः परिवर्धते क्रमात् निम्नं यतां कन्दुकपाथसां यथा ॥२३१॥

[२]बलस्य वृत्तिर्द्विधा प्रसिद्धा स्यात्संचरः स्यात्प्रतिसंचरो वा ।
प्रवर्तनं संचरमाहुरार्या निवर्तनं तु प्रतिसंवरः स्यात् ॥२३२॥
[३]द्वयोस्तु योगात्परिवर्तनं स्यात्प्रवृत्तमन्यच्च निवृत्तमन्यत् ।
रूपं निवृत्तं कटकं ततोऽन्यद् रूपं प्रवृत्तं रुचकं सुवर्णं ॥२२३॥
[४]उक्थात्तदुद्गीथमनुप्रवृत्तिस्तूत्थानमेतद्बलसंचरः स्यात् ।
उद्गीथतोऽन्यत्र परायणं तु गतिर्निवृत्तिः पतनं तदन्यत् ॥२३४॥
[५]सत्तारसानुग्रहणं बलस्य यत् तां भावनां भावपदेन चक्षते ।
भावस्त्रिधोत्पत्तिरिह स्थितिः क्षयः सत्ता ग्रहो जन्म ततोऽन्यथा क्षयः ॥२३५॥

ऊपर से नीचे गिरने वाले पदार्थ में अधः पतन रूप वेग गुरुत्वाकर्षणवश स्वाभाविक होता है—उस स्वाभाविक पतन वेग को ध्यान में रखकर बल का प्रयोग करने वाला अपने नवीन बल का उसमें आधान करता है—अतः नीचे गिराने में वेग की अधिकता होती है, किन्तु ऊपर विमुख दिशा में वह वेग स्वाभाविक न होकर हाथ की नोदना से ही होता है—वहां वेग का अपकर्ष (ह्रास) हो जाता है ॥२३०॥

१. इस प्रकार के भेद में कारण बताते हैं—पार्थिव पदार्थों में तथा जल आदि में पृथिवी के आकर्षण से निम्न गति स्वाभाविक होती है । अतः ऊंचे स्थान से गिराए गए पत्थर आदि में निम्न पतन रूप गति प्रयोजक स्वाभाविक बल में पुरुष के प्रयत्न से अन्य बल की स्थापना होती है, उससे दो बलों के समुच्चय से वेग अधिक हो जाता है, बल प्रयोक्ता पुरुष यह समझ कर ही बल का प्रयोग करता है । इससे विपरीत ऊपर की विमुख दिशा में जो क्षेपणगति होती है वहां पृथिवी का आकर्षण न होने से पदार्थ में पतनाभिमुख स्वाभाविक बल नहीं होता, वहां केवल हस्तनोदना जन्य बल ही रहता है, उसका क्रमशः ह्रास हो जाता है ।

अति अल्प अणुस्वरूप क्षणमात्र स्थायी बल की प्रवाहरूपवेग वृद्धि की प्रक्रिया बताते हैं—सर्वप्रथम बल प्रवृत्ति के अनन्तर नवीन बल की उत्पत्ति पुनः पुनः होती चली जाती है, फलस्वरूप उस प्रथम अनुवर्तमान बल की समाप्ति नहीं होती प्रत्युत बल का वेग क्रमशः बढता जाता है, जैसे कन्दुक (गेंद) क्रीडा में ऊपर फेंकी हुई गेंद जब नीचे आने लगती है—तो हाथ की नयी टक्कर रूप नोदना पाकर फिर वह ऊपर चली जाती है और अनेक हाथों की नयी-नयी प्रेरणा से वह ऊपर ही ऊपर लम्बे समय तक उछलती रहती है, उछाल का वेग भी बढता रहता है, लम्बे समय में उस कन्दुक का नीचे पतन होता है ॥२३१॥

विक्षेप के पांच प्रकारों में चतुर्थ वृत्तिभाव का विवरण कर रहे हैं—बल की व्यावहारिक वृत्ति—(सत्ता) दो प्रकार की प्रसिद्ध है, जिसको संचर तथा प्रतिसंचर कहते हैं । बल की कर्मरूप एक प्रवृत्ति को संचर कहते हैं तथा कर्म निवृत्ति को प्रति संचर कहा जाता है ॥२३२॥

२. नोदना, गति, वेग, वृत्ति और भाव ये विक्षेप की पांच विधा पूर्व कही गई हैं, उनमें नोदना, गति, वेग इन तीनों की व्याख्या कर चुके हैं अब चतुर्थ वृत्तिविधा की व्याख्या कर रहे हैं ।

एक की प्रवृत्ति और दूसरे की निवृत्ति इन प्रवृत्तिनिवृत्ति रूप दोनों भावों के योग से पदार्थों में परिवर्तन होता है—उस परिवर्तन में एक नवीन की प्रवृत्ति होती है तो पुरातन की निवृत्ति हो जाती है, जैसे स्वर्ण के हाथ में पहनने वाले कड़े को जब रुचक (हार) रूप में स्वर्णकार परिवर्तित करता है तो स्वर्ण में रुचक रूप की संचरात्मक प्रवृत्ति होती है और कटक की प्रतिसंचरात्मक निवृत्ति हो जाती है, पदार्थ का परिवर्तन हो जाता है ।।२३३।।

३. संचर प्रति संचर के योग से परिवर्तन होता है। जैसा कि कटक और रुचक (हार) के उदाहरण में दिखाया गया कि सोने में रुचक का संचर हुआ और कटक का प्रतिसंचर हो गया, दोनों के योग से सोने का रूप बदल गया। ये सब बल करता है।

जहां से बल की उत्पत्ति होती है वैदिक परिभाषा में उस मूलाधार को उक्थ कहते हैं और जहां समाप्ति होती है उसे उद्गीथ कहा जाता है। उक्थ से उत्थान होकर उद्गीथ पर्यन्त बल की गति जो सर्जनकाल में होती है उसे बलसंचर कहा जाता है। इस क्रम में अनेक बलों की समष्टि से नाना पदार्थों की उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत उद्गीथ सीमा से वापसी में मूलकारण रूप आत्मचैतन्य को ओर बल की अन्तः प्रवृत्ति—जिसमें बल के गतिभाव की निवृत्ति हो जाती है, प्रतिसंचर नाम से व्यवहृत होती है। इसे बल के गतिभाव का पतन कहा जाता है, इसमें सर्जन क्रम की समाप्ति हो जाती है ।।२३४।।

४. उपरोक्त स्वर्ण का उदाहरण तो संसार दशा में घटित होता है, इसे सृष्टि की आरम्भ अवस्था में कैसे संगत किया जा सकता है, यह सामान्य रूप में कह रहे हैं। जहां से सृष्टि के पदार्थों को उत्पन्न किया जाता है, उस मूल तत्व को उक्थ कहा जाता है यह पहले कहा जा चुका है। जहां उत्पत्ति क्रम की समाप्ति हो जाती है, उसे उद्गीथ कहते हैं। (छान्दो. ३.१।१।३) में कहा गया है "सएष रसानां रसतमः परमः पराद्धर्योऽष्टमो यद्उद्गीथः" इति। वहां उक्थ से प्रारम्भ होकर उद्गीथ पर्यन्त प्रवृत्ति तक बल का उत्थान होता है - वह संचर है। उद्गीथ से परावृत्त होकर मूल कारण में प्रवेश निवृत्ति रूप होता है, जिसे पद्य में परायण-परं-अयन शब्द से कहा गया है, इसमें बल की संसरणरूप गति का पतन हो जाता है—वह प्रतिसंचर है। तात्पर्य यह है कि संचर क्रम में नाना बलों का संचय होकर नये नये रूपों का प्रादुर्भाव होता है और प्रति संचर में उत्पादक बलों के मूल तत्व में लीन हो जाने से वे सारे नये रूप भी विलीन हो जाते हैं। अथवा इसकी व्याख्या अन्य प्रकार से भी की जाती है। पहले कहा गया है कि ॐकार द्वारा ग्रन्थि बन्धन से सृष्टिक्रम चालू होता है और उन ग्रन्थियों के खुल जाने पर मुक्ति हो जाती है', वह ही बता रहे हैं कि प्रणव अर्थात् ॐकार के गायन को उद्गीथ कहा जाता है। गायन में स्वर का तनन रूप विस्तार ही होता है। वहां उक्थ प्रणव होता है, उन उक्थ से उद्गीथ पर्यन्त अर्थात् स्वर की तननसीमा पर्यन्त प्रवृत्ति को संचर कहते हैं, और स्वर के परायण अर्थात् उपसंहार के प्रति संचर कहते हैं।

विक्षेप के पंचम भेदभाव का विवरण—सत्तारूप रस जो सर्वथा नित्य है, वह अनित्य बल को अपने में धारण करता है ये रस के द्वारा बल का अनुग्रहण है, इस अनुग्रहण को ही भावना अथवा भाव नाम से कहा है। इस भावात्मक विक्षेप के उत्पत्ति, स्थिति और

क्षय ये तीन भेद हैं, किसी रूपमयी पदार्थ की सत्ता का नाम ही जन्म या उत्पत्ति है – वह ही उत्पत्ति रूप भाव है। इससे विपरीत पदार्थ की नाश अवस्था को क्षयात्मक भाव कहते हैं ॥२३५॥

५. विक्षेप की पांचवीं भाव अवस्था की व्याख्या—रस का निरूपण 'सत्' पद से किया जाता है। क्योंकि रस निज स्वरूप से ही सदा सत् है किसी अन्य धर्म के योग से 'सत्' नहीं है। सत् को ही सत्तानाम से कहा जा सकता है। उस नित्यसत्तारूप रस के द्वारा जो बल का अनुग्रहण है अर्थात् अपने में बल की स्थापना कर लेना है--इसको ही भावना और भावपद से कहा जाता है। न्यायशास्त्र में सत्ता को भाव कहा गया है। वह सत्ता कोई भिन्नतत्व नहीं है अपितु रस के द्वारा अनुग्रहण रूप में बल की स्थिति को स्वीकार कर लेना ही है, यह कथन का तात्पर्य है। वह भाव उत्पत्ति, स्थिति, क्षय रूप से तीन विधियों में बंट रहा है। लोक व्यवहार की दृष्टि से सत्ता में आ जाने को उत्पत्ति कहा जाता है। वैज्ञानिक विचार में सत्ता अर्थात् रस के द्वारा बल का ग्रहण कर लेना जन्म होना कहा जाता है। सत्ता का त्याग ही क्षय नाम से कहा जाता है।

[1]रसेऽनुवृत्तिः स्थितिरुच्यते सा स्यात्संभवः संतननं प्रवाहः।
इति द्विधा संभवनं बलस्य बलान्तरे संस्रवण विकारः ॥२३६॥

[2]बलद्वयं क्वापि बलत्रयं वा ततोऽधिकं वापि समन्वितं सत्।
भावः क्वचिद्भाति समन्वयोऽयं स्यात्संभवोऽसौ बहुधाऽत्र दृष्टः ॥२३७॥

[3]कुलालचक्रभ्रमणाच्च मृत्स्ना स्थितेश्च हस्तस्य च नोदनायाः।
इच्छा हिताया इह मृत्तिकायां घटादिकं रूपमुदेति भावः ॥२३८॥

(३५) आवरणाधिकरणम्

[4]क्षणेन कम्पस्य गतिर्विलीयते न स्थीयते तेन न सर्ग उद्भवेत्।
सर्गस्य तस्मादुपपत्तये रसे बलं वदन्त्यावरणाभिधं पृथक् ॥२३९॥

[5]बलं हि विस्रंसनलक्षणं स्यात् स्थेमा तु विस्रंसनभावनाशः।
विक्षेपवृत्तिः परिवर्तते चेत् स्थेम्ना तदेवावरणं निरुक्तम् ॥२४०॥

[6]परिश्रितानि प्रतिपद्यते चेत् स्थेमा स तत्त्र तथोपनद्धम्।
परिश्रितान्यत्र भवन्ति यस्माद् बलं तदेवावरणं निरुक्तम् ॥२४१॥

भाव का तीसरा भेद स्थिति—रस में बल के सतत अनुगमन को स्थिति कहा जाता है, उसको ही सम्भवन भी कहते हैं। ये बल का सम्भव अथवा सम्भवन दो तरह का होता है, एक संतनन (फैलना) रूप में और एक प्रवाह रूप में। एक बल का अन्य बल में संसरण तो विकार कहा जाता है ॥२३६॥

१. रस में बल की अनुवृत्ति को स्थिति कहते हैं। इसको ही सम्भवन कहा जाता है। सन्तनन और प्रवाहरूप से यह दो प्रकार का होता है। सन्तनन में अधिक से अधिक स्थान में प्रवेश होता है। प्रवाह में एक जगह ही चिरकाल तक स्थिति रहती है। बल का बलान्तर में संसरण विकार कहा जाता है।

यह भाव कहीं दो बलों के समन्वय से कहीं तीन के समन्वय से कहीं अधिक बलों के समन्वय से भी भासित होता है। अधिक समन्वय का सम्भवन जगत् में बहुधा देखा जाता है ॥२३७॥

२. यह संभवन का तीसरा भी प्रकार है।

अनेक बलों के समन्वय का उदाहरण—घट के निर्माण में कुम्भकार द्वारा जिस पर मृत्तिका पिण्ड रखा हुआ है उस चक्र को घुमाना, जल सम्मिश्रित मृत्तिका पिण्ड की स्थिति, हाथ की नोदना, घट के विशेष प्रकार के आकार देने की निर्माता की इच्छा, ये सब घट निर्माण में हेतु बनते हैं, इनसे मृत्तिका में घट आदि रूपों का उदय होता है—वह भाव रूप कहा जाता है ॥२३८॥

३. दृष्टान्त में अनेक बलों का संयोग यहां स्पष्ट दिखाया गया है। इन बलों से घट आदि भाव उदित होते हैं। रस से अनुगृहीत अनेक रूपों का बल ही घटादि रूपों में आजाता है यह तात्पर्य है। भाव से उत्पन्न होने के कारण घट आदि को भी भाव कहा जाता है यह भी समझना चाहिये।

स्थानच्युति स्वरूप कम्पन की गति क्षणमात्र में विलीन हो जाती है, उसका स्थायीभाव न होने से उसके द्वारा विश्व का उद्भव होना सम्भव नहीं हो सकता, अतः सृष्टि के आविर्भाव के लिए रस में आवरण नाम का बल ऋषियों ने पृथक् कहा है ॥२३९॥

४. इस प्रकार अशनाया और विक्षेप नाम के बल के दो भेदों का निरूपण आरम्भ उपसंहार सहित किया गया, अब बल के तीसरे भेद आवरण का निरूपण आरम्भ करते हैं। यह आवरण ही जगत् का उत्पादक है यह कहा है। क्योंकि पहले बताए गए कम्प की गति तो क्षण मात्र स्थायिनी होने से स्थिति विहीन होती है। उससे सर्ग अर्थात् नये नये पदार्थों की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है। अतः सृष्टिघटना के लिए तीसरा आवरण रूप बल अवश्य स्वीकार करना होगा।

उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना यह विस्रंसन रूप, स्वभाव बल का होता है। दूसरी विपरीत स्थेमा स्थिरता में विस्रंसन भाव नष्ट हो जाता है। स्थिरता से ही नाश रुकता है। बल की यह क्षणिक विक्षेपवृत्ति यदि स्थिरता में परिवर्तित हो जाती है तो उसकी आवरण संज्ञा हो जाती है। क्योंकि स्थिरता पाजाने पर बल रस का आवरण कर लेता है ॥२४०॥

५. पूर्व वर्णित बल विस्रंसन लक्षण वाला है—अर्थात् उत्पत्तिक्षण में ही विस्रंसित (नष्ट) हो जाता है। स्थेमा–स्थिरताभाव इससे विरुद्ध है। स्थिरता से विस्रंसन भाव का नाश हो जाता है। ये विस्रंसनभाव वाली बल की विक्षेपवृत्ति अर्थात् बल का स्वभाव यदि स्थिरता रूप से परिवर्तित हो जाय तो वह ही आवरण बन जाता है।

बल की संतनन रूप अथवा प्रवाह रूप स्थिरता तब होती है, जब बल परिश्रित भाव में आ जाता है। "परिश्रित पद पारिभाषिक प्रयुक्त हुआ है आगे क्रिया, संस्कार आदि चार प्रधान भेद परिश्रित के बताये जायंगे"। इनसे संसर्ग पाकर बल का वहां बंधन हो जाता

है, वे परिकर रूप परिश्रित ही प्रत्यक्ष या समान होते हैं, ये बल के ही भाव हैं, बल के इन भावों का ही आवरण रूप से निर्वचन हुआ है ।।२४१।।

६ क्षणिक बल में स्थिरता कैसे सम्भव होती है, यह प्रक्रिया बता रहे हैं । परिश्रित और संसर्जन पद समानार्थक हैं, आगे संसर्जन के भेद बताये जायेंगे । यहां परिश्रित पद का प्रयोग है, आगे इसके अर्थ में संसर्जन पद का ही प्रयोग करेंगे । उपसर्ग कामधेनु रूप माने गए हैं, उपसर्गों के साहचर्य से नाना प्रकार के अर्थ प्रकाशित हो जाते हैं । उन परिश्रित रूपों में यदि बल प्रतिपन्न हो जाता है, तब ही उसमें स्थिरता होती है और बल वहां एक जगह बंधकर आवरण रूप बन जाता वह इस वाक्य से कहा गया है । ये संसर्जन भाव जिससे उत्पन्न होते हैं उस बल को भी आवरण पद से ही कहा जाता है और संसर्जनों का व्यवहार भी आवरण पद से किया गया है । आवरण ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है ।

[1]रूपं यतोऽस्मिन् प्रभवत्यकस्माद् द्रष्टुं तदक्ष्णा घटते यतो वा ।
तदन्यदत्रावरणं बलं स्यात् प्राणास्तदा रूपसमावृताः स्युः ।।२४२।।
[2]स्थेमानमायाति यथा यथा तद्घनत्वमुक्तं तत एव तस्मिन् ।
विलक्षणा शक्तिरुदेत्यपूर्वा तेजोऽग्निरस्मिन् समुदेत्यकस्मात् ।।२४३।।

अणुस्वभावी बल में जिसके कारण अकस्मात् विचित्र रूप का उदय हो जाता है और जिसके कारण अणु होने पर भी वह बल आंखों से देखा जा सकता है, पूर्वोक्त बलों से भिन्न वह आवरण रूप बल होता है । इससे सम्पादित उस रूप से प्राणों का आवरण हो जाता है ।।२४२।।

१. आवरण का तृतीय प्रकार—इस बल में से ही जिसके कारण अकस्मात् पहले कभी नहीं देखा हुआ रूप प्रादुर्भूत हो जाता है, एवं जिसके कारण वह आंख से देखने योग्य बन जाता है, वह आवरणात्मक बल कहा जाता है । बल स्वभावतः अणुरूप होने से नेत्र दर्शनगम्य नहीं होता, आवरण रूप हो जाने पर वह देखने योग्य हो जाता है, उसको ही रूप कहते हैं । रूप के प्रादुर्भाव का कारण भी यहां ध्वनि रूप में संकेतित कर दिया गया । पद्य में 'अक्ष्णा घटते' कहा गया है, अर्थात् नेत्र से विशेष संयोग होने पर रूप का प्रादुर्भाव होता है । प्रत्येक पदार्थ में प्रचरणशील प्राणमय बल रहता है, और सूर्य में से भी रश्मिरूप से सर्वत्र बल का ही प्रसार होता है, हमारी नेत्र आदि इन्द्रियां भी बल रूप ही हैं । प्रत्यक्ष रूप से पदार्थ को देखने की प्रक्रिया में सूर्य की अथवा अन्य किसी प्रकाश की किरणें पदार्थों से संयुक्त होकर उन पदार्थगत प्राणों के साथ नेत्र पर आती जाती रहती है । इस प्रकार प्रवाह रूप से स्थिरता पाकर अनेक बल परस्पर संयुक्त होकर रूप का प्रादुर्भाव करते हैं । आधुनिक वैज्ञानिक भी थोड़े से भेद से इस ही प्रकार की रूप की उत्पत्ति प्रक्रिया बताते हैं । अन्यान्य बलों के संयोग से जो एक रूप की अन्य रूप में परिणति होती है, वह भी बल से रूप की उत्पत्ति में प्रमाण है । जैसा कि अन्य प्रकार के प्रकाश संयोगों के तारतम्य होने पर विलक्षण रूपों की प्रतीति होती है । हलदी के चूर्ण में यदि किसी सफेद चूर्ण का संयोग कर दिया जाय तो लाल रंग हो जाता है । सब प्रकार के रूपों का संमिश्रण करके यदि मर्दन कर दिया जाय तो काला रूप ही प्रादुर्भूत हो जाता है । मेंहदी के हरे पत्र चूर्ण में जल मिलाकर महिलायें हाथ पैर में लेपन करती हैं तो लाल रूप हो

जाता है। बादाम का अपना रूप कूटने वा पीसने पर विभिन्न रूपों में बदल जाता है। सब रंग वाले पत्तों को चक्राकार संयुक्त करके यदि अतितीव्रता से घुमाया जाय तो सबका श्वेत रूप प्रतीत होने लगता है। ये सारे उदाहरण रूप की बल द्वारा उत्पत्ति होने में पर्याप्त प्रमाण हैं। इसही प्रकार स्पर्श आदि की उत्पत्ति भी बलों के संयोग से ही होती है ये भी समझ लेना चाहिये। भगवद्‌गीता में यह भी कहा गया है—"मात्रास्पर्शास्तुकौन्तेय शीतोष्णसुखदु:खदा:" (२ अ. १४ श्लो.) इस श्लोक के व्याख्याकारों ने मात्रा पद से इन्द्रियों का ही ग्रहण किया है। शीत और उष्ण पद अन्य गुणों के उपलक्षण हैं। सारे ही गुण इन्द्रियों के संयोग से उत्पन्न होते हैं यह ही यहाँ कहा गया है। अत: रूप को जहां बल विशेष ही कहा गया है, वह उचित ही है। ये रूप प्रादुर्भूत होकर प्राणों का आवरण कर लेता है। रूपवान् पदार्थ में सब लोग रूप को ही प्रधानतया जान पाते हैं, अन्य सब प्राण तो गूढ ही रहते हैं। यह रूप वास्तव में आवरण बल ही है। सामान्यतया वस्तु का आकार ही यहां रूप पद से जानना चाहिए। आकार सीमा कारक परिच्छेद होता है। वह विभिन्न दिशाओं से सम्बन्ध रूप यह बल ही है। यह बल ही वस्तु के स्वरूप भाव में नेत्र द्वारा गृहीत होता है।

बल जैसे-जैसे स्थिरता पाता जाता है, उस बल में स्थिरता के कारण सघनता आ जाती है और अनेक बलों की इस सघनता से अद्‌भुत विलक्षण शक्ति का उदय होता है, वह बल अब अकस्मात् अति तेजस्वी अग्निमय हो जाता है। ये सब आवरणात्मक बल का चमत्कार होता है ॥२४३॥

२. बल में जैसे जैसे यह स्थेमा नाम की स्थिरता आती है, वैसे वैसे बल घनता–निबिड़ता पाता जाता है। किसी भी वस्तु की स्थिरता में यह सघन भाव रूप निबिड़ता स्पष्ट अनुभव में आती है। जैसे जल कणों की सघनता होने पर मेघ की गहनघटा बन जाती है। दीपक का प्रकाश स्थिरता पाकर सघन हो जाता है, यह प्रत्यक्ष अनुभव गम्य होता ही है। घनता पाजाने पर बल में विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है, जिससे वह बल तेज रूप से प्रकट होता है। तेज ही अग्नि भी कहा जाता है—अतः दोनों शब्दों का यहां संनिवेश कर दिया गया है। बल के सघन हो जाने पर अग्निमय तेज उदित होता है इसका स्पष्ट अनुभव सूर्य की किरणों का आतशी शीशे से सम्पर्क होने पर हो जाता है। अरणिमन्थन द्वारा अग्नि का प्रादुर्भाव करने में तो सूर्य रश्मियां बल रूप ही होती हैं इसमें तो विचारकों को कोई विवाद हो नहीं सकता। उष्णता रूप तेज की उत्पत्ति तो शरीर के अवयवों के परस्पर संघर्ष से भी अनुभव में आती है। तेज से जल की उत्पत्ति पसीने के रूप में और जल से पार्थिव भाव की उत्पत्ति पसीना जम जाने पर मल के रूप में अपने शरीर में ही स्पष्ट अनुभवगम्य है। श्लोक में तेज का प्रादुर्भाव बताते हुए पंच भूतों की उत्पत्ति का क्रम यह उपलक्षित कर दिया गया है।
छान्दोग्य आदि उपनिषदों में तेज, अप् और अन्न ये तीन ही जगत् में मुख्य तत्व बताये जाते हैं। उनमें तेज की प्राथमिकता के कारण तेज का ही प्रादुर्भाव यहां बताया गया है। आकाश और वायु का वहां तेज पद से ही संग्रह कर लिया जाता है। ये भूतगण इनको उत्पन्न करने वाले रस, बल, प्राण आदि सबका आवरण कर लेते हैं। भूतभावों का ग्रहण ही सब कोई कर पाते हैं, भूतों की उत्पादक शक्तियां छुपकर ही रहती हैं, ये भूत आवरण बल रूप ही हैं।

[1]पराक्रमारम्भफलं बलं चापूर्वं भवेदावरणं तदुक्तम् ।
तदित्थमत्रावरणं निरुक्तं षोढा सहैतानि समाविशन्ति ।।२४४।।

स्थेमाऽन्यदेवावरणं बलं स्यात् परिश्रितं त्वावरणं ततोऽन्यत् ।
रूपं च तत्कर्म च तद्बलं च तेजश्च भिन्नानि बलान्यमूनि ।।२४५।।

[2]चतुर्विध त्वावरणं हि माया भावोऽप्यभावोऽपि च सर्जनं च ।
मात्रा च संस्थेति पृथग्द्विधासौ माया पुरोक्ता पुरुरूपरूप्या ।।२४६।।

[3]रसान्वितैरन्यबलैस्तु शून्यं सहान्वितं यत्र बलं स भावः ।
भावश्चतुर्धा प्रमितोऽन्तरायः संकोचमोहौ च तथा विशेषः ।।२४७।।

बल जब पराक्रम (क्रिया) रूप में आ जाता है तब उसका फलस्वरूप बल अपूर्व कहा जाता है, उसको आवरण कहते हैं अर्थात् वह रस का आवरण करने में समर्थ हो जाता है, ये आवरण छह प्रकार का परिभाषित हुआ है। ये छहों प्रकार भेद परस्पर मिश्रित हो जाते हैं। यद्यपि स्व स्वरूप से इसके छह भेद होते हैं तथापि कार्यकाल में मिश्रित हो जाते हैं ।।२४४।।

१. पराक्रमारम्भ का अर्थ बल की क्रिया रूप में प्रवृत्ति है, इसका फलस्वरूप जो बल होता है, उसका व्यवहार अपूर्व नाम से होता है। इसकी व्याख्या आगे तुरन्त विस्तार से की जायगी। यह आवरणात्मक अपूर्व छह रूपों से वर्णित हुआ है। ये सब रूप परस्पर एक दूसरे में समाविष्ट हो जाते हैं। ज्ञानसौकर्य के लिये इनका प्रकार भेद से पार्थक्य दिखाया गया है, सर्वथा पृथक् भाव इनका नहीं समझना चाहिये। इस लक्ष्य से ही आगे घनता और अपूर्व को संसर्जनरूपों में ही अन्तर्भूत कर दिया गया है। इन छहों के नाम आगे के श्लोक में कहे गए हैं। उनमें कर्म पद से कर्मफल रूप अपूर्व का ग्रहण किया गया है।

आवरण के छह भेद—स्थेमा (स्थिरता) पृथक् बल है, परिश्रित (संसर्जन) नाम का आवरण पृथक् दूसरा है, रूप, कर्म, बल और तेज ये सब भिन्न-भिन्न बल हैं ।।२४५।।

अन्य प्रकार के एक विचार में यह आवरण चार प्रकार का माना गया है—वे चार भेद माया, भाव, अभाव और सर्जन कहे गए हैं। उनमें माया के दो भेद मात्रा और संस्था रूप में पहले कहे गए हैं। इस माया का अनेक रूपों से निरूपण किया जाता है ।।२४६।।

२. प्रकारान्तर से आवरण बल के चार भेद—माया, भाव, अभाव तथा सर्जन होते हैं। बल निरूपण के आरम्भ में माया के मात्रा और संस्था ये दो भेद बताये गए हैं। मात्रा नाम परिच्छेद (सीमा) का है और पदार्थ के संगठित रूप को संस्था कहा जाता है। ये माया 'पुरुरूपरूप्या' अर्थात् अनेक रूपों से निर्वाचित होती है।

पूर्व कथित भाव के भेद—रस में जिन अनेक बलों का सहभाव रूप प्रवाह बन रहा हो—उसमें से विभक्त होकर जो बल पृथक् हो जाय—वह अन्य रसान्वित बलों से शून्य एक बल, एक प्रकार का पृथक् भाव है। वास्तव में रस के साथ सम्बद्ध होकर ही सामान्यतया

अनेक भावों का उदय होता है। ये भाव चार प्रकार का माना गया है, अन्तराय, संकोच, मोह तथा विशेष ये भाव के नाम हैं ।।२४७।।

३. अब द्वितीय भाव का निर्वचन करते हैं—जहां अधिकतर भिन्न जाति के बल साथ-साथ जुड़ रहे हों अर्थात् अनेक बल एक जगह रस में समन्वित हो रहे हों। उस अवस्था को ही भाव कहा जाता है। भाव का विवरण गत प्रकरण के अन्त में भी किया गया है। विक्षेप बल ही आवरण रूप बन जाता है यह भी वहां कहा गया था। उस वक्तव्य से इस प्रकरण की एक वाक्यता समझनी चाहिए। किन्तु भेद यह है कि भावों के रूप अलग-अलग होते हैं—इसलिए उनसे पृथक् भावस्वरूप दिखाने के लिए विशेषतः भाव का निर्वचन किया जा रहा है—रस सम्बद्ध अन्य बलों से शून्य—विरहित अर्थात् पृथक् भूत जो बल है वह एक भाव है। इस उक्ति से यह भी संकेत कर दिया गया कि रस से सम्बद्ध जो अनेक बल हैं वे पृथक्-पृथक् भाव हैं। उत्तरार्ध में भाव को चार प्रकारों में विभक्त बताया है।

[1]देशाधिकत्वं प्रथनं विकासः संकोच उक्तोऽस्य विपर्ययात्मा।
प्रज्ञासु चैतन्यसमन्वयः स्याज्ज्ञानं हि मोहोऽस्य विपर्ययात्मा ।।२४८।।

[2]प्रत्यर्थमेवाभिमता विशेषा व्यक्तिस्ततोऽन्योन्यमभावसिद्धिः।
अथान्तरायः प्रतिबन्धहेतुः प्रज्ञासु रूपेषु च योगसिद्धेः ।।२४९।।

[3]यत्केवलं शून्यबलं हि सत्ताज्योतिः पृथक्स्थं स भवेदभावः।
सत्तापृथक्त्वादिह नास्तिबुद्धिर्ज्योतिः पृथक्त्वाच्च न भाति बुद्धिः ।।२५०।।

सत्तामनासज्य[4] भवेदभावोऽभावे तु सत्ता विभवेद्विभुत्वात्।
स च द्विधा स्यात् प्रभवस्थसत्ता सम्बन्धसत्ता प्रतिबन्धभेदात् ।।२५१।।

अधिक स्थान में फैलने को विकास कहा जाता है, इससे विपरीत अल्प प्रदेश में सिकुड़ जाने को संकोच कहते हैं, प्रज्ञा (बुद्धि) में चैतन्य की अनुगति रूप समन्वय को ज्ञान, एवं इससे विपरीत प्रज्ञा की चेतनाशून्यता को मोह कहा जाता है ।।२४८।।

१. सूई तथा कढाई के निर्माण विचार में प्रथम छोटी वस्तु सूई का निर्माण कर लिया जाय, इसको सूचीकटाह न्याय कहते हैं, इसका अनुसरण करते हुए क्रम का परित्याग करके पहले संकोच और मोह की व्याख्या करते हैं। थोड़े से प्रदेश की स्थिति को संकोच और अज्ञान को मोह कहते हैं। अज्ञान उस अवस्था को कहते हैं जिसमें चैतन्य का प्रज्ञा में अति अल्प अनुगमन हो रहा हो और वह भी धुंधला सा ही होवे।

विशेष नाम का भाव तो प्रत्येक पदार्थ में अभीष्ट होता है। व्यक्ति को ही विशेष कहा जाता है। इस विशेष भाव से हो अन्य में अन्य का अभाव रूप भेद सिद्ध होता है। प्रज्ञाओं में रूपों में संयोग की रुकावट करने वाले को अन्तराय कहते हैं ।।२४९।।

२. भाव के तीसरे भेद विशेष का विवरण करते है। व्यक्ति ही विशेष होता है। वह ही प्रकट रूप से भासित होता है। यह विशेष प्रत्येक पदार्थ में भिन्न होता है। इस विशेष से ही सब व्यक्तियों में पार्थक्य प्रतीत होता है। और इससे ही अन्य का अन्य में अभाव रूप भेद सिद्ध होता है।

यह आवरण से समुत्पादित कोई विशेष धर्म रूप होता है। जहां कहीं कोई विशेष धर्म नहीं मिलता, वहाँ केवल उस प्रदेश का तत्काल सम्बन्ध मात्र ही होता है। वह भी सीमारूप आवरण जनित ही होता है यह वह कह चुके हैं। अब प्रथम भाव के भेद अन्तराय का विवरण करते हैं—प्रज्ञा तथा रूपों में सयोग का अथवा संयोगभाव का जहां प्रतिबन्ध हो जाय अर्थात् अभाव हो जाय उसके हेतु को अन्तराय कहा जाता है। यह अन्तराय भावरूप होता है। यह अभाव का हेतु होता है, अभाव विवेचना के प्रकरण में तुरन्त इसके उदाहरण कहे जायेंगे।

जो बल अकेला होता है सत्तारूप रस से अथवा ज्योति (ज्ञान) रूप रस से जिसका सम्बन्ध नहीं होता वह रस रहित बल अभाव नाम से कहा जाता है। सत्ता से पृथक् हो जाने से उस शून्य बल के विषय में 'नास्ति' बुद्धि होती है अर्थात् नहीं है यह ज्ञान होता है और ज्योतिर्मय ज्ञान से पृथक् हो जाने से 'न भाति' यह बुद्धि होती है, अर्थात् प्रतीत नहीं होता यह कहना पड़ता है। सत्ता से अस्ति और ज्योति से भाति ये ज्ञान होते हैं, उसमें दोनों ही नहीं होते ।।२५०।।

३. आवरण के तीसरे अभाव नामक भेद की व्याख्या—जो केवल शून्य रूप बल होवे, सत्ता से अथवा ज्योति से जिसका सम्बन्ध नहीं होवे, उन दोनों से अलग ही जो बल होवे ऐसा बल अभाव नाम से कहा जाता है। रसाधिकार में सत्ता और ज्योति का निरूपण विस्तार से किया जा चुका है, उनसे असंबद्ध बल अभाव होता है। सत्ता सम्बन्ध न रहने से ही अभाव के लिये 'नास्ति' कहा जाता है। अभाव के विषय की बुद्धि भी 'नास्ति' इस रूप से सत्ता के अभाव की ही प्रतीति कराती है। और किसी प्रकाश का सम्बन्ध न होने से ही 'न भाति' भान ही नहीं होता यह बुद्धि होती है, 'नास्ति' और 'न भाति' इन शब्दों का व्यवहार भी वहां हुवा करता है। तात्पर्य यह है कि—रस बल का सम्बन्ध हो जाने पर ही सत्व (सत्ता) अथवा भाव की प्रतीति होती है। रस की जिनमें प्रधानता रहती उन तीन रूपों की व्याख्या रसाधिकार में हो चुकी है। अब बल की प्रधानता वाले तीन रूपों की व्याख्या यहां कर रहे हैं। इन सबका परस्पर का सम्बन्ध ही 'अस्ति' और 'भाति' इन दोनों व्यावहारिक बुद्धियों का प्रयोजक होता है, किसी अन्तराय रूप प्रतिबन्ध के कारण जहां सम्बन्ध नहीं हो पाता वहां 'नास्ति' 'न भाति' ये बुद्धि व्यवहार प्रवृत्त होते हैं। इस बुद्धि का जो विषय बनता है वह ही अभाव नाम से व्यवहार में आता है। यह अभाव भी आवरण रूप बल का ही भेद है, आधुनिक नैयायिकों का अभिमत कोई अतिरिक्त तत्व नहीं है। यह बात आगे स्पष्ट की जा रही है।

सत्तात्मक रस से बल अपना सम्बन्ध नहीं कर पाता तब अभाव कहा जाता है किन्तु स्वयं सर्वत्र विभु (व्यापक) स्वभावी होने से उस अभाव में भी सत्ता का सम्बन्ध तो रहता ही है। वह अभाव मूलतः दो प्रकार का होता है 'प्रभवस्थ सत्ता प्रतिबन्ध' रूप अर्थात् उद्गम कालानन्तर ही सत्ता से सम्बन्ध नहीं होना यह एक रूप। और दूसरा सम्बन्ध सत्ता प्रतिबन्ध रूप' अर्थात् पदार्थ की अन्यत्र कहीं भले सत्ता रहे किन्तु स्थान विशेष में जिसकी सम्बन्ध सत्ता नहीं बनती हो ।।२५१।।

४. प्रश्न उठता है कि—'नास्ति' 'न भाति' इन दोनों व्यवहारों में भी निषेध बोधक न के साथ सत्ताबोधक 'अस्ति' पद जब जुड़ा रहता है तब सत्ता का सम्बन्ध तो स्पष्ट सुना ही जाता है

तो फिर सत्ता सम्बन्ध का अभाव कैसे कहा जा रहा है ? इसका समाधान करते हैं। बल सत्ता से सम्बन्ध नहीं जोड़ पाता अतः अभाव बल सम्बन्ध का है। सत्ता तो सर्वत्र व्यापक है अतः इस अभाव रूप बल से भी विभूति सम्बन्ध सत्ता का तो रहता ही है। सत्ता रस का स्वरूप ही है यह विवरण पहले किया जा चुका है। रस स्वयं व्यापक है, अतः भाव में चाहे अभाव में रस का सम्बन्ध नहीं है, यह नहीं कहा जा सकता। यह ही कारण है कि नास्ति में निषेध बोधक 'न' इस पद से अभाव बताये जाने पर भी सत्ता का सम्बन्ध 'अस्ति' पद से संकेतित होता है। उत्तरार्ध में अभाव के भी भेदों का विवरण करते हैं। सर्वप्रथम अभाव दो प्रकार का समझना चाहिये—प्रभवसत्ता प्रतिबन्ध रूप और सम्बन्ध सत्ता प्रतिबन्ध रूप। उदाहरण सहित इन दोनों का विवरण आगे के पद्य में किया जा रहा है।

यत्[1] प्रागसद्ध्वंसनमेव वा यद् यदश्वश्रृङ्गादिवदस्त्यसत्यम् ।
तेषु त्रिषु स्यात् प्रभवस्थसत्तासंसर्गशून्यस्य बलस्य बोधः ॥२५२॥

अथेह[2] नाश्वो न घटस्तदानी न तस्य रिक्थं न हि तैर्विरोधः ।
इत्येवमादिप्रतिपत्तिहेतुः सम्बन्ध-सत्ता-प्रतिबन्ध इष्टः ॥२५३॥

[3]सूर्यादितेजः प्रतिबन्धरूपं तमोऽप्यभावोऽत्र मतस्तृतीयः ।
स रूपसत्ताप्रतिबन्धहेतुः रूपस्य नाशात्तु सतोऽप्यबोधः ॥२५४॥

संसर्जनं[4] त्वावरणं चतुर्विधं क्रियात्मना तत्कृतसंस्क्रियात्मना ।
ग्रन्थ्यात्मनाथो घनतात्मनाऽपि वा तेभ्यः पुनः स्यात् क्वचिदन्यथापि हि ॥२५५॥

प्राग् अभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव ये तीन अभाव रूप प्रसिद्ध हैं। मृत्तिका पिण्ड में पहले घट का अभाव है यह प्राग् अभाव, घट बन जाने पर पाषाण आदि के प्रहार से ध्वस्त कर देने पर प्रध्वंसाभाव, और घोड़े के सींग जो कभी सत्य होते हो नहीं, यह अत्यन्ता भाव कहा जाता है। इन तीनों में प्रभव अर्थात् कारण में रहने वाली सत्ता सम्बन्ध की शून्यता बल की ज्ञात होती है ॥२५२॥

१. उत्पत्ति से पूर्व जो घटपट आदि कार्यरूप द्रव्यों का अभाव रहता है—वह प्रागभाव नाम से व्यवहृत होता है, विनाश हो जाने पर प्रध्वंसाभाव और जिन अश्व के सींग आदि की कभी सत्ता होती ही नहीं वहाँ अत्यन्ताभाव कहा जाता है—इन तीनों स्थलों में 'प्रभव में रहने वाली सत्ता का प्रतिबन्ध समझना चाहिये। जहां कार्यरूप द्रव्य की उत्पत्ति नहीं हुई है—वहां प्रभव अर्थात् कारण में रहने वाली सत्ता, सामग्री संघटन आदि के प्रतिबन्ध से बल के द्वारा गृहीत नहीं होती वह प्रभव की सत्ता का प्रतिबन्ध रूप अभाव है। वहां जिस बल का उद्भव ही नहीं हुआ हो वह बल असत् कहा जाता है। प्रध्वंसाभाव में घटपट आदि रूप से बल के द्वारा जिस कारण में स्थित सत्ता का ग्रहण किया गया था, उसकी नाशक दण्ड आदि के प्रतिबन्ध से विच्युति हो जाती है, वहां भी कारण में स्थिति सत्ता का ही प्रतिबन्ध होता है। कारण की सत्ता ही कार्य द्वारा गृहीत होकर हमारे देखने में आती है, कार्य की पृथक् कोई सत्ता नहीं होती, वैसे ही बल की सत्ता भी रस के द्वारा ही होती है, वह भी स्वतन्त्र सत् नहीं होता, बल ही रस के आधार से विभिन्न कार्य रूपों में परिणित होता है यह कहा ही गया है। उस सारे विषय का स्मरण

करके ही इस प्रकरण को जानने का यत्न करना चाहिए। एवं जो अश्व के सींग आदि सर्वथा असत् होते हैं, वहाँ भी सींग उत्पन्न करने वाले बल ने कभी सत्ता पाई ही नहीं अतः वह भी प्रभवस्थ सत्ता प्रतिबन्ध रूप ही होता है।

यहां इस समय घोड़ा नहीं है, वहां उस समय घट नहीं था, इस घन में उसका भाग नहीं है, मेरा उनसे कोई विरोध नहीं है', इत्यादि प्रतीतियों में सम्बन्ध सत्ता प्रतिबन्ध रूप हेतु ही माना जाता है ॥२५३॥

२. अब सम्बन्ध सत्ता प्रतिबन्ध रूप दूसरे अभाव का उदाहरण बता रहे हैं। यहां अश्व नहीं है आदि उदाहरणों में सर्वत्र सम्बन्ध सत्ता का अन्तराय हो रहा है। कहीं अन्य स्थल में अश्व आदि की स्थिति होने पर भी किसी प्रदेश विशेष में अथवा किसी कालविशेष में पदार्थ की सम्बन्ध सत्ता का अभाव यहां दिखाया जा रहा है। बल विशिष्ट रस रूप ही देश तथा काल होते हैं, उनसे सम्बन्ध रखने वाली सत्ता का अश्व आदि में प्रतिबन्ध हो गया है यह ही यहां भासित होता है। अन्य दोनों उदाहरणों में भी ऐसे ही समझना समुचित है।

सूर्य, चन्द्र आदि के तेज (प्रकाश) का अवरोध करने वाला तम (अन्धकार) भी तीसरी कोटि का अभाव माना गया है। यह रूपमयी सत्ता के अवरोध का हेतु बनता है, रूप के न दीखने पर तो पदार्थ सत्ता रहने पर भी उसका बोध नहीं होता ॥२५४॥

३. अभाव का अन्य भेद भी बता रहे हैं—वैशेषिक की प्रक्रिया में पहले तम को भी अभाव रूप कहा गया है। यह अभाव सूर्य आदि के प्रकाश का प्रतिबन्ध (अवरोध) रूप होता है। यह भी प्रश्न उठता है कि यह अभाव भी किसी विशेष स्थल मे सूर्य आदि के प्रकाश की सम्बन्ध सत्ता को रोकने वाला ही होता है—अतः सम्बन्ध सत्ता प्रतिबन्ध रूप में ही इसका अन्तर्भाव मान लेना चाहिये, तीसरा रूप अभाव का यह क्यों गिनाया जा रहा है? इसका ही कारण बता रहे हैं। यह अभाव रूप की सत्ता के ही अभाव में हेतु बन जाता है। सूर्य आदि के प्रकाश के सम्बन्ध होने से ही रूपनाम के आवरण का उदय होता है, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। तदनुसार तेज का सम्बन्ध न रहने पर रूपनाम का आवरण उत्पन्न नहीं होता। विशेषता यहां ये आती है कि यह तेज सम्बन्ध का अभाव स्वयं आवरणात्मक बल रूप अभाव है—ऐसा होते हुये भी यह आवरण बल के रूप की सत्ता का ही अवरोधक हो जाता है, इस विशेषता के कारण ही यह पृथक् गणनीय होता है। जबकि रूप ही नष्ट हो जाता है तो अवरोध से पहले से सत्तासिद्ध भी पदार्थ निलीन (सर्वथा अदृश्य) हो जाता है तब उस पदार्थ का ही बोध नहीं होता है।

संसर्जन नाम का माया का आवरण चार प्रकार का होता है। 'आरम्भ में परिश्रित नाम संसर्जन का ही बताया गया था।' इसके चार रूप—क्रियामय, क्रियाजनित संस्कारमय, ग्रन्थिमय तथा घनतामय होते हैं। इन रूपों से अतिरिक्त अन्य भाव भी संसर्जन का कहीं हो जाता है ॥२५५॥

४. मायाबल के तीसरे भेद संसर्जन के विभिन्न भेद बताये हैं। पहले जिन छह भेदों का निरूपण हुआ है उनमें इस संसर्जन को ही परिश्रित पद से कहा गया है, यह प्रतीत होता है।

क्वचिद्रसेनाव्रियते[1] बलं ततो निर्लक्षणत्वान्न रसोऽपि लक्ष्यते ।
क्वचिद्रसं वावृणुते बलं ततो बलेन रूपेण रसः स लक्ष्यते ।।२५६।।

या कर्मणः क्वापि रसे स्थितिर्भवेत् रसं स्वदेह[2]प्रमितं न संत्यजेत् ।
रसस्य रूपं बलमेव जायते तदैव तत्रावरणं निरुच्यते ।।२५७।।

बलं[3] रसे क्वापि यदा प्रयुज्यते तदा बलं तत्र रसेऽनुयोगिनि ।
अपूर्वमुत्पाद्य विनश्यति स्वयं सोऽपूर्वसंस्कार इहानुबध्यते ।।२५८।।

[4]यथा हि तोयाहितपेशलत्ववन्मृत्स्नासु रूपं कृतमिष्टकादिकम् ।
अपि व्यपाये जलपेशलत्वयोः कृतेर्व्यपायेऽपि च न व्यपैति तत् ।।२५९।।

हस्तोत्थया[5] नोदनया हितं तृणप्राणे ततस्तेन कृतं च तत्तृणे ।
वक्रानुवक्रत्वमिदं न हीयते तन्नोदनाप्राणबलव्यपायतः ।।२६०।।

कहीं यदि रस से बल आवृत हो जावे अर्थात् रस में बल छुप जावे, बल की पृथक् प्रतीति ही न होवे तो रस की प्रतीति भी नहीं होती, क्योंकि रस को लक्षित करने वाला तो बल ही होता है रस तो स्वयं निर्लक्षण है । अन्यत्र जहां बल रस का आवरण करता है वहां रस बल के रूप में ही लक्षित होता है—अर्थात् बल से संपादित किसी आकार रूप में ही रस का भास होता है ।।२५६।।

१. क्रिया निरूपण—रस का लक्षण अर्थात् प्रकाशक बल ही होता है । बल यदि रस में आवृत हो जाता है तो रस का प्राकट्य नहीं होता । बल के द्वारा रस का आवरण हो जाने पर भी रस की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती, देखने वाले बल के रूप को अर्थात् बल से उत्पादित क्रिया के रूप को ही रसरूप से जानते हैं । यह क्रिया रूप आवरण होता है ।

व्यापक रस में किसी अंश में बल की स्थिति होती है । बल का स्वयं का जितना आकार होता है उतने ही आकार में वह रस का आवरण करता है, अपने देह के परिमाण में घिरे हुवे रस को वह बल छोड़ता नहीं है अतः रस का रूप बल के रूप में ही समाविष्ट हो जाता है, वह कर्मरूप बल ही वहां आवरण स्वरूप में निर्वाचित होता है ।।२५७।।

२. अपने देह के आकार के अनुसार परिमित रस का ही आवरण बल करता है, उस आवृत स्वदेह परिमित रस का परित्याग बल नहीं करता है । रस का सीमाकरण बल के द्वारा ही किया जाता है –यह अनेक बार कहा जा चुका है । क्रिया रूप आवरण का ही यह विवरण है ।

रस के किसी प्रदेश में जब बल संयुक्त होता है, तब संयुक्त बल में रस का अनुयोग रहता है, उस अनुगत रस में बल अपूर्व को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है । वह अपूर्व संस्कार नाम से कहा जाता है, वह संस्कार आगे अनुबद्ध हो जाता है ।।२५८।।

३. संसर्जन के संस्कार नाम के द्वितीय भेद का निर्वचन करते हैं । रस में समाविष्ट होने वाला बल स्वयं तो नष्ट हो जाता है किन्तु रस संयोग से समुत्पन्न अपने फल रूप में, नवीन बल को उत्पन्न करके वह नष्ट होता है । वह समुत्पन्ननवीन बल संस्कार नाम से कहा जाता है । मीमांसक इस

संस्कार का 'अपूर्व' नाम रखते हुवे बहुत प्रकार का विवरण करते हैं। उनकी मान्यता से यज्ञ आदि के द्वारा उत्पन्न किया गया अपूर्व नाम का संस्कार ही स्वर्ग प्राप्ति आदि फल देता है।

संस्कार का लोक व्यवहार में प्रत्यक्ष देखा जाने वाला उदाहरण – इष्टका (ईंट) आदि के निर्माण में पहले सूखी मृत्तिका में जल मिलाकर उसे चिकनी करते हैं, फिर मनुष्य अपने हस्तव्यापार से उस मृत्तिका को ईंट का रूप दे देता है। जब जल सूख जाता है और उससे समुत्पन्न चिकनाई भी नहीं रहती, अब उस ईंट को ईंट के रूप में साधकर रखने वाला किसी मनुष्य का कोई हाथ आदि का प्रयत्न भी नहीं रहता, फिर भी इष्टका बिखरती नहीं, उसका टिका रहना बल संस्कारजन्य होता है ॥२५९॥

४. संस्कार के लौकिक उदाहरण – तोय—(जल) के द्वारा आधान किया गया चिकनापन और चिकनाई हुई मृत्तिका पर मनुष्य के प्रयत्न से आधान किये गये बल के द्वारा इष्टका का निर्माण होता है। जब उसके भीतर का जल सूख जाता है और जल के द्वारा समाहित चिकनापन भी खरता में बदल जाता है, अब कोई प्रयत्न भी किसी का नहीं रहता, परन्तु ईंट जो बनाई गई थी वह स्थिर रहती है। यह ही बल द्वारा किया गया स्थायी संस्कार है। बल ही प्रवाहरूपता पाकर संस्कार रूप बन गया, यह कथन तात्पर्य है। ग्रन्थकार ने अपने अन्य ग्रन्थ में कहा है कि उस इष्टका के सूख जाने पर जल और उस ईंट को पकाने वाला अग्नि भी जब निकल जाता है तब उस अग्नि-जल आदि के स्थान में सूत्रात्मा वायु विभूति सम्बन्ध रखते हुए उस ईंट की स्वरूप रक्षा करता है। यहां का भाव यह है कि जल अग्नि आदि की जगह तो सूत्रात्मा वायु का प्रवेश तो होता ही है। परन्तु ईंट का जो स्वरूप पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न किया गया है, वह तो यथा निर्मित सुरक्षित है—अतः यह मानना होगा कि इष्टका के आकार का संनिवेश बल जनित बलरूप संस्कार के द्वारा ही हो रहा है, अतः यह बल संस्कार ही इष्टका का जनक है।

किसी तृण विशेष को हाथ की प्रेरणा से मोड़कर यदि छोड़ दिया जाता है तो वह तिनका मुड़जाने से वक्र होकर उसही अवस्था में रह जाता है, वहां उस तृण के प्राण में हाथ की नोदना से वक्रता का आधान कर दिया जाने से हस्तजनित नोदना प्राण के विलग हो जाने पर भी पर्याप्त मात्रा में कर दी गई वह वक्रता नष्ट नहीं होती है। वह वक्रता बलसंस्कारजनित ही होती है ॥२६०॥

५. द्वितीय उदाहरण संस्कार का—जब कोई तृण हाथ से सामान्यतया टेढ़ा करके छोड़ दिया जाता है तो वह हाथ से छोड़ देने पर फिर टेढ़ेपन को छोड़कर सीधा हो जाया करता है। परन्तु जब उस तृण को विशेष बलाधान से अधिक मात्रा में मोड़ दिया जाता है, तब उस तिनके के प्राण में हस्तजनित नोदना संन्निहित हो जाती है, फलस्वरूप उस नोदना से की गई वक्रता हटती नहीं है, वह तृण चिरकाल तक वक्रभाव में ही टिका रहता है। यह बल का किया हुवा संस्कार ही वहां चिर स्थायी होता है। पूर्व उदाहरण में बल ही प्रभावरूप में आकर स्थिर हो जाता है यह बताया गया था। इस दृष्टान्त में नोदनाबल के द्वारा वक्रतारूप नवीनबल उत्पन्न कर दिया गया—वह स्थिर हो जाता है ये विशेषता है। कुछ विद्वान् तो पहले कहे गए ईंट आदि उदाहरणों में भी अपूर्व सन्निवेश रूप बल को ही संस्कार रूप से मानते हैं।

[1]अप्यर्थसङ्गोऽनुभवस्तदाहितं प्रज्ञासु रूपं ध्रियते तदर्थवत् ।
ततः स्मरत्येष न च व्यपैति तत् तदर्थसङ्गव्यवसायनाशतः ।।२६१।।

इत्थं यदा यत्र बलं प्रयुज्यते ध्रुवं तु संस्कार इहोपजायते ।
तयोर्व्यपाये हि बलप्रयोगयोर्नापैति संस्कार इतो रसं गतः ।।२६२।।

प्रतिक्षणोच्छित्ति[2] मतोऽस्य कर्मणो यदेकदेशादुदयक्षयक्रमः ।
यतो नवप्रौढ़विजीर्णताक्रमादेकस्य वैरूप्यमिदं हि संस्कृतिः ।।२६३।।

रसे [3]यदेकत्र बलं स्थितं भवेत् स ग्रन्थिरेतस्य ततोऽस्ति बन्धनम् ।
बलस्य येनास्ति रसेन बन्धनं तेनात्मनात्मन्वि बलं निरुच्यते ।।२६४।।

[4]मात्रा घनस्यास्य पुनस्तदन्तः संकोचवृत्तौ तु परस्परस्मिन् ।
प्रविश्यमानैरकृतावसादैः स ग्रन्थिबन्धोभवतीह खण्डैः ।।२६५।।

[5]अन्तर्मुखत्वाल्परसे बहूनां भवेद् बलानामवगाहनेन ।
परस्पराघातवशात् प्रगाढोघनत्वमन्तःस्थितिरप्रसादः ।।२६६।।

[6]तदित्थमेता इह शक्तयो मता इच्छाक्रियाथाऽऽवरणं च पूरुषे ।
शक्तित्रयी भोगविशेष एष तु प्रदृश्यते यज्जगदेतदस्ति हि ।।२६७।।

।। इति परविद्यायां बलप्रतिपत्तिविभागः ।।

पदार्थों का इन्द्रियों से सहयोग होने पर अनुभूति मानी जाती है, उस अनुभव का प्रज्ञाबुद्धि में आधान हो जाता है फलस्वरूप स्मरण करते ही उन पहले देखे सुने गये पदार्थों का स्वरूप भासित हो जाता है, क्योंकि प्रज्ञा में आधान पदार्थ का रूप सहित होता है। यह ही कारण है कि पदार्थ की संगति तत्काल न रहने पर भी उस अनुभूति का नाश नहीं होता, स्मरण करते ही रूप सहित पदार्थ बुद्धि में प्रबुद्ध हो जाता है इसका एक मात्र कारण प्रज्ञा में निहित वह संस्कारात्मक बल ही होता है ।।२६१।।

१. मानव के शरीर में अनुभव किये जाने वाला आध्यात्मिक दृष्टान्त बताते हैं—जब नेत्र आदि इन्द्रियों द्वारा कोई पदार्थ देखा जाता है तब अनुभव से वैसा ही रूप प्रज्ञा में आधान कर दिया जाता है। आगे पदार्थ की इन्द्रिय सहगति न रहने पर भी प्रज्ञा में सन्निविष्ट वह रूप चिरकाल तक रहता है अतः बार-बार स्मरण करने पर भी उस रूप का भास होता है। वह ही प्रज्ञा में निहित संस्कार होता है। आगे के पद्य से स्पष्ट रूप से इस कथित का ही उपसंहार किया गया है। वह संस्काररूपबल रस में आहित हो जाता है अर्थात् रस को आत्माभाव में ग्रहण कर लेता है, फलतः वह संस्कार बल स्थिर हो जाता है। इस ही प्रकार यज्ञ आदिकर्म से समुत्पादित संस्कार भूतात्मा में रहता है और कालान्तर में जीवनकाल में ही अथवा लोकान्तरों में सुखदुःख रूप फल को उत्पन्न करके नष्ट होता है। इस संस्कार को नैयायिक धर्म, अधर्म नाम से और मीमांसक अपूर्व नाम से व्यवहार करते हैं यह समझना चाहिये।

इस प्रकार जहां भी बल का प्रयोग किया जाता है वहां निश्चित रूप से संस्कार का तत्समकाल में जन्म हो जाता है। तदनन्तर बल और बल प्रयोक्ता दोनों के न रहने पर

भी उस संस्कार का नाश नहीं होता क्योंकि वह रस में गति पाकर स्थिर हो जाता है, उस की स्थिरता में रसानुगति ही हेतु है ।।२६२।।

प्रतिक्षण उत्पत्ति विनाशशील इस कर्म की प्रवाह रूप से जब स्थान विशेष में कुछ काल तक स्थायिता होती है तब नये बल का उदय और पूर्वबल का क्षय यह क्रम चलता रहता है । यह क्रम नवीनता, प्रौढता, तथा जीर्णता द्वारा उदित हुवे मूल रूप को विरूप कर देता है, यह विरूपता संस्कार बल का ही रूप है ।।२६३।।

२. एक पदार्थ में अनेक बलों की उत्पत्ति होती है और उनका विलय भी हो जाता है । घर-वस्त्र आदि पदार्थों की नवीनता, वृक्ष, मनुष्य आदि का जवानी तथा जीर्णतारूप वार्धक्य जो प्रतीति में आता है वह भी बलसम्पादित संस्कार ही होता है । बल ही नये पदार्थ में वैसे संस्कार का आधान करता है जिससे उस पदार्थ में पुरानापन प्रतीत होने लगता है । जितने भी बलों का जहां क्रमशः आवागमन होता है, उतना ही पुरानापन वहां भासित होता है । पूर्व में बल का निर्गमन तथा अन्य बल का प्रवेश रूप जो नया-पुरानापन बताया गया है, वह निर्गमन, प्रवेश भी बल का ही होता है । बल की की हुई संस्कार रूपता यहां कही गई है, यह पूर्वकथित का स्पष्टीकरण रूप समर्थन है, विरोध नहीं है ।

रस में जो बल की एक जगह स्थिति हो जाती है, उस अवस्था में बल की ग्रन्थि बन जाती है, ग्रन्थि पड़ जाने से बल का बन्धन हो जाता है । जिसके कारण बल का बन्धन होता है वह रस है, वह बल का आत्मा बन जाता है, अतएव बल को आत्मानुगामी कहा जाता हैं ।।२६४।।

३. संसर्जन के तीसरे ग्रन्थिरूप भेद का विवरण—रस में बल की स्थिरता से ग्रन्थि हो जाती है । स्थिरता पाये हुवे बहुत से बलों का परस्पर एक-दूसरे में भीतर प्रविष्ट हो जाना ही ग्रन्थि कहा जाता है । जिसको व्यावहारिक भाषा में उलझन कहा जाता है । ग्रन्थि पड़जाने पर बन्धन हो जाता है । जिससे बल का बन्धन होता है, वह रस उस बल का आत्मा होता है और वह बल 'आत्मन्वि' अर्थात् आत्मा का अनुगामी कहा जाता है ।

बलों के बन्धन से एकमात्रा में घनभाव आ जाता है, उस घनता के भीतर मूर्च्छा-रहित बलों का परस्पर एक दूसरे में प्रवेश संकोचभाव में होता है, उस संकोच के कारण ग्रन्थि बन्धन खण्डशः होता है—अतः घनता भी खण्डभाव में होती है ।।२६५।।

४. इस प्रकार ग्रन्थि पड़ जाने से जो एक घनरूप हो जाता है, उसमें संकुचित वृत्ति से बलों के प्रवेश से घनभाव की खण्डरूपता भी हो जाती है ।

बलों के घनभाव में आ जाने पर रस में अल्पता आ जाती है अर्थात् बल की खण्ड भाव की घनता से रस का सीमाकरण अल्प भाव में होता है । उस अल्प रस में अन्तर्मुख होते हुवे बहुत से बलों के प्रविष्ट हो जाने पर उन बलों का परस्पर आघात प्रत्याघात होता है, उससे घनता गाढी हो जाती है । ये गहनभाव में आई हुई घनता जब भीतर स्थिर हो जाती है, तब रस का स्वाभाविक प्रसादभाव रुक जाता है ।।२६६।।

५. अल्प प्रदेश में फैलने वाले रस में संकोच वृत्ति से अन्तर्मुख होने वाले बल यदि नष्ट नहीं होते तो रस में प्रविष्ट होने वाले उन बलों के परस्पर आघात से घनता उत्पन्न हो जाती है—यह घनता का चतुर्थ निर्वचन है। परस्पर आघातवश सघनता हो जाना अनुभव सिद्ध है, इसका निरूपण पहले हो चुका है। बलों की इस सघनता से आत्मा के प्रसादभाव का आवरण हो जाता है, फलस्वरूप विमनस्कता-उदासी या खिन्नता आ जाती है।

इस प्रकार पुरुष में इच्छा, क्रिया तथा आवरण रूप ये शक्तियां मानी गई हैं। इन तीनों शक्तियों द्वारा ही आत्मा की भोग साधना होती है, यह भोग विशेष ही जगत् रूप से दृश्यमान होता है ।।२६७।।

६. प्रकरण का उप संहार करते हैं। यहां अशनाया इच्छापद से कही गई है। ये इच्छा, विक्षेप, आवरण ही शक्ति के रूप हैं। ये शक्तित्रयी नाम से कही जाती है। इसके द्वारा ही आत्मा के भोग सम्पादित होते हैं। सारा जगत् एतद् रूप ही होता है। आगम शास्त्र में तो शक्ति के इच्छा, ज्ञान, क्रिया नाम के तीन परिणाम कहे जाते हैं। यहां कही गई अशनाया—इच्छा रूपा है और विक्षेप क्रिया रूप है, ये व्याख्या हो चुकी है। ज्ञान की गणना यहां अहंकारानुगत गुण के भेदों में हुई है। क्रिया भी अहंकारगत गुणों में परिगणित है। उनमें विक्षेप को यहां कारण रूप कहा गया है, अहंकार के गुणों में प्रतिपादनीया क्रिया को कर्म रूप माना गया है। आगम में कहा गया ज्ञान भी यहां वृत्ति (अवस्था) मय कार्य रूप ही है। प्रधान ज्ञान तो कारण रूप अर्थात् पुरुष रूप ही होता है अतः उसकी गणना यहां पृथक् नहीं की गई है।

।। परविद्या में बल का प्रतिपत्ति भाग यहां पूर्ण हो गया ।।

———

अथ [1]सांख्याभासाः

(३६) सत्वप्राधान्याधिकरणम्

[2]केचित् पुनस्त्रीणि बलानि तानि संचक्षते सत्वरजस्तमांसि ।
तत्र प्रभूतानि विदां मतानि प्रचक्ष्महे तानि यथावगाहम् ।।१।।

[3]सत्त्वं हि शक्तिः पुरुषस्य नित्या सत्त्वस्य दोषौ तु रजस्तमश्च ।
विशुद्धचारित्र्यवशात् प्रसीदेत् सत्त्वं तदेषा चरकस्य दृष्टिः ।।२।।

[4]शान्तं स्वरूपं पुरुषस्य सत्त्वं तदव्ययं सर्वविकारशून्यम् ।
नित्यं हि तद्रूपममुष्य मुख्यं तस्यैव दोषात् क्रमते विकारः ।।३।।

१. रस की प्रधानता रहने पर ब्रह्म तथा बल की प्रधानता होने पर शक्ति स्वरूप माना जाता है। ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाला शास्त्र वेदान्त नाम से तथा शक्ति का प्रतिपादक सांख्य नाम से व्यवहार किया जाता है, यह पूर्व कहा जा चुका है। बल की प्रधानता होने पर सत्व, रज, तम इन तीन रूपों में शक्ति का प्राकट्य होता है। वे तीनों रूप प्रकृतिभाव में अव्यक्त नाम से, आगे महान् (बुद्धि) भाव में अशनाया, विक्षेप, आवरण नामों से ख्यात होते हैं ये निरूपण करके अशनाया आदि का स्वरूप विवरण भी विस्तार से पूर्व अधिकरण में कर दिया गया। वह सारा वेद का सिद्धान्त दिखाया गया है। साथ ही मतभेद प्रकरण में संक्षेप से कपिल आदि का मत भी प्रदर्शित किया गया। अब सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण इनके स्वरूप के विषय में और कौनसा गुण प्रधान होता है और कौनसा गौण रहता है इस विषयविचार में विभिन्न आचार्यों के जो मतभेद हैं, उनका निरूपण यहां किया जा रहा है। वेद में सम्मानित सिद्धान्त प्रक्रिया का वे सब अनुसरण नहीं करते हैं अतः 'सांख्याभास' पद से ग्रन्थकार ने व्यवहार किया है। ये सब भी श्रुति-वेद के किसी अंश विशेष को ग्रहण करके—उसको ही प्रधान मान लेते हैं, तदनुसार ही प्रवृत्त भी होते हैं—अतः उनके मतों का विचार किया जा रहा है। मीमांसा की प्रक्रिया से वेद वचनों के पूर्व—अपर भाव का निर्णय जानकर जो सिद्धान्त वास्तव में होता है, उसका निष्कर्ष तो पहले प्रदर्शित हो ही चुका है।

अनेक विद्वान् बल के सत्व, रजस्, तमस् तीन रूपों के विषय में विभिन्न मत बताते हैं। उन मतों की विवेचना निज जानकारी के अनुसार करते हैं ।।१।।

२. सत्व-रज-तम जो रस और बल के सम्मिलित रूप होते हुए भी बल की प्रधानता वाले रूप हैं। उनके विषय में जो मतभेद हैं उनका निरूपण किया जा रहा है यह कथन का आशय है।

चरक मुनि की दृष्टि में—सत्वरूपबल पुरुष की नित्यस्वरूपा शक्ति है। सत्व की दोषरूपविकृति रजोगुण और तमोगुण हैं। ये सत्व का आवरण कर लेते हैं। चरक मुनि

कहते हैं कि विशुद्ध धर्माचरण से इन रजोगुण और तमोगुण के प्रभाव को हटा देने पर सत्वगुण का प्रसाद (विकास) होता है ।।२।।

३. उनमें कोई आचार्य शक्ति का मुख्यरूप सत्व को ही बताते हैं, रजोगुण तथा तमोगुण तो सत्व के दोषरूप हैं । मनुष्य के विशुद्ध आचरणरूप शुद्धचरित्र से उन दोषों के हट जाने पर सत्व में प्रसाद गुण का उदय होता है, ये आचार्यचरक का मत है । श्रीभागवतदशमस्कन्ध में भगवान् की गर्भस्तुति में—"सत्वं न चेद् धातरिदं भवेत्" इस श्लोक में प्रकृतिवाचक ही सत्व शब्द का प्रयोग किया गया है । आगमशास्त्र के आचार्य कृति (क्रिया) और माया (मिति) से भी परा-महामाया को सत्व शब्द से प्रस्तुत करते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में भी "सत्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धाभवति भारत ?" (भ० गी० १७ अ० ३ श्लो०) यहाँ प्रकृतिवाचक ही सत्व शब्द का प्रयोग हुवा है । सत्व की प्रधानता दिखाने के लिये ही यह सारा समर्थन क्रम है ।

द्वितीय मत है कि—'सत्व' पुरुष का शान्त स्वरूप है—यह अव्यय स्वरूप सब विकारों से शून्य है । मूल पुरुष का यह ही नित्यरूप मुख्य है । रजोगुण, तमोगुणरूप दोष आ जाने पर उसमें विकार का संक्रमण होता है ।।३।।

४. मतान्तर बताते हैं—सत्व पुरुष का अपना स्वरूप ही है और वह शान्त है, अर्थात् सब विकारमय उपद्रवों से शून्य है । उसको ही अव्यय कहते हैं । यह नित्य मुख्य आत्मा का रूप है । उक्त दोषों से उसमें विकार प्रवृत्त हो जाता है । इस मत में सत्वपद से पुरुष ही कहा जाता है, जैसा कि "विशेषणाच्च" (१।२।१२) इस ब्रह्मसूत्र की व्याख्या में श्रीशङ्कराचार्य महानुभाव ने पैङ्गिरहस्य ब्राह्मण का उद्धरण दिया है । वह—"द्वा सुपर्णा सयुजः सखाया" इत्यादि मन्त्र की व्याख्या रूप है, उस मन्त्र में "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" संसार रूपी वृक्ष पर जीव और ईश्वर दो सुन्दर पंखों वाले पक्षी सखाभाव में साथ रहते हैं, उन में एक इस वृक्ष के फलों का आस्वाद करता है वह सत्व है—अर्थात् जीव है, "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" दूसरा वृक्ष के फल को सेवन न करता हुवा ध्यानपूर्वक देखता मात्र रहता है इसलिये वह 'ज्ञ'—जानने वाला माना जाता है—ये ही क्षेत्रज्ञ और सत्व नाम से कहे जाते हैं, आदि । सत्व शब्द वहां जीव वाचक है, क्षेत्रज्ञ शब्द परमात्मावाची है, यह वेद का आशय है, ऐसा आचार्य महोदय ने स्पष्ट किया है । आगे उस मत का स्वयं ही खण्डन कर दिया है, यह दूसरी बात है । सत्व शब्द की पुरुष वाचकता भी कुछ आचार्य मानते हैं, हम केवल यह ही प्रतिपादन कर रहे हैं । उस पुरुष का पूर्ण प्रतिबिम्ब ग्रहण करने में समर्थ होने से मुख्य शक्ति को भी सत्व पद से कहा जाता है, यह तात्पर्य है । सृष्टि तो विकारमय है वह तो दोषों से ही उत्पन्न होती है । पुरुषरूप होने से सत्व की प्रधानता सिद्ध हो जाती है ।

[१]सत्त्वं हि खण्डात्मकमस्ति तस्मादल्पं तदिच्छाविभवाय तु स्यात् ।
तदर्थमीहैव रजः क्रिया सा फलं क्रियाया उदियात् तमस्तत् ।।४।।

[२]तमो हि यत्नात् क्रमतो रजः स्याद्रजोऽपि यत्नाद्भवतीह सत्त्वम् ।
विशुद्धसत्त्वस्य मतोऽपवर्गः सतो विवेकान्मतमेतदेकम् ।।५।।

(३७) अपरं सत्त्वप्राधान्याधिकरणम्

[3]ज्योतिर्मयः पूर्णरसोऽस्ति तस्य तज्ज्योतिर्हि विज्ञानमिदं प्रतियते ।
पूर्णत्वमानन्द इतीह कथ्यते यदस्ति सन्नेष ततो निरुच्यते ।।६।।

अन्य मत है कि—सत्वगुण स्वयं खण्ड स्वरूप है, अतः उस में अल्पता भी रहती है, अल्पभाव को वैभव प्राप्त कर के हटाने की इच्छा होती है, ये इच्छा सत्वरूपिणी है। इच्छा के अनन्तर इच्छित को प्राप्त करने के लिये जो ईहा अर्थात् चेष्टा या क्रिया होती है वह रजोगुणमयी होती है। उस क्रिया का जो फल होता है वह तमोगुणस्वरूप होता है ।।४।।

१. दूसरा मत बताते हैं—सत्व शक्तिरूप है वह खण्डात्मक है अर्थात् उस में अवयव विभाग हैं। सावयव पदार्थों में तो अल्पता तथा महत्ता रहती ही है। उन में जो अल्पखण्ड होता है, उस में महत्व रूप वैभव प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविक होती है। इच्छा के अनुसार जो ईहा—चेष्टा होती है वह रज नाम से कहा जाता है। स्पष्ट यह हुवा कि सत्व इच्छावृत्ति वाला होता है और रजक्रियावृत्ति वाला। उस क्रिया द्वारा जो फल प्राप्त होता है वह तम नाम से कहा जाता है। वह क्रिया द्वारा मिलने वाला फल धनरूप ही होता है और धन ही आत्मास्वरूप का आवरण करने वाला होता है, इस कारण वह तम कहलाता है।

पुरुष के प्रयत्न से प्रेरित रजोमयी क्रिया का सतत यत्नपूर्वक संक्रमण होने पर, रजोमय क्रिया भाव, तम में बदल जाता है। और वह रजोमय क्रिया भाव भी इच्छामय सत्व के यत्न से होता है। जब सत्व विशुद्ध होता है अर्थात् अपने आप में परिपूर्ण होता है, तब अपवर्ग अर्थात् मुक्ति हो जाती है। मुक्ति कैसे हो जाती है उस का कारण बताया कि सत् नाम से कहे जाने वाली इच्छा का रजोगुण तथा तमोगुण से विवेक अर्थात् पार्थक्य हो जाता है। परिपूर्ण भाव में इच्छा समाप्ति हो जाती है। यह भी एक मत माना जाता है ।।५।।

२. पूर्व पद्य में कही गई रीति के अनुसार यत्नपूर्वक चलता हुवा रज, तमभाव में आ जाता है और क्रिया स्वरूप रज, इच्छारूप सत्व से उत्पन्न होता है, इस प्रक्रिया में भी सत्व की ही प्रधानता रहती है। सत्व प्रधान मानने वाले का ही यह मत भी है। जब वह सत्व महान् हो अर्थात् अर्थ भाव से परिपूर्ण होवे तो अर्थेच्छा नहीं होती। उस अवस्था में 'सतः' अर्थात् सत्वगुण का रजोगुण से विवेक—पार्थक्य हो जाता है। रजोभाव तथा तमोभाव से हट जाने का नाम ही मुक्ति है— वह ही अपवर्ग है।

सत्व की प्रधानता का एक अन्य मत है कि—"ज्योतिर्मयः पूर्णरसः अस्ति" यह वाक्य शास्त्रों का सार माना जाता है। इस में ज्योतिपद से विज्ञान (ज्ञान) की प्रतीति होती है, पूर्णरस पद से आनन्दभाव कहा जाता है और अस्ति पद से सत्ताभाव द्योतित है। सत्ता होने से पर ही वचनीय होता है। इस तरह सत्ता चेतना आनन्दात्मक मूल तत्व प्रसिद्ध है ।।६।।

३. मतान्तर में अन्य प्रकार से सत्व की प्रधानता दिखाते हैं—'ज्योतिर्मयः पूर्णोरसः अस्ति' यह शास्त्रसार वाक्य है। यहां ज्योति से ज्ञान, पूर्णता से आनन्द लिया जाता है 'यो वै भूमा तत्सुखम्' यह छान्दोग्य उपनिषत् का वचन पूर्व व्याख्यात है, इस में महत्व को आनन्द रूप ही कहा है। इस कारण ही मूल में वह रस नाम से जो आनन्द का पर्यायवाची है, कहा गया है। अस्तिपद से सत्ता कही जा रही है। इस प्रकार शास्त्र के सारभूत वाक्य के द्वारा सत्ता-विज्ञान-आनन्द प्रदर्शित हुए हैं। सत्ता और सत्व शब्द तो एक ही अर्थ के वाचक हैं। इन दोनों का अर्थ होता है सत् का भाव—अर्थात् सत् की शक्ति। सत् पद से रस कहा जाता है—जैसा कि वेद वचन है 'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्' आदि। इस से रस की शक्ति सत्ता या सत्व सिद्ध होती है। शक्ति शक्तिमान् से कभी भिन्न नहीं होती अतः सत्व की रस रूपता ही मानी जाती है। एक विचार दर्शन यह भी है कि शक्ति को प्रकृति कहा जाता है। प्रकृति स्वभाव को कहते हैं। स्व का अर्थात् रस का भाव, स्वभाव है। भाव नाम सत्ता का है। इस विचार से भी स्व की सत्ता ही सत्व नाम से सिद्ध होती है। निष्कर्ष यह है कि सत्व के बिना रस की स्वरूप सिद्धि ही नहीं हो सकती। पहले सत्ता हो जाने के अनन्तर ही वहां कुछ अन्य सम्भावित होता है। रस की स्वरूपसिद्धि हो जाने पर ही उस में बल का सम्बन्ध भी सम्भव होता है और बल के द्वारा तब ही रस की भोग साधना भी बन सकती है। निज की सत्ता ही यदि नहीं होवे तो अन्य से सम्बन्ध कैसे होवे ? और भोगभाव भी कैसे बने ? बिना भोग के आनन्द की अनुभूति भी कैसे होवे? अतः आनन्द में भी हेतु सत्व ही होता है। सत्व के बिना भान भी कैसे होवे ? भान जो ज्योतिपद से विज्ञान रूप कहा गया है—वह भी सत्व के ही अधीन है। इस प्रकार सत्व की रस से अभिन्नता ही सिद्ध होती है यह 'ज्योतिर्मय' आदि कहे जाने वाले तीन श्लोकों का आशय है।

सतो हि सत्त्वं तदिदं त्रयं मतं सत्ता च विज्ञानमथो सुखं च यत्।
शक्तिर्मता शक्तिमतो रसस्यसेतीत्थं ततः सत्त्वमभिन्नवद्रसे ॥७॥

सत्त्वं हि तस्य प्रकृतिः सतो मता सत्वोपनीता द्विसतोऽस्य भक्तयः।
सतः स्वभावोऽस्य विनाऽमुना रसः किं स्यात्किमुच्येत न भात्यलक्षणः ॥८॥

[1]अथाशनाया तु ततोऽतिरिच्यते तदन्वयेन व्यतिरेकतोऽपि वा।
रसे तु भावोऽस्ति विपर्ययः क्वचित् ततोऽन्यदन्यत्वमनित्यमुद्भवेत् ॥९॥

[2]तदित्थमुक्थं त्रयमेतदुक्तं ब्रह्मास्य शक्तिश्च गुणोऽशनाया।
शक्तिस्तु नित्यैव गुणस्तु दोषोऽत्रागन्तुको न्यार्थतयास्ति नास्ति ॥१०॥

[3]तद् ब्रह्म निर्भागमखण्डमक्रियं निर्विक्रियं व्यापकमेकमिष्यते।
सत्त्वं सभागं त्रिविधं च सक्रियं विकुर्वदङ्गप्रतिमं बहुक्रमम् ॥११॥

सत् को ही सत्व कहते हैं, उस से ही सत्ता, चेतना तथा आनन्द ये तीनों सम्मान्य होते हैं। शक्तिमान् रस की ही शक्ति मानी जाती है—वह रस में अभिन्न के समान रहती है। इस से सत्व रस रूप ही माना जाता है ॥७॥

स्वयं सत् रूप ही रस की प्रकृति सत्व नाम से मानी गई है, एक रस की सत्ता और एक बल की सत्व रूप सत्ता, इन दो सत् भावों के मिश्रण से ही रस के विभिन्न रूप बनते हैं। नित्य सत् का निज का भाव–स्वभाव ही सत्व होता है, इस के बिना रस की पहचान ही कैसे होवे ? रस को कहा भी किस नाम से जावे ? जिसका कोई लक्षण ही न होवे उसका ज्ञान भी नहीं हो पाता है ।।८।।

रस की तो नित्य सत्ता रहती है किन्तु द्विसत् रूप से पूर्व कहा गया बल रूप-सत्व-इच्छा जिसका अशनाया नाम से पूर्व विवरण हुवा है—वह रस स्वभाव से सर्वथा विपरीत है—अनित्य है कभी उसका सम्बन्ध रस से होता है, कभी नहीं भी होता। जब सम्बन्ध हो जाता है तब तो भाव सत्ता बन जाती है, न बनने पर विलीनता होकर अभाव रहता है—बल का। यह जो दो विपरीत स्वभावी तत्वों का संयोग होता है—उसमें अनित्य स्वभावी बल की प्रधानता के कारण एक अन्य अनित्य का हो उद्भव हो जाता है, सर्जन में सर्वत्र यह ही देखा जाता है ।।९।।

१. पूर्व कथनानुसार शक्ति और शक्तिमान् की अभेद रूप एकरूपता सिद्ध होती हैं। अशनाया ना म से कहे गए इच्छा आदि तो गुण हैं। गुणी आत्मा से गुण तो भिन्न होते हैं यह बात अन्वय-व्यतिरेक न्याय से सिद्ध होती है, जैसा कि गुणी अमृत स्वरूप आत्मा से कभी बल संयोग होकर वहां इच्छा आदि गुणों का प्रादुर्भाव होना—यह 'अन्वय कहलाता है और कभी गुणी की सत्ता रहने पर भी इच्छा आदि गुणों का नहीं होना, 'व्यतिरेक' है। यदि गुण-गुणी से सर्वथा अभिन्न होवें तो गुणी आत्मा कीं सत्ता होते हुवे भी कभी जो इच्छाओं का नहीं होना ऐसी जो प्रत्यक्ष अनुभवगम्य अवस्था होती हैं उन की घटना कैसे सम्भव हो सकेगी। इस कारण यह ही मानना उचित है कि गुणीआत्मा की स्वभाव-नित्यता होने पर भी अशनायादि बल अनित्य ही हैं और वह अनित्यता ही भेदभाव की सम्पादक है।

इस प्रकार सृष्टि के मूल उक्थ तीन माने गए हैं—ब्रह्म, शक्ति और अशनाया रूप गुण। इन में शक्ति तो शक्तिमान् के समान नित्य स्वरूपा है। अशनाया नाम का गुण पीछे अनित्य भाव में वहां आगन्तुक (बाहरी) होता है, वह मूल तत्व से भिन्न है। वह पदार्थ रूप में कभी तो सत्ताभाव में आता है, कभी नहीं आता ।।१०।।

२. उक्त विवरण से उक्थ अर्थात् जगत के मूल तीन सिद्ध होते हैं। रस, शक्ति और अशनाया। उनमें शक्ति रस में अभिन्न रूप से नित्य सत्ता रूप है। अशनाया का उद्भव तो कभी-कभी होता है अतः वह अनित्य है। अनित्यता रूप में रस-शक्ति से वह सर्वथा भिन्न है बाहर से आने वाला आगन्तुक रूप है। भिन्न होने से ही उस की आगन्तुकता सिद्ध है। वह अशनाया अस्ति, नास्ति रूपा है। कभी उसका उद्भव होता है कभी नहीं होता।

सत्व शक्ति को नित्य रस से आपाततः यद्यपि अभिन्न कहा है, तथापि वास्तविक विचार में वह रस से भिन्न ही होती है। सिद्धान्ततः शक्ति के लक्षण रस से सर्वथा भिन्न हैं। रसरूप में देश विभाग नहीं है, शक्ति देश विभाग रूपा है, रस अखण्ड है तो शक्ति सावयव है, रस में कोई क्रिया नहीं होती परन्तु शक्ति क्रियामयी है, रस विकार शून्य है तो शक्ति

विकारमयी है, रस सर्वत्र व्यापक एकरूप है किन्तु शक्ति नाना रूपों में विभक्त सीमित अनेक रूपा है। इस तरह सत्व रूप शक्ति के विभाग हैं, उसके सत्व-रज-तम ये तीन रूप हैं, वह सक्रिय होती हुई विकार रूपा है अतएव शक्ति नाना रूपिणी है। अतः लक्षण भेद से वह रस से भिन्न ही है ॥११॥

३. इस प्रकार अब तक शक्ति की रस से अभिन्नता का प्रतिपादन किया गया। अब शक्ति की भी रस में भिन्नता कही जा रही है। श्लोक के पूर्वार्द्ध में पहले अनेकबार कहे गए रस रूप ब्रह्म के तटस्थ लक्षण बताये गए हैं। एतद् रूप ब्रह्म में आगन्तुक गुणों की नित्य सम्भावना कैसे हो सकती है? जिस ब्रह्म में विभाग, कर्म, क्रिया तथा विकार नहीं हैं, उस में गुणों का स्थितिभाव उपपन्न नहीं हो सकता। इच्छा आदि गुणों का उद्भव कभी होता है, कभी नहीं होता इस प्रकार यह बाहरी आगन्तुक विकार है, वह निर्विकार ब्रह्म में कैसे रह सकता है। गुणभाव का कभी-कभी होना ही उसकी विकार रूपता को सिद्ध करता है। क्रिया रूप व्यापार के बिना रस में बाहरी आगन्तुक की उत्पत्ति भी कैसे हो सकती है और क्रिया भाव मानने पर रस की अक्रियता का विरोध होता है। जिस रस में व्यापकता के कारण कोई देश विभाग नहीं होवे, वहां किसी बाहरी पदार्थ की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं होती। इन सब अनुपपत्तियों के कारण गुणों का आधार रस को न मानकर शक्ति ही गुणों की आधार होती है यह ही मानना होगा। शक्ति को भी यदि ब्रह्म के समान निष्क्रिय, निर्विकार तथा व्यापक मान लिया जाय तो ब्रह्म के समान शक्ति में भी गुणों का प्रादुर्भाव होना सम्भव नहीं हो सकेगा। अतः शक्ति के धर्म रस से विपरीत मानने पड़ेंगे। यदि शक्ति विपरीत धर्मिणी है तो दो विरुद्ध धर्मियों की एकता कैसे हो सकती है? इस प्रश्न के निवारणार्थ शक्ति और शक्तिमान् में भेद और अभेद दोनों मानने होंगे। शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न है, इस रूप में अभेद है और विपरीत धर्मिणी होने से भेद भी है। सांख्यवादी भेद और अभेद ही मानते हैं। वेदान्त की प्रक्रिया में तो भेद और अभेद दोनों एक में होना सम्भव न मानते हुए अनिर्वचनीयता मानी जाती है। जो कुछ भी हो विरुद्ध धर्म तो दोनों के मानने ही होंगे, अन्यथा शक्तिभाव की कल्पना ही निष्प्रयोजन हो जायगी। शक्ति के विरुद्ध धर्म, श्लोक के उत्तरार्द्ध में बताये गए हैं। समागम् कहकर सत्व-रज-तम ये शक्ति के तीन अवयव बताए गये—इस से अखण्डता का विरोध हुवा। विकुर्वदङ्गप्रतिमम्—अर्थात् शक्ति का स्वरूप विकारमय होता है—शक्ति के अवयवभूत गुण प्रत्येक परिवर्तनशील होते हैं यह भाव है। इस से रस की निर्विकारता का विरोध कहा गया।

[1]अथाशनाया क्षणिको स्वलक्षणा दुःखं च शून्यं च निरुच्यते क्रिया।
क्रिया तु सत्त्वे तदु सत्त्वमस्मिन् ब्रह्मण्यमीभिः सकलं जगद्भवेत् ॥१२॥

ब्रह्मैव सर्वस्य मता प्रतिष्ठा शक्तिर्हि यत्र प्रतितिष्ठतीयम्।
स्याच्छक्तिरस्य प्रकृतिश्च नानाभावैर्विपर्येत्यशनायया सा ॥१३॥

[2]ब्रह्मातिरेकेण न शक्तिरेषोदियाद्विलीयेत समानरूपा।
आकस्मिकी चेदसती कथं सा शक्येत चोत्पादयितुं प्रयत्नात् ॥१४॥

खे[3] वायुवद्व्यक्तिमसावुपेयादव्यक्तभूताऽपि रसे सतीयम् ।
प्रतिक्षणान्यासु न चैकता स्यान्न चेद् ध्रुवं ब्रह्म तदाश्रयः स्यात् ।।१५।।

[4]सत्वातिरेकेण च निष्क्रियत्वात् क्रियाशनाया न रसे क्रमेत् ।
नित्याचले तत्र विकुण्ठिताया न स्यात्क्रियायाः प्रसरो विसृष्टौ ।।१६।।

अशनाया नाम से कही गई इच्छा शक्ति के स्वाभाविक धर्म—अशनाया नित्य स्वरूपा नहीं है, वह क्षणिकी—कुछ काल तक ही एकरूप में रहने वाली परिवर्तनशीला है। अशनाया स्वलक्षण है अर्थात् इच्छा का निज रूप ही इच्छा का लक्षण है। इस अशनाया को मानसी क्रिया कहा जा सकता है। आगे का स्थूल क्रिया भाव भी अशनाया रूप ही होता है। दुःख तथा विवेक शून्यता क्रिया भाव में ही होते हैं। वह क्रिया सत्व (सत्ता) पर अवलम्बित होती है और सत्ता रसमय ब्रह्म पर अवलम्बित रहती है, इस प्रकार ब्रह्म, सत्वमयी शक्ति और अशनाया इस त्रिपुटी से ही सारे जगत् की उत्पत्ति होती है ।।१२।।

१. गुण रूप में कही गई तीसरी अशनाया के स्वरूप भूत धर्म कहे जाते हैं—अशनाया का स्वयं का भाव ही उसकी पहचान है अतः अशनाया 'स्वलक्षण' है। दूसरी जगह उसका लक्षण नहीं मिलता, अर्थात् विभिन्न इच्छाओं का परस्पर सादृश्य भाव नहीं होता है। वह इच्छारूपिणी अशनाया क्रिया नाम से भी कही जाती है। वह मानसी क्रिया है, उस से शरीर में चेष्टा रूप क्रिया को उत्पन्न किया जाता है। वह क्रियारूप अशनाया सत्वरूप शक्ति का आधार पाती है। शक्ति का आधार ब्रह्म होता है। इन तीन मूल तत्वों से जगत् उत्पन्न होता है, यह तात्पर्य है। इस अशनाया से ही शक्ति में परिणाम (परिवर्तन) होता है। इच्छा के द्वारा शक्ति में परिणाम उत्पन्न होता है यह आगे पद्य में कहा गया है।

ब्रह्म ही सब का मूलाधार प्रतिष्ठा रूप माना गया है, बलरूपा शक्ति जिस ब्रह्म में प्रतिष्ठा पा रही है। शक्ति का मूल रूप तो रसमय ब्रह्म की प्रकृति माना गया है, उस शक्ति का अशनाया नाम का परिणत रूप नाना भावों में परिवर्तित होता रहता है। अर्थात् प्रति क्षण होने वाले जगत् के परिवर्तन का मूल इच्छा रूप अशनाया शक्ति होती है ।।१३।।

ज्योतिर्मय ब्रह्म के बिना इस शक्ति का कहाँ तो उदय होवे और किसमें इसकी विलीनता होवे, विलीन होने के अनन्त पुनः समान भाव में प्रादुर्भाव भी इसका कहां हो पावेगा। यदि मूल शक्ति को भी अशनाया के समान उत्पत्ति विनाशशीला माना जावे तो असत् रूपा वह शक्ति किसके प्रयत्न से उत्पन्न की जा सकती है। ब्रह्म में तो कोई प्रयत्न होता नहीं है ।।१४।।

२. सृष्टि की कारणता रूप में, नित्य ब्रह्म तथा नित्या शक्ति एवं अनित्या अशनाया, इन तीनों का सहकार मानना आवश्यक है, यह प्रतिपादन कर रहे हैं। आधार भूत ब्रह्म यदि नहीं होवे तो शक्ति का प्रादुर्भाव किसमें होवे? किसमें शक्ति का टिकाव होवे? और इसकी विलीनता भी कहां होवे? समान रूप में फिर इसका प्रादुर्भाव भी कहां होवे? यदि इस शक्ति को भी अशनाया के समान अकस्मात् बाहर से आने वाली माना जावे, तो पहले जिसका असत् रूप अभाव हो गया होवे, उसका पुनः उत्पादन प्रयत्न के बिना कैसे सम्भव हो सकता है। किसी

भी अनित्य पदार्थ की उत्पत्ति चेतना के प्रयत्न बिना नहीं देखी जाती, और निर्विकार एवं निर्गुण ब्रह्म में प्रयत्न का होना सम्भव हो नहीं सकता। नित्या शक्ति का साहचर्य होने पर ही प्रयत्न हुवा करता है।

एकमात्र शक्ति जगत् की रचना कर देने में समर्थ नहीं हो सकती—उसे रस के आधार की परम आवश्यकता रहती है, यह कह रहे हैं—शक्ति तो शून्य आकाश में वायु के समान कभी अभिव्यक्त होती है, कभी रस में विलीन होकर सत्ता पाती हुई भी अव्यक्त ही रहती है—सृष्टि भाव में नहीं आती, इन परस्पर विरोधी भावों का एक ध्रुव अमृतमय ब्रह्म आधार न बने तो प्रवाह सत्य रूप इस दृश्यमान जगत् का अस्तित्व ही न बने, क्योंकि शक्ति तो प्रतिक्षण अन्यान्य भावों में बदलती रहती है—उसमें एकता कैसे संभव हो सकती है ॥१५॥

३. पूर्वोक्त सृष्टि भाव की अनिश्चयता के कारण यह ही मानना पड़ता है कि, जैसे आकाश में वायु सदा वर्तमान रहता है। कभी वह अप्रकट रहता है, कभी व्यक्त (प्रकट) भाव में अनुभूत होता है। इस ही प्रकार रस में शक्ति कभी अव्यक्त रूप में प्रसुप्त रहती है, कभी प्रकट होकर जगत् का उत्पादन आदि कार्य करती है। इस प्रक्रिया से वह शक्ति जिसका आधार पाकर शयन करती है तथा जहां जागती है—वह उस शक्ति का आधार ब्रह्म नाम से कहा जाने वाला अवश्य मानना पड़ेगा। यदि कोई कहे कि एक शक्ति रूप को ही सब कुछ उत्पन्न करने वाली मानिये, ब्रह्म को मानने की क्या आवश्यकता है? उसका उत्तर दिया है कि शक्ति जो प्रतिक्षण अन्यान्य भावों में बदलती हुई स्पष्ट दिखाई देती है—कभी वो उत्पन्न करती है, कभी विनाश कर देती है। कभी आकाश में मेघ घटा का उद्भव होता है, कभी मेघ विलीन हो जाते हैं। इससे यह ही जाना जाता है कि कभी तो मेघों को उत्पन्न करने वाली शक्ति जागृति होती है, किन्तु जब मेघों का उद्भव नहीं होता—तब वह शक्ति प्रसुप्त रहती है। कभी गहन घटाओं को विलयन करने वाली शक्ति जाग पड़ती है, इस तरह के परस्पर विरूद्ध धर्म एक शक्ति में कैसे रह सकते हैं? और जो शक्ति प्रतिक्षण परिवर्तन स्वभाव वाली है, वह स्थिरता कैसे पा सकती है यदि उसका एक ध्रुव आधार न होवे। इसलिए माया शक्ति का आधार ब्रह्म ध्रुव रूप में अवश्य स्वीकार करना चाहिये।

केवल ब्रह्म से भी सहकारिणी शक्ति के बिना सृष्टि नहीं हो सकती क्योंकि रस-भाव का अतिरेक हो जाने पर अर्थात् प्रधानता हो जाने पर सत्व की प्रधानता होती है, वहाँ रस की निष्क्रियता के कारण, अशनाया तथा उससे उत्पन्न होने वाली क्रिया का रस में संक्रमण ही नहीं होवेगा। वह सत्वमयी शक्ति उस अचल ब्रह्म में जाकर कुण्ठित गति हो जायगी तब विकारमयी इस सृष्टि की संपादना के लिए कर्म का प्रसार नहीं होगा ॥१६॥

४. यदि शक्ति की सत्ता न मानी जावे, तो क्रिया शून्य नित्य अचल ब्रह्म में इच्छा आदि गुणों का प्रादुर्भाव ही कैसे हो सकता है। इसकी विस्तार से व्याख्या पूर्व की जा चुकी है।

[१]शक्त्या कदाचित्क्रियते विसृष्टिः कदाचिदेषा भवतीह सुप्ता।
सोऽयं विशेषो न भवेत्प्रतीतः क्रिया तृतीया यदि नात्र हेतुः ॥१७॥

[२]तस्मादवश्यं त्रितयं तदुक्थं पृथक् प्रतीयादिति केचिदाहुः ।
ब्रह्मे दमन्यत् किल शक्तिरन्या दोषस्ततोऽन्यो विकृतस्वरूपः ।।१८।।

ब्रह्मास्ति नित्यध्रुवमत्र सत्त्वं नित्यं क्रिया त्वत्र भवेदनित्या ।
आगन्तुकी तेन मतः स दोषः स एव [३]सत्वावरणात्तमः स्यात् ।।१९।।

ब्रह्मै तदस्त्यायतनं च शक्तिर्बीजं क्रिया त्वत्र निमित्तमात्रम् ।
[४]स्थानावगाही परिणाम उक्तशक्त्या क्रियासंघनियोजितायाः ।।२०।।

द्वे ब्रह्मशक्ती भवतस्तु विद्ये क्रिया त्वविद्या प्रथिताशनाया ।
द्वे कर्मणी शक्तिरथाशनाया ब्रह्मत्वकर्मेति[१] सधर्मतोक्ता ।।२१।।

नित्य ब्रह्म तथा नित्या शक्ति के अतिरिक्त विनाशशील क्रिया भाव भी सृष्टि प्रक्रिया में आवश्यक होता है, क्योंकि नित्यभाव में कदाचित् भाव नहीं आ सकता। अभी कहा गया है कि शक्ति कभी तो प्रसुप्त हो जाती है कभी जागकर सृष्टि कार्य करती है। यह विशेषता तब तक प्रतीति में नहीं आ सकती जब तक कि विनाशशीला क्रिया इसमें हेतु न बने—अतः तीसरी अशनाया जनिता क्रिया भी सृष्टि संपादन में हेतु बनती है ।।१७।।

१. अशनाया नाम की क्रिया को मूल कारण रूप क्यों माना जावे ? इसका उत्तर देते हैं कि शक्ति का कार्य प्रत्येक पदार्थ का उत्पादन अथवा सारे जगत् का उत्पादन माना जाता है, वह कभी होता है, कभी नहीं होता। इससे शक्ति कभी प्रसुप्त रहती है, कभी प्रबुद्ध रहती है यह मानना पड़ता है। ये शयन और जागरण आगन्तुक क्रिया के बिना कैसे सम्भव हो सकते हैं। शयन और जागरण दोनों क्रिया ही तो हैं। अतः तीसरी क्रिया भी सृष्टि में कारण माननी ही चाहिये।

उक्त हेतु वश तीनों को पृथक् भाव में उक्थ (मूल कारण) रूप से मानना चाहिए, ऐसा कुछ विद्वानों ने कहा है। उनके कथनानुसार ब्रह्मभान अलग है, शक्तिभान भी अलग है और विकारमय दोषरूपा क्रिया अलग है ।।१८।।

२. दोनों पद्यों में पूर्व कथन का उपसंहार किया गया है।

ब्रह्म नित्य है, सत्वरूपा शक्ति भी नित्य है, तीसरी क्रिया बाहरी आगन्तुक होती है। अतः उसे दोष रूप ही माना गया है—वह रजोगुण रूपा है, वह रजोमयी क्रिया जब सत्व का आवरण कर लेती है, तब वह तमरूप हो जाती है ।।१९।।

३. उक्त विमर्षना से यह कहा गया कि—ब्रह्म-शक्ति-क्रिया इस त्रिक में ब्रह्म के साक्षात् आधार से स्थिति पाई हुई शक्ति सत्वपद से कहीं जाती है, क्रिया रजोगुण रूप से कही जाती है। वह ही ही क्रिया जब सत्वरूपा शक्ति को ढक लेती है तो तम नाम से भी वह ही कही जाती है। इस तरह रज—और तम एक क्रिया के ही कार्य भेद हो जाने से दो भेद हैं। एक रूप सर्जन कार्य में शक्ति का सहकारी बनता है, दूसरा शक्ति का आवरण कर लेता है।

सर्जन भाव की प्रक्रिया—सारे इस विश्व का ब्रह्म आधार भूमि रूप आयतन है, शक्ति बीज रूपिणी है, अनेक क्रियाओं की समुदायगत योजनाओं से युक्त होकर वह शक्ति-बीज रूपभाव में तथा स्पर्शभाव में आ जाता है। अर्थात् रस संवलिता शक्ति के नाना

क्रियाओं के सहयोग का परिणाम रूप फल अब प्रदेश घेरने वाला बन गया—जो जगत् कहलाने लगा। इसमें क्रिया तो निमित्त मात्र होती है ॥२०॥

४. श्लोक के उत्तरार्द्ध में यह कहा जा रहा है कि—यह जो जल, धरती आदि रूप में प्रत्यक्ष दिखाई देने वाला—स्थान का अवरोधक रूप, स्पर्श वाला जगत् रूप भासित हो रहा है, वह क्रिया समूह के द्वारा नियोजित की गई शक्ति का ही परिणाम है। क्रिया रजोगुणमयी खण्ड, खण्ड रूप में अनन्त होती हैं, उनके द्वारा शक्ति को कार्य संपादनार्थ प्रेरणा मिलती है। शक्ति में परिवर्तन आता है, तब ही शक्ति का भूत-भौतिक रूप सामने आता है—वह ही जगत् रूप शक्ति का परिणाम है।

उपरोक्तत्रिक में ब्रह्म और शक्ति विद्या रूप हैं और अशनाया द्वारा प्रकाश में आने वाली क्रिया अविद्या रूप है। शक्ति और इच्छा रूपिणी अशनाया ये दोनों कर्म रूप हैं। ब्रह्म तो स्वयं अकर्म है। शक्ति और ब्रह्म में विद्या रूप से समान धर्मता होती है ॥२१॥

५. दो दो की समान धर्मता—एक धर्म की आश्रयता रूप समानता पहले वाक्यों से कही गई। ब्रह्म और शक्ति की विद्या स्वरूप से समानता है, क्रिया तो अविद्या (अज्ञान) रूपा है, इस तरह क्रिया से उन दोनों की विरुद्ध धर्मता होती है। शक्ति और क्रिया में कर्मभाव से समानता है। शक्ति भी परिणाम रूपा होने से कर्मरूप अर्थात् बलरूप ही होती है। क्रिया भी बल से ही उत्पन्न होती है अतः कारण रूप का अतिक्रमण उसमें भी नहीं है। ब्रह्म तो अकर्म होने से क्रिया के विरुद्ध है अतः ब्रह्म की अपेक्षा शक्ति और क्रिया इन दोनों में विरुद्ध धर्मता रहती है। शक्ति में विद्यारूपता से ब्रह्म की समानता होती है और परिणामिता से क्रिया की समानता होती है. यह तात्पर्य है। आगमशास्त्र की द्वैतप्रक्रिया में शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन पदार्थ माने जाते हैं। उनमें शिव और शक्ति चेतना रूप हैं, बिन्दु अचेतन रूप है, उसही प्रक्रिया से यहां शक्ति को भी विद्यारूपता कही गई है। इन अधिकरण में आगम दर्शन का ही अनुसरण किया गया है। इस प्रकार शक्ति रूप होने से सत्व की प्रधानता सिद्ध हो जाती है। रजोगुण और तमोगुण तो आगन्तुक होने से दोष रूप होते हैं—अतः वे गौण माने गए हैं। वेद विज्ञान की प्रक्रिया का अनुसरण करने वाले इस ग्रन्थ में कहे गये सिद्धान्त में कहे गये वेद और स्मृतिवचनों के प्रमाण तो अशनाया विशिष्ट रस के बोधक हैं, अन्यान्य युक्तियां भी अशनाया में ही संगत होती हैं। उपरोक्त सारे मत वेद की प्रक्रिया से विरुद्ध होने से सांख्याभास रूप कहे गये हैं।

(३८) रजः प्राधान्याधिकरणम्

अथो [१]रजः शक्तिरमुष्य नित्या सत्त्वं तमश्चेति रजोविवर्तौ।
घोरस्वरूपाद्रजसो विवेको विमोक इत्यस्ति मतं परेषाम् ॥२२॥

[२]यः संचरो वा प्रतिसंचरो वा संकोचरूपोऽथ विकाशरूपः।
प्रवृत्तिकर्माथ निवृत्तिकर्म प्रवाह एष द्विविधः स घोरः ॥२३॥

[३]प्रवाहयोरस्ति तयोस्तु या या काष्ठा परा तत्र गतेर्विरामः।
तत्रैव संकोचविकाशयोः स्यादात्यन्तिकत्वेन तमश्च सत्त्वम् ॥२४॥

प्रवृत्तिधारा चरमस्थितौ स्यात् क्षोभे रसस्यावरणं प्रकर्षात् ।
निवृत्तिधाराचरमस्थितौ स्याच्छमप्रकर्षादयते विकाशः ॥२५॥

सत्त्वं यथा कर्मनिवृत्तिकाष्ठा प्रवृत्तिकाष्ठा च तथा तमः स्यात् ।
या[२] काष्ठयोरन्तरतस्तु वृत्तिः स्यात्तद्रजश्चेति मतं तृतीयम् ॥२६॥

(३६) अपरं रजःप्राधान्याधिकरणम्

[१]अथो रजः शक्तिरमुष्य पूर्वा सत्त्वं तमश्चेति रजोविवर्ते ।
रजः क्रिया सा जनयत्यपूर्वं किट्टं प्रसादं च ततो व्यपैति ॥२७॥

कुछ आचार्यों के मत में ब्रह्म की रज रूपा शक्ति ही प्रधानतया नित्याशक्ति है, सत्व और तम रज के विवर्त हैं—अतात्विक अन्यथा भाव रूप हैं। ये रजोगुणमयी शक्ति घोर स्वरूपा अर्थात् विकराल रूपा है। इससे जीवात्मा का विवेक—पृथक्करण ही विमोक अर्थात् मोक्ष है ॥२२॥

१. रजोगुण की प्रधानता मानने वालों का मत बता रहे हैं—क्रिया रूप रज ही मुख्य शक्ति है। शक्ति की क्रिया रूपता की व्याख्या इस ग्रन्थ में अनेक बार हो चुकी है। सत्वगुण और तमोगुण तो रजोगुण के ही विवर्त हैं। अर्थात् अन्य रूप से भासमान हैं उनका अपना स्वातन्त्र्य नहीं है। रज ही—सत्वरूप से तथा तम रूप से प्रतीयमान होता है। यह रजोगुण घोर स्वरूप—अनर्थ उत्पादक है। क्रिया जाल में भटका देता है। विवेकपूर्वक आत्मा का इससे पृथक् करण ही विमोक अर्थात् मोक्ष है।

क्रिया भाव संचर और विकास भाव प्रतिसंचर कहलाता है। संचर को प्रवृति कर्म कहते हैं तथा प्रतिसंचर को निवृत्तिकर्म। यह संचर प्रतिसंचर, संकोच विकास रूप प्रवाह अनन्त होता है, यह प्रवाह पतन ही घोर है। घोर रूप प्रवाह के लिए प्रतिसंचर कर्म का त्याग भी आवश्यक है ॥२३॥

२. रज की घोर रूपता का उपपादन करते हैं। रज नाम क्रिया का है, यह क्रिया संचर-प्रतिसंचर रूप से दो प्रकार की है। ये संचर प्रतिसंचर ही संकोच विकास शब्दों से कहे जाते हैं। इनको ही प्रवृत्तिकर्म और निवृत्तिकर्म कहा जाता है। आत्मा सम्बन्धी संकोच विकास कहे जा रहे हैं। प्रवृत्तिकर्म के द्वारा आत्मा की ज्ञानरूपता संकुचित होती जाती है, अर्थात् अल्पता में ही अहंभाव हो जाता है। निवृत्तिकर्म से विकास अर्थात् स्वस्वरूपभूत आत्मा की और अभिमुख हो जाना। वस्तु विचार से तो ये दोनों ही प्रकार का कर्म आत्मा का आवरक होने के कारण घोर रूप है। प्रवाह रूप बनते ही कर्म आवरण कर लेता है। स्वच्छ कांच भी प्रकाश के वास्तविक रूप का किंचित आवरण कर ही लेता है। अतः इससे भी विवेक रूप पृथक् भाव आवश्यक है।

संचर प्रतिसंचर रूप जो रजोमयी क्रिया के प्रवाह हैं, इन दोनों की जो पराकाष्ठा अन्तिम सीमा है--वहाँ गति का विराम हो जाता है, और एक भाव में स्थिति हो जाती है, अतिसंचर क्रम में संकोचभाव भी अतिवृद्धिता में आ जाता है, और कर्म की ये सीमान्तगति आत्मचैतन्य का आवरण करती हुई तमोगुणमयी हो जाती है—इस तरह रज ही तमभाव में

परिणत हो जाता है। इस ही प्रकार जब प्रतिसंचर रूप निवृत्ति मार्ग की क्रियाओं का प्रवाह सीमान्त गति पर होता है तो फलस्वरूप आत्माभिमुख विकास भी अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है, यह अवस्था ही रजोगुण की सत्व रूप में परिणत हो जाने की है। इस तरह रज ही सत्वरूप अथवा तमरूप हो जाता है। 'मुख्य रजोमय कर्म ही है।' अतः दोनों ही प्रवाह रूपों में विक्षेप की आशंका होने से त्याज्य हैं, प्रवाह पतन अनुचित है ॥२४॥

३. सत्व और तम दो परस्पर विरुद्ध रूपों में रज कैसे परिणत हो जाता है—यह विवरण करते हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप जो दो कर्म हैं, उन दोनों की पराकाष्ठा होती है—वहा गतिभाव में भी विराम सा प्रतीत होने लगता है। बिजली का पंखा अन्तिम गतिक्रम पर यदि चला दिया जाय तो देखने वाले को स्थिरता ही दिखाई देती है—इसलिए गतिमय प्रवृत्ति मार्ग की पराकाष्ठा भी गतिविराम रूपा ही होती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति इन दोनों की सीमान्त गति के साथ साथ संकोच और विकास भावों की भी अति हो जाती है। प्रवृत्ति की पराकाष्ठा में संकोच में भी अति हो जाती है, फलतः स्थूल को ही सर्वस्व मान लिया जाता है, सर्व तो भाव से आत्मा का आवरण हो जाता है। निवृत्ति की पराकाष्ठा में आत्म विकास का अतिभाव अर्थात् आवरण का सर्वथा अभाव। इनमें प्रवृत्ति की सीमान्त गति तम रूपा है। निवृत्ति की पराकाष्ठा सत्व स्थिति है। आगे के पद्य में यह ही स्पष्ट किया है।

कर्म में अत्यन्त आसक्तिरूप प्रवृत्ति धाराप्रवाह की सीमान्त तीव्रता हो जाने पर मन रजोमय होकर सदा संचलायमान, क्षोभ में ही रहता है, अर्थात् वासनायुक्त कर्मजाल में चक्रायमाण रहता है—इस अवस्था में अमृतमय रसतत्व पर सर्वथा आवरण पड़ जाता है—यह प्रवृत्ति के प्रकर्ष पर होता है। इससे विपरीत निवृत्ति मार्ग की सीमान्त कर्म—अभ्यासरूपता से इन्द्रिय वेगों की प्रवृत्ति में शमनभाव की प्रकर्षता (वृद्धि) हो जाती है, फलस्वरूप अमृतमय रस का विकास हो जाता है ॥२५॥

तीसरा मत यह भी है कि—सत्व जैसे निवृत्ति कर्मों की पराकाष्ठा रूप है, वैसे ही प्रवृत्तिमय कर्मों की अन्तिम सीमा तम है, इन दोनों सीमा भावों के मध्य में जो गति तत्व हैं जो दोनों ही भावों में सक्रिय है—वह ही रज का मुख्य रूप है ॥२६॥

४. जिस रजोमयी क्रिया के सीमान्त गति भाव रूप सत्व, और तम कहे गये हैं,—वह रज ही मुख्य है। इस प्रकार भी रजोगुण की ही प्रधानता स्थापित की गई।

अन्य एक मतानुसार ब्रह्म की मुख्य शक्ति रजोरूपा ही है—जो सर्व प्रथम रस से संबद्ध होती है, सत्व और तमरूप, तो रज के ही विवर्त हैं अर्थात् अवास्तविक अन्यथा रूप हैं। रज स्वयं क्रिया स्वभावी है—क्रिया से अपूर्व (नवीनता) का जन्म हो जाता है, वह नवीन क्रिया भाव यदि अति प्राचीन लोहे के जंग खाये हुए मलकिट्ट पर भी किया जाता है—तो किट्ट हट जाता है पदार्थ चमक जाता है, जबकि उस किट्ट की सत्ता भी क्रिया भाव की रुकावट हो जाने पर ही हुई थी, अतः किट्ट का उत्पादन और विनाश दोनों क्रिया को ही आधार बना रहे हैं ॥२७॥

५. अन्य प्रकार से रजोगुण की ही प्रधानता बताते हैं—क्रिया रूप होने से रज शक्ति रूप है यह पहले कहा गया है। वह रजोमयी शक्ति ही सत्व रूप से तथा तम रूप से प्रतीत होने लगती है—इसलिए वे सत्व और तम तो रज के विवर्त रूप ही हैं। परिणाम रूप परिवर्तन भाव में न आता हुआ भी जो अन्य रूप में भासित होने लगे—उसकी विवर्त संज्ञा कही गई है—यह पूर्व भी कहा गया है। एक का अन्य रूप से भास कैसे होता है —यह बताते हैं, कि रज क्रिया का नाम है और क्रिया अपूर्व नया—आवरण रूप किट्ट (जंग), अथवा स्वच्छतामय प्रसाद —प्रकाश इन दोनों को उत्पन्न करती है तब क्रिया स्वयं विलीन होती है। जैसे कि चिरकाल से पड़े हुए लोह आदि में स्थिति रूपा क्रिया ही किट्ट (जंग) पैदा करती है, और उसही जंग खाए लोहे पर जब घर्षण क्रिया सतत प्रवाहित होती है—तब प्रसाद का विकास हो जाता है। सर्वत्र ही मलोत्पत्ति तथा मल समाप्ति का विवेक इस ही प्रकार करना उचित है।

मलं हि किट्टं [1]सरसः प्रसादः स्थूलं मलं सूक्ष्मगतिः प्रसादः।
मलेन तत्राव्रियते रसोऽसौ स्वं रूपमायाति रसः प्रसादात् ॥२८॥

[2]यतो रसे किंचिदपूर्वरूपं रसाद्विरुद्धं ध्रियते मले तत्।
मलस्य तस्यैव यथा यथा स्यादस्मिन्समुच्छित्तिरसौ प्रसादः ॥२९॥

[3]मलं हि तत्रावरकं तमः स्यात् सतः प्रसादं कथयन्ति सत्त्वम्।
भवत्युदर्कद्वयमत्र कुर्वद्रूपात् तृतीयात् तदिदं रजः स्यात् ॥३०॥

[4]सर्वं हि सत्यं तदु सच्च यच्च स्थितं हि सत् स्याद् गतिमत्तु यत् स्यात्।
यत्त्वेकरूपं गतिमत् तदुक्तं सदन्यदात्मेति मतं तुरीयम् ॥३१॥

(४०) तमः प्राधान्याधिकरणम्

[5]अथो तमः शक्तिरमुष्य नित्या सत्त्वं रजश्चेति तमोविवर्तौ।
सर्वं यदव्यक्तमिदं तदादावव्यक्तमव्यक्तमथान्ततः स्यात् ॥३२॥

मल सर्वत्र किट्टरूप होता है और प्रसाद (प्रकाश) रस के साथ होता है, मल स्थूल होता है, प्रसाद सूक्ष्म गति वाला होता है। मल के द्वारा रस का आवरण हो जाता है और प्रसाद रूप निर्मलता होने पर रस अपने रूप में प्रकाशित हो जाता है ॥२८॥

१. प्रसाद सरस है—रस के साथ रहता है, अर्थात् भीतर रहने वाले अन्तर्निगूढ रस को प्रकाशित करता है, जैसे भीतर रखे हुवे दीपक को स्वच्छ दर्पण प्रकाशित करता है।

रस में रसभाव के विरुद्ध जिस क्रिया द्वारा कुछ अपूर्व (नवीन) स्थापित कर दिया जाता है- वह मल होता है, उस मल से आवरण करने वाली अपूर्वता होती है। फिर भिन्न क्रिया द्वारा उस मल का जैसे-जैसे उच्छेद होता है तब रस का प्रकाश हो जाता है, यह ही प्रसाद कहा जाता है ॥२९॥

२. मल और प्रसाद का स्वरूप विवरण। शुद्ध रस में जो कुछ नया अपूर्व रख दिया जाता है—वह मल कहा जाता है। उस मल का निराकरण ही प्रसाद होता है।

रस में आवरण करने वाला मल ही तम होता है, सत् का अर्थात् रस का प्रसाद (प्रकाश) ही सत्वरूप कहा जाता है, तीसरे क्रियारूप के जो सत्व और तम उदर्क (फल) रूप होते हैं, वह क्रियाभाव रजरूप होता है ।।३०।।

३. आवरण कारक होने से तमोगुण को मल कहा जाता है। सत्व तो प्रसाद रूप है, तमरूप मल का निवारक होने से और सत् रूप रस का प्रकाशक होने से, उसे सत्व कहा जाता है। सत् रूप रस को प्रकाशित करके स्वयं उस सत्रूप का ही अनुभव करता है अतः सत् के धर्मभाव से वह भी सत्व नाम से कहा जाता है। इन दोनों फलों को जो उत्पन्न करता है, वह तीसरा रज ही इन दोनों का जनक होने से मुख्य होता है।

संसार के सारे पदार्थ सत्य नाम से कहे जाते हैं। सत्य शब्द सत् और यत् ये दो अंश हैं। स्थिति भाव को सत् कहते हैं और गतिशीलता को यत् कहा जाता है। प्रवाहरूप में जो एकरूप होता है वह सदा परिवर्तनशील होने से गतिमान् कहा जाता है। मूल नित्य सत् रूप जो आत्मा है वह तो इन तीनों गुणों से भिन्न होता है। यह चतुर्थ मत है ॥३१॥

४. उत्पन्न होने वाले सब पदार्थ सत् नाम से कहे जाते हैं। सत्य शब्द में दो विभाग हैं—सत् और य इस रूप में। इनमें सत् इस पद से सत्ताबोधक स्थिति भाव कहा जाता है, गति अर्थ वाले या धातु से बने हुवे य इस पद से गति का बोध होता है। इस तरह सर्वत्र जो सत्य पद का प्रयोग किया जाता है। उससे सिद्ध होता है कि सारे पदार्थ गति-स्थिति स्वभावी होते हैं। ये गति स्थिति शीलता सबके लिये त्रासमयी भयानक होती है। एक ही पदार्थ में दोनों विरुद्ध भाव कैसे रहते हैं—यह बताते हैं कि प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने से दृश्यमान सब पदार्थ गतिमान् कहे जाते हैं और परिवर्तनभाव में भी यह पदार्थ पूर्व दृष्ट ही है इस प्रत्यभिज्ञा रूप ज्ञान के होने से पदार्थ स्थितिमान भी माने जाते हैं। जिसमें कभी परिवर्तन नहीं होता—वह आत्मा तो नित्य 'सत्' ही कहा जाता है, उसमें गति नहीं होती। वह गति स्थिति दोनों से अतिरिक्त होता है अतएव गुणों से पृथक् कहा जाता है। गति अवस्था रहते हुवे, गतिभाव की रुकावट को स्थिति कहा जाता है, किन्तु जिसमें कभी भी परिवर्तन रूप गति की संभावना ही नहीं होती वह स्थितिशील से भी विलक्षण ही होता है। इस विवेचना से गतिभाव की सर्वत्र व्यापकता दिखाई गई, अतः उस गति के कारणभूत रजोगुण की प्रधानता अन्य प्रकार से सूचित कर दी गई। इस ग्रन्थ में तो इसकी व्याख्या बल रूप से ही की गई है—अतः विज्ञान प्रक्रिया से भेद होने से इस मत को भी वास्तविक सांख्य न मानकर सांख्याभास ही कहा गया है।

तमोगुण को प्रधान मानने वालों के मतानुसार ब्रह्म की नित्या शक्ति तमरूपा है, सत्व और रज, तम के विवर्त हैं। "आवरणात्मक तम अन्धकार के समान होता है, तम-भाव में सब कुछ अव्यक्त अस्पष्ट रूप से अदृश्यमान रहता है।" सृष्टि से पहले यह जगत् अव्यक्त ही रहता है और जीवनकाल की समाप्ति हो जाने पर भी अव्यक्त भाव में ही चला जाता है। इस प्रकार सबसे आदि और सर्वान्त तमरूप ही होता है। मध्य की रज और सत्व अवस्था तम की विवर्त रूप ही होती हैं ॥३२॥

५. तम की प्रधानता मानने वालों का मत बता रहे हैं—तम ही मुख्य शक्ति है, रज और सत्व उसके विवर्त रूप हैं। उसमें कारण कहा कि—सारा जगत् सृष्टि से पहले अव्यक्त रहता है, मध्य जीवन काल में व्यक्त (प्रकट) होता है, अन्त में फिर अव्यक्त ही हो जाता है। भगवद्गीता में भगवान् का भी यह ही कथन हुवा है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत !
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना। (अ० २)

"आदिभाव जिसका अज्ञात और अन्त भी अज्ञात, मध्य में आभास मात्र से दृश्यमानता, ऐसी वास्तविक स्थिति में शोक का स्थान ही कहां है ? तीनों गुणों में अव्यक्तभाव तम का ही है। क्रियारूप में रजोगुण प्रकट हो जाता है, सत्व स्वयं प्रकाश रूप होने से व्यक्त रहता ही है। इस तरह मानना होगा कि तम ही आदि में है और अन्त में भी तम ही है अतः मुख्यता तम की ही सिद्ध होती है। सांख्य के सिद्धान्त में भी तम शब्द से मूल प्रकृति का निर्देश होता है, निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य ने "तम आसीत् तमसागूढमग्रे" इस मन्त्र की व्याख्या में कहा है—सांख्यमतावलम्बी तो तम शब्द से तीनों गुणों की प्रधानता करने वाला तम को बताते हैं, वे इस विषय में पारमर्ष सूत्र का प्रमाण देते हैं, वहां उल्लेख है कि—सृष्टि के आदि में निश्चित रूप से तम ही था, उस तमोगुण में सबसे पहले क्षेत्रज्ञ का ही प्रादुर्भाव हुवा था, इत्यादि। प्रकृति ही शक्ति कही जाती है—उस प्रकृति का तम शब्द द्वारा कथन हुवा है—इस कथन से तमोगुण का शक्ति रूप सिद्ध हो जाता है, रज और सत्व उस तम से उत्पन्न होते हैं, ये व्याख्या दो श्लोकों की यहाँ की गई है।

अव्यक्तिरेवास्य तमस्तदेषां परायणं तत् प्रभवो यतश्च।
तस्मात्तमो मूलममुष्य शक्तिस्ततो रजः स्यात् तत एव सत्त्वम् ।।३३।।
[1]नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि।
तम आसीत् तमसागूढमग्रे प्रजापतिः परमेष्ठीदमाह ।।३४।।
मनुस्तथैवाह भृगुस्तथाह शाकायनिः प्राह तथैव मैत्र्याम्।
द्वैपायनोऽप्याह तथैव तस्मात् सिद्धं यदासीत् प्रथमं तमस्तत् ।।३५।।

इस जगत् की अव्यक्ति (अदृश्य अवस्था) ही तमोगुण का रूप है, यह ही सब का आधार है, इससे ही सब का उद्भव होता है। अतः परब्रह्म की मूल शक्ति तमरूप ही है, उससे ही आगे रजोगुण और उससे ही सत्वगुण का उदय होता है। "ब्रह्म चैतन्य के सीमाभाव में आ जाने पर ही सर्जन होता है, सीमाकरण में आवरणकारक तमोगुण की ही प्रधानता होती है ।।३३।।

देवताओं के दशवादों का प्रत्याख्यान करते हुए स्वयं परमेष्ठी-प्रजापति ने निर्णीत वाक्य नासदीय सूक्त में कहा है—सृष्टि की सर्वादि अवस्था में न तो कोई असत नाम से कहा जाने वाला पदार्थ था और नहीं कोई सत् नाम से कहा जाने वाला, उस काल में न तो कोई मृत्यु नाम का तत्व था और न अमृत ही। प्रजापति कहते हैं, उस समय सर्वत्र तम छाया हुआ था, उसमें ही सब गूढ़ (छुपा) पड़ा था ।।३४।।

मनु महाराज ने ऐसा ही कहा है, भृगु का वचन भी ऐसा ही है, शाकायनि यह ही मानते हैं, मैत्रायणीय ब्राह्मण में भी ऐसा ही निर्वचन है, कृष्ण द्वैपायन व्यास भी यही कहते हैं। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध हो गया कि आदि अवस्था में सर्वप्रथम तमोगुण की ही स्थिति थी ॥३५॥

१. पूर्व कथित विषय की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं—सृष्टि का प्रतिपादन करने वाले नासदीय सूक्त में "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" इस कथन द्वारा तमोगुण की ही सर्वादिसत्ता स्पष्ट कही गई है। तम ही मुख्य है, रस का आवरण करने वाला (सीमा भाव में) भी तम ही था। यह ही 'तम आसीत्' आदि मन्त्र के अक्षरों का अर्थ होता है। दूसरे सत्व, रज आदि का सर्वादिकाल में निषेध ही किया गया है। इस सूक्त के ऋषि स्वयं परमेष्ठी मण्डल के प्रजापति हैं, उनका ही वचन यह है, तो इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है। भगवान् मनुमहाराज ने भी प्रथम अध्याय के आरम्भ में सृष्टि का उपक्रम करते हुवे यह ही कहा है—

"आसीदिदं तमो भूतमप्रज्ञानमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः"

आदिकाल में इदं नाम से कहा जाने वाला यह जगत् तमोमय था, जिसका कोई स्वरूप जाना नहीं जा सकता था, सृष्टि को लक्षित करने वाला कोई लक्षण भी नहीं था, किसी भी तर्क से यह गम्य नहीं था, यह वस्तु है कहकर इसका निर्देश भी नहीं किया जा सकता था, उदाहरण देकर उस अवस्था को समझाया मनुमहाराज ने कि अतिगहन निद्रा में जैसे सबकुछ प्रसुप्त पड़ा हो ऐसी अवस्था थी। इस प्रकार मनुजी ने भी अपने वचन में तमो भाव की सबसे प्रथम सत्ता कही है। 'प्रसुप्तमिव' कहकर तम का स्वरूप लक्षण प्रस्वाप भी अन्त में निर्दिष्ट हो गया। मनुस्मृति को मनुमहाराज की आज्ञा से उनके शिष्य भृगु ने ऋषियों को सुनाया है—उनकी भीतमः प्रधान उक्ति स्पष्ट ही है। मैत्रायणीय ब्राह्मण में शाकायनिऋषि की उक्ति है—"तमएवेदमग्रे आसीत् तत्परेस्यात्, परेणेरितं विषयत्वं प्रत्ययात्। तद्वै रजसोरूपम्। तद्रजः खल्वीरितं विषमत्वं प्रत्ययात्। तद्वै सत्वस्य रूपम्" इति। अग्रे—आदिकाल में तम ही था, वह ही परतत्व में सम्मिलित हुआ है। परतत्व से प्रेरणा पाकर वह विषयता रूप में प्रतीति का विषय ज्ञान रूप प्रत्यय बनता है। यह विषयता रजोगुण रूप क्रियाभाव का रूप है। रज रूप प्रवृत्ति रूपाक्रिया भी प्रवृत्ति मार्ग से विषम हो जाय—तब वह सत्व का रूप होता है। इस वेद वचन में भी तमोगुण की ही प्रथम सत्ता स्पष्ट हो रही है। 'परेण ईरितम्' इसकी व्याख्या आगे इस ग्रन्थ में ही की जायगी। द्वैपायन व्यास मुनि ने भी यह ही माना है—जैसा कि वायु पुराण नाम से कहे जाने वाले ब्रह्माण्ड पुराण में—

'गुण साम्ये तदातस्मिन्नविभातं तमोमयम्'। इत्यादि

कहा है, तीनों गुणों की विषमता में सर्जन होता है—समता में नहीं होता, उस आदि—अवस्था में गुण समान भाव में थे, अतः सब तमोमय था, कुछ भी भासित नहीं था। अन्यत्र भी ऐसे वचन हैं। स्पष्ट यह हुवा कि तम की आदिकाल में प्रथम सत्ता मानने में मन्त्र, ब्राह्मण, स्मृति, पुराण सबका एक मत ही प्रतीत होता है। और जो सबसे प्रथम होता है—उससे ही सारी सृष्टि होती है, इस प्रकार तम की प्रधानता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

(४१) अपरं तमःप्राधान्याधिकरणम्

[1]तमस्तदासीत् परगं परेणेरितं रजोऽभूद् विषमत्वमेत्य ।
रजोऽपि सत्वं ह्यभवत् परेणेरितं ततोऽस्मिन् स रसोऽवभाति ॥३६॥

[2]ज्योतिष्मतस्तस्य रसस्य बन्धतो विभूतितो योगविशेषतोऽपि वा ।
अङ्गारवच्चन्द्रवदभ्रवत् तमस्त्रैभाव्यमुद्भाव्य विवर्ततेतराम् ॥३७॥

कृष्णोऽयमङ्गार इहाग्नितेजसा संभूय रक्तः प्रथमं प्रजायते ।
अत्यग्निदग्धः पुनरेष शुक्लतामापद्यते तद्वदिदं तमस्त्रिधा ॥३८॥

कृष्णं तमस्तेन परेण तेजसा सम्भूय रक्तं भवदुच्यते रजः ।
ततोऽतिसंबन्धवशात् तदुच्यते शुक्लं भवत् सत्वमिति त्रिरूपता ॥३९॥

कृष्णोऽपि चन्द्रः स विवस्वदंशुभिः स्वार्धेऽपि संपद्य विभाति भास्वरः ।
सान्ध्ये तमस्यन्तरितस्तु भास्वतो रक्तोंऽशुराभाति तथा तमस्त्रिधा ॥४०॥

तमोऽप्रकाशं परतेजसाऽभितः संपद्य सत्वं भवतीह भास्वरम् ।
अल्पे तमस्यन्तरितं तु तत्परज्योती रजो रक्तमिवोपजायते ॥४१॥

पर में अर्थात् रस में सर्वप्रथम तम का अनुगमन हुवा था, पर से प्रेरित होकर तम विषमता प्राप्त करके क्रिया रूप से रजोमय हो गया । उस पर तत्व की प्रेरणा से ही रजोगुण सत्वभाव में परिवर्तित हो गया । सत्व भाव में रस स्वयं निज रूप में प्रकाश पा लेता है, उस अवस्था में रज का क्रिया भाव और तम का आवरण भाव निवृत्त हो जाता है ॥३६॥

१. अब अन्य प्रकार से तम की प्रधानता मानने वालों का मत बता रहे हैं । पूर्व पद्य की व्याख्या में जो मैत्रेय श्रुति का उद्धरण दिया था—उसकी व्याख्या करते हैं—'परगम्' अर्थात् पररूपरस में स्थित होकर तमोगुण उस रस से ही प्रेरित होकर विषमता पाकर— विकृत होकर रजोरूप हो गया । इस ही प्रकार रज भी परतत्व की प्रेरणा से ही सत्वरूप हो गया । सत्व अवस्था में रस का प्रकाश हो जाता है ।

ज्योतिष्मान् रस के बन्ध, विभूति अथवा योग इनमें से किसी विशेष संबन्ध से तमोगुण अङ्गार के समान अथवा चन्द्रमा के समान किंवा मेघ के समान तीन रूपों को प्रकट करके स्वयं विलीन हो जाता है ॥३७॥

२. आगे के सात श्लोकों की व्याख्या एक साथ की जा रही है ।
उक्त वेदवचन का अभिप्राय स्पष्ट कर रहे हैं—रस प्रकाश रूप है, उसका गुणों से सम्बन्ध योग, विभूति अथवा बन्ध भाव से होता है यह व्याख्या पहले हो चुकी है । इन तीनों सम्बन्धों में से किसी एक सम्बन्ध को प्राप्त करके उस सम्बन्ध से ही तमोगुण अन्य रूप में आ जाता है । तीन दृष्टान्त उस विषय में यहां कहे गये हैं । सांख्य आदि शास्त्रों में तम का रूप काला बताया जाता है, रज का लाल रूप और सत्व का श्वेतवर्ण कहा जाता है । जैसे अङ्गीरा, अग्नि से

सम्बन्ध होने से पहले काले वर्ण का होता है, अग्नि सम्बन्ध होने पर पहले लाल रंग का बनता है, तदनन्तर श्वेत हो जाता है, वैसे ही रस का सम्बन्ध प्राप्त करके तमोगुण भी रजोरूपता तथा सत्वरूपता में आ जाता है। इस ही प्रकार जैसे चन्द्रमा स्वयं काले रंग का है, वह सूर्य किरणों के सम्बन्ध से सूर्य के संमुख भाग में श्वेत होकर, शुलकता पाकर प्रकाशित होता है। सूर्य से पराङ्मुख चन्द्र का भाग तो काला ही होता है। इस कारण ही अमावास्या के दिन भूमिगत प्राणियों का दृष्टिगोचर होने वाला चन्द्र का भाग सूर्य से पराङ्मुख रहता है, वह कृष्णवर्ण ही रहता है अतः प्रकाश शून्य होने से दिखाई नहीं देता। इन सफेद और काले रंग के बीच का भाग रक्त वर्ण का होना चाहिये—यह अनुमान किया जाता है। जैसे सन्ध्या के समय सूर्य के प्रकाश की अल्पता रह जाने पर तम (अन्धकार) मे मिश्रित सूर्य की किरणें लाल प्रतीत होती हैं, वैसे ही चन्द्रमा का मध्यगत भाग भी रक्त वर्ण का ही होना चाहिये। वो रक्तरूपता शुल्क प्रकाश के ही तम से सम्बन्ध होने से उत्पन्न होती है। उस रक्त वर्ण से संबद्ध तम भी रक्तरूपता से रजोरूप ही कहा जाता है। इस ही प्रकार तीसरे दृष्टान्त मेघ में भी स्पष्ट देखा जाता है कि, जब अत्यन्त श्याम वर्ण का मेघ सूर्य के और हमारी दृष्टि के बीच में आ जाता है, तब उसके कोने के किनारे के भाग सूर्य की किरणों के सम्पर्क में रहने से श्वेत दिखाई देते हैं। सम्पूर्ण रूप से जो मेघ के भाग सूर्य को ढक लेते हैं वे काले दीखते हैं। मध्यगत भाग रक्तवर्ण के प्रतीत होते हैं। इस प्रकार ही तमोगुण में तीनों गुणरूपता होती है, यह सात पद्यों का आशय व्याख्यात हुवा है।

यह काला अङ्गार अग्नि के तेज से जुड़कर पहले रक्तवर्ण का होता है, तीव्र अग्नि से जलकर फिर वह श्वेतता में बदल जाता है, वैसे ही यह तम भी तीन प्रकार का हो जाता है ॥३८॥

तमोगुण स्वयं कृष्णवर्ण का है, वह रसमय पर तत्व के तेज से मिलकर रक्तवर्ण का होता हुवा रजोगुण कहलाता है। वह ही उस परतत्व से जब घनभाव में संबद्ध हो जाता है तब श्वेतवर्ण का होता हुआ प्रकाशरूप सत्व बन जाता है, इस प्रकार तम की त्रिरूपता होती है ॥३९॥

कृष्णवर्ण का चन्द्रमा भी सूर्य की किरणों से अपने आधे भाग से सम्पर्क करता हुआ श्वेतरूप में भासमान होता है। सन्ध्याकाल में तम के अन्तराल से बीच में वह श्वेतिमा से रक्तिमा में भासित होता है, वैसे ही तम भी त्रिरूप होता है ॥४०॥

तम स्वयं प्रकाश शून्य है—वह परतत्व के तेज से सब ओर से संपन्न होकर सत्व-भाव में आकर श्वेतरूप हो जाता है, यदि वह परज्योति तम के अल्प भाग में प्रविष्ट होती है तब रजोमयी वह रक्तवर्ण की सी हो जाती है—'उपजायते' कह कर रज की अनन्तर उत्पत्ति कहीं गई है ॥४१॥

आत्यन्तिकश्यामघनस्य खण्डो भास्वन्तमावृत्य यदा स्थितः स्यात्।
तत्प्रान्तभागा रविरश्मिशुभ्रा रक्ता उपान्त्या निविडास्तु कृष्णाः ॥४२॥

एवं परज्योतिरिदं परीव्यावृत्या स्थितस्यापि तमोघनस्य ।
शुक्ला विभागाः परसन्निकृष्टाः अनन्तरास्तत्र भवन्ति रक्ताः ।।४३।।

[१]न चास्ति तस्मिन्न विभाति तस्मिन् रतिर्न तस्मिन्निति कृष्णमुक्तम् ।
विरुद्धधर्मद्वययोगतस्तद्रक्तं च शुक्लं तु रसप्रकाशात् ।।४४।।

(४२) औत्पत्तिकत्रैगुण्यम्

[२]अथासुरेः पञ्चशिखस्य वा मते त्रयोऽप्यमी सत्वरजस्तमोगुणाः ।
पृथग् विभिन्नाश्च परस्पराश्रया न चान्यतोऽन्यस्य समुद्भवोऽभवत् ।।४५।।

अत्यन्त श्याम मेघ का खंड विशेष, जब सूर्य का आवरण करके ठहरा रहता है तब उस मेघ के अन्तिम भाग सूर्य किरणों से संपर्क करते हुए शुभ्र (श्वेत), किरणों से कुछ दूरी पर रक्त, तथा निबिड़—घनभाव से सूर्य को घेरे हुवे कालेवर्ण के भासमान होते हैं ।४२।

इस ही प्रकार वह परज्योतिस्वरूप रसतत्व जिसके समीप अत्यन्त घनभाव में तम की स्थिति रहती है—उस अवस्था में भी जब तम में परतत्व संपूर्ण भावेन प्रवेश कर जाता है तब रस के समीप के भाग सत्वमय शुक्ल होते हैं, दूर के भाग रक्त होते हैं ।।४३।।

अस्ति, भाति, रति अर्थात् सत्ता, दृश्यमानता और रमणीयता इन तीन भावों में सर्वत्र रस की प्रतीति होती है, किन्तु तमोगुण में न तो किसी की सत्ता की प्रतीति होकर अस्तिभाव बनता है, न कोई पदार्थ दृष्टिगोचर होता है—अतः भातिरूप भान भी नहीं होता, और सत्ताहीन अदृश्यता में प्रियता रूप रमणीयता भी नहीं होती, इस कारण ही तम को काला कहा गया है। जहाँ भान होना और न होना ये दो परस्पर विरुद्ध धर्मों का योग होता है, वहाँ रक्त वर्णमय रजोगुण होता है। जहाँ रस के पूर्ण संबन्ध से 'अस्ति, भाति, रति' तीनों प्रकाश मान हों वहाँ सत्व शुक्ल रूप होता है ।।४४।।

१. तम को कृष्ण वर्ण का क्यों कहा जाता है—इसको स्पष्ट करते हैं। काले रूप में सारे रंग विलीन हो जाते हैं, उसमें अन्य किसी रूप की प्रतीति नहीं होती। यह पहले भी कहा गया है कि जब सारे रंग इकट्ठे करके पीस दिये जावें तब वहां काला रंग ही सबका हो जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि सारे अन्य रंग मूछित होकर काले रंग में लीन हो जाते हैं। अथवा यह भी कह सकते हैं कि मूछित सारे रंगों की समष्टि ही कृष्णवर्ण के रूप में प्रतीत होती है। इस रीति से कृष्णवर्ण की सबकी आवरकता (ढकलेना) सिद्ध होती है। तम नाम से प्रसिद्ध अन्धकार में भी किसी प्रकार की प्रतीति नहीं होती—अतः तम की आवरकता सिद्ध हो ही जाती है। इस प्रकार ही जो शक्ति सब तरह से रस को ढक लेती है अर्थात् जिसके संसर्ग से रस का प्रकाश नहीं होता है, वो शक्ति कृष्णवर्ण और तमोमयी कही जाती है। जगत् के सब पदार्थों में रस तीन रूपों में सर्वत्र भासित होता है, सत्ता रूप से, ज्ञान रूप से और आनन्द रूप से। अस्ति, भाति, प्रिय' इन तीन रूपों में भास होने की व्याख्या पहले हो चुकी है। जहां नास्ति, न भाति इस तरह सत्ता और भान की प्रतीति न हावे, और जो अदृश्य होवे उसमें रति-प्रीति होना भी सम्भव नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि तम ने सर्वतोभावेन रस को ढक लिया है। इस ही लिये

उसे तमरूप तथा कृष्णवर्ण लाक्षणिक भाव में कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जहां कुछ अंश में तो भान होवे और कुछ अंश में भान न होवे, ऐसा दो विरुद्ध धर्मों का योग हो जावे, वह रजोगुण रक्तवर्ण कहा जाता है। वहां प्रियता (आनन्द) तो छिप जाता है किन्तु सत्ता भान नहीं छिपते हैं। सत्ता-चेतना-आनन्द इन तीनों का जहां प्रकाश होवे, वह शुक्लवर्ण की सत्वरूपता कही जाती है। यह ही कारण है कि जगत् के सारे रूप जिनमें तिरोहित रहते हैं वे भगवान् विष्णु और पराम्बा आद्याशक्ति ये दोनों कृष्णवर्ण में ही उपासना के विषय बनते हैं। इसके अतिरिक्त जिनमें जगत् के सारे रूप विशद भाव में स्पष्ट हो रहे हैं वे सारे जगत् के समष्टिरूप भगवान् शंकर और षोडशी शक्ति शुक्लभाव में ही उपास्य होते हैं, इत्यादि विचार भी करणीय है। इस प्रकार तमोगुण की प्रधानता वालों का मत दो रूपों में व्याख्यात हुआ है, एक ही मत का निरूपण दो प्रकार से किया गया यह समझना चाहिये। इस ग्रन्थ में कहे गये सिद्धान्त की रीति से तो कथित वेदवचन तथा स्मृति वचनों में पठित तम-पद आवरण का ही बोधक माना जाता है। "तम आसीत्" का तात्पर्य सब कुछ आवृत (ढका) था, यह ही होता है। इस हेतु से ही, वेद विज्ञान वाली जो श्रौत प्रक्रिया है उससे भिन्न प्रक्रिया का आश्रय लेते हुवे उक्त मत कहे गये हैं—अतः ग्रन्थ कर्त्ता ने इनका सांख्याभास पद से संकेत किया है।

आसुरी के शिष्य पञ्चशिख के मत में सत्व-रज-तम ये तीन गुण स्वतः पृथक् हैं, विभिन्न रूप में ही इनका स्वभावोदय है, यह अवश्य है कि सहचर रूप से ये परस्पर आश्रित रहते हैं। इनमें किसी से किसी की उत्पत्ति नहीं होती है ॥४५॥

२. अब तक एक एक गुण की प्रधानता मानने वालों के मत कहे गये। सुप्रसिद्ध सांख्यदर्शन में तो ये तीनों गुण सहचर भाव में साथ साथ ही प्रवृत्त होते हैं, इनमें एक से दूसरे की उत्पत्ति नहीं होती। और न किसी गुण की प्रधानता ही नियत होती है। इनके परस्पर संघर्ष में कभी किसी एक की प्रधानता हो जाती है, कभी दूसरे की। इस सांख्य को भगवान् कपिल ने प्रादुर्भूत किया था, इनके शिष्य आसुरी ने प्रचार किया, उनके शिष्य पञ्चशिख ने तो विस्तृत ग्रन्थ रचना कर दी, ये सांख्य की परम्परा श्लोक के प्रथम पाद में दिखाई गई है। आगे उनके मत का सार बताया गया है। सारे गुण आरम्भ से पृथक् पृथक् हैं, सब साथ-साथ ही रहते हैं, एक के बिना दूसरा कहीं भी प्राप्त नहीं होता, इस कारण इनको परस्पराश्रय ही कहा जाता है।

[१]व्यक्तं यदेतत् किमपीह दृश्यते सर्वस्य शक्तिः पृथगिष्यते गुणाः।
ययात्मनि ब्रह्म रसोदयो भवेत् सर्वापि सा सत्त्वमितीह कथ्यते ॥४६॥

[२]आनन्दविज्ञानशमप्रपूर्णता यतो यतो ब्रह्म रसा इहात्मनि।
तां तामिहाव्यक्तदशां प्रचक्षते सत्वं ततोऽन्यौ तु रजस्तमो गुणौ ॥४७॥

[३]यया यया कर्मबलोदयो भवेत् सर्वापि सा सा रज इष्यते गुणः।
क्षोभेऽल्पतां दुःखमुदेति वा यतो रजस्तदव्यक्तदशा प्रचक्षते ॥४८॥

[४]यया तयोरावरणं प्रजायते न भाति विज्ञानमुदेति नो सुखम्।
क्रियाप्रवृत्तिर्न निवृत्तिरीहते सर्वाऽपि सा सा तम इष्यते गुणः ॥४९॥

[४]मोहोऽप्रकाशो यत एव शून्यता तमस्तदव्यक्तदशां प्रचक्षते ।
इत्थं त्रिधा वर्गविभक्तिशक्ति ये भवन्ति चाव्यक्तदशाहिते गुणाः ।।५०।।

न[६] तत्र सत्वं रससङ्गसिद्धं तमश्च नैतद् व्यतिरेकसिद्धम् ।
रजो न सान्ध्यं सकलाः स्वतन्त्राः आद्यौ समावस्थतया प्रतीताः ।।५१।।

[७]परस्परेण प्रतिषिद्धवृत्तयस्त्रयोऽप्यमी सन्ति परस्पराश्रयाः ।
आवृण्वते वा गमयन्ति वा त्रयः प्रसादयन्तीति परस्पराहिता ।।५२।।

स्पष्ट रूप में इस संसार में ये जो कुछ भी दिखाई देता है, इस सब का शक्ति रूप पृथक् ही माना जाता है। वह शक्ति ही त्रिगुण नाम से कही जाती है। उस शक्ति के जिस रूप के द्वारा आत्मा में ब्रह्म रस का उदय होवे, वह सारा शक्तिभाव सत्व नाम से कहा जाता है ।।४६।।

१. जगत् में जो स्फुट रूप में प्रतीत होता है, उसमें सर्वत्र कोई शक्ति रहती है। वह शक्ति ही तीन गुणों के नाम से ख्यात होती है। ब्रह्म पद से यहाँ मायाशबलित पुरूष कहा जा रहा है। जिस शक्ति से आत्मा में अर्थात् अपने आप में ब्रह्म रस का (आनन्द का) उदय होता हो, वह शक्ति सत्वगुण के नाम से व्यवहार में आती है।

आनन्द, विज्ञान, शम और प्रपूर्णता ये जहाँ-जहाँ से भी ब्रह्मरस रूप में अपने आप में उदित होते हैं—वह शक्ति की अव्यक्त दशा कही जाती है, वह ही सत्व का भाव होता है। रजोगुण और तमोगुण इससे भिन्न होते हैं, अर्थात् वे अन्य धर्मी होते हैं ।।४७।।

२. आनन्द के सहचर अन्यधर्म भी सात्विक हैं—विज्ञान, शम (शान्ति) अपूर्णता—(परितोष) अर्थात् तृष्णा का अभाव ये धर्म अव्यक्त पद से कहे जाने वाली प्रकृति के जिस परिणाम से उदित होते हैं, वह अवस्था सत्वगुण प्रधान होती है, उससे विपरीत रजोगुण-तमोगुण हैं।

जिस जिस शक्ति से क्रिया की तथा बल की उदय रूप वृद्धि होती है वो सारी शक्ति रजोगुणमयी मानी जाती है। क्रिया वृद्धि से क्षोभ हो जाता है, चंचलता के इस भाव में विज्ञान अंश के दब जाने से अल्पता (सब प्रकार की कमी) का अनुभव होने लगता है, अल्पता हो दुःख रूप होती है। ये दुःख जिस शक्ति से उदित होता है. वह शक्ति रजोमयी है—तथापि अव्यक्त दशा में है, स्थूल क्रिया भाव में नहीं ।।४८।।

३. कर्म का अथवा कर्म को उत्पन्न करने वाले बल का उदय जिस शक्ति से होता है-वह शक्ति रजनाम से कही जाती है। कर्मभाव में क्षोभ हो जाने पर अल्पता आ जाती है, अल्पता में दुःख भी होता है, इस हेतु से दुःखमयी अवस्था भी रजोमयी ही कही जाती है—दुःख रज का ही रूप है। ये दशा भी अव्यक्त भावमयी प्रकृति की ही है।

तीसरी तमोमयी शक्ति के द्वारा रज और सत्व का आवरण कर दिया जाता है, फलस्वरूप इस तामसी शक्ति के वशीभूत हो जाने पर न तो विज्ञान स्वरूप चेतना भासित होती है और नहीं आनन्दमय रस स्वरूप सुख का अनुभव होता है, उस अवस्था में किसी

क्रिया में प्रवृत्ति नहीं होती, इतना ही नहीं निवृत्ति की ओर भी झुकाव नहीं होता, ये सारी क्रिया शून्यता आदि तमोगुणमयी हैं ।।४६।।

४. निवृत्ति भाव में भी क्रिया, प्रवृत्ति को रोकने के रूप में रहती है, किन्तु ये क्रिया भी तमोगुण में नहीं होती । केवल आलस्य की ही प्रधानता रहती है । इस अन्धकारमय तमोगुण में फंसा हुवा मनुष्य अपने शिर पर आई हुई आपत्ति का प्रतीकार भी नहीं कर पाता है ।

मोह अज्ञान को ज्ञान मान लेना, रस का प्रकाश न होना अर्थात् आनन्द शून्यता, ये शून्यता जो आलस्यमयी है, इसकी प्रधानता हो जाना, यह तमोगुण का अव्यक्त दशा का भाव है । इस प्रकार तीन वर्ग विभागों में जो शक्ति के तीन रूप विभाजित हो रहे हैं । ये तम-रज-सत्व गुण स्वयं अव्यक्त दशा में ही रहते हैं । 'अर्थात् स्थूल भाव में ये कभी नहीं रहते' ।।५०।।

५. श्लोक के पूर्वार्ध में तो तम का ही विवरण है । उत्तरार्ध से उपसंहार किया गया है । तीन प्रकार के जो वर्ग होते है, वे हैं आनन्द, विज्ञान, शम आदि का एक समूह और क्रिया, दुःख, चपलता, मोह, आलस्य आदि का समूह । इनको उत्पन्न करने वाली विभिन्न भावों में विभक्त जो शक्ति है, तद्रूप ही वे गुण हैं । ये सब उस अव्यक्त—अगोचर प्रकृति के विशेष दशा भाव में प्रकृति के अवयव रूप ही हैं, यह समझना समुचित है ।

उपरोक्त मतों के कथनानुसार, न तो सर्वदा सत्व का ही रस के साथ सहभाव रहता है, और नहीं अन्य गुणों से अतिरिक्त केवल तम की आदि अवस्था की स्थिति है, इनका सन्धिगत रजोगुण रहता है, ऐसा विचार भी उचित नहीं है । वास्तव में ये सब अपने-अपने स्वतन्त्र हैं, केवल सृष्टिकाल से पूर्व ये तीनों सम अवस्था में प्रसुप्त बल भाव में रहते हैं । 'सर्जन क्रिया तो तब ही सम्भव होती है जब इनमें न्यूनाधिकता आकर इनका विषम भाव बने' ।।५१।।

६. पहले के मतों मे जो यह कहा गया कि सत्वगुण तो सतत रससिद्ध ही रहता है, तथा तम ही सर्वादिकाल में था, रजोगुण सन्धिगत रहता है, ये सारे निर्णय उचित नहीं हैं । वास्तव में तीनों गुण स्वतन्त्र हैं । इनकी साम्य अवस्था भी होती है—वह ही मूल प्रकृति नाम से कही जाती है—वह निर्विकार है ।

तीनों गुण परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हैं, ऐसा होते हुए भी ये सब परस्पर आधारित हैं । ये तीनों आपस में मिलकर कहीं आवरण, कहीं गति तथा कहीं प्रसाद रूप सुख उत्पन्न करते हैं । तीनों का सर्वत्र सहचर भाव रहता है ।।५२।।

७. इन गुणों की परस्पर आश्रयता भी रहती है, और एक दूसरे को दबाते रहने की विरुद्धता भी इनमें रहती है । परस्पर एक दूसरे में प्रविष्ट होते हुवे ये आवरण, गति तथा प्रसाद रूप कार्यों को उत्पन्न करते हैं । कार्य भी कहीं कहीं परस्पर सहचारी होते हैं—यह आगे बताया जायगा ।

'यथा हि तैलानलवर्तिकात्मकैस्त्रिभिः स्वतन्त्रैः पृथगेव कर्तृभिः ।
परस्पराऽन्वाहितभिन्नवृत्तिभिर्द्रव्यैः प्रकाशः क्रियते तथा गुणैः ।।५३।।

(४३) त्रैगुण्यपञ्चिकाधिकरणम्

[२]निगूढमारुढमुद्गूढमोतप्रोतं तथान्तर्निहितं च भूत्वा ।
त्रैगुण्यमेतद्धि परस्परेणोपयुज्य संभुज्य जगत्करोति ।।५४।।

[३]त्वचा पिनद्धोऽस्ति रसो रसेनाप्यन्तःपिनद्धं द्विफलास्थि यद्वत् ।
तथा गुणोऽन्येन गुणेन यत्रान्तर्धीयते गूढगुणक्रमः सः ।।५५।।

[४]सत्त्वं हि यत्राधिरजो रजोऽधि वा तमोह्यु दारूढमिवानुलक्ष्यते ।
तमः स्फुटं तत्र रजोन्तराहितं सत्वं रजस्यन्तरितं निगूहितम् ।।५६।।

[५]रजश्च सत्वं च तथा स्फुटं स्यात् तमः प्रबुद्धं प्रलयः स कालः ।
रजः प्रबुद्धं स हि सृष्टिकालः सत्वं प्रबुद्धं स हि मोक्षकालः ।।५७।।

तमः प्रबुद्धं स सुषुप्तिकालः स्वप्नान्तिकं स्यात्तु रजः प्रबुद्धम् ।
सत्त्व प्रबुद्धं यदि जागरा सा प्रत्यर्थमित्थं भवति त्रिकालम् ।।५८।।

तमः प्रबुद्धं तदचेतनं स्याद्रजः प्रबुद्धं द्रुमजातयः स्युः ।
सत्त्वं प्रबुद्धं यदि चेतनं तत् त्रिभिर्गु णैः स्यात्त्रिविधो विसर्गः ।।५६।।

[६]तेजस्तथापोऽन्नमिति त्रयं सत् तदन्यथाऽन्येऽप्सु तदन्यथा स्यात् ।
तदन्यथा तेजसि भूमिभेदादेवं गुणास्ते पृथगाश्रिताः स्युः ।।६०।।

जैसे दीपक के दृष्टान्त में—तैल, अग्नि और रूई की बत्ती ये तीनों अपने-अपने कार्यों के पृथक् भाव में स्वतन्त्र कर्त्ता होते हैं और तीनों की स्वाभविक वृत्ति भी भिन्न है, तथापि तीनों पदार्थों के एक दूसरे के साथ युक्त हो जाने पर प्रकाश रूप कार्य होता है, इस ही प्रकार तीनों गुणों के सहकार से सर्जन कार्य होता है, यह समझना चाहिये ।।५३।।

१. ये तीनों गुण विरुद्ध स्वभावी होते हुवे भी कैसे कार्य सिद्ध कर लेते है, यह दीपक दृष्टान्त से कहा गया है । सांख्य तत्व कौमुदी में ये सब स्पष्ट है ।

सत्वादि तीनों गुणों का समूहगत एकरूप सर्जन काल में पाँच भावों में विभक्त रहता है । निगूढ़ भावें में आरूढ़ भाव में, उदूड़ भाव में, ओत-प्रोत भाव में तथा अन्तर्निहित भाव में । इन पाँच अवस्थाओं में आकर परस्पर सामीप्यसे जुड़ते हुवे, तथा संमर्द द्वारा एक-दूसरे का भोग करते हुए ये तीन गुण जगत् का निर्माण करते हैं ।।५४।।

२. गुणों के परस्पर सम्बन्ध में पांच प्रकार कहे जाते हैं ।

निगूढ़ भाव का दृष्टान्त सहित उपपादन—जैसे शरीर में रसमय जल का भाग त्वचा से संवद्ध रहता है—त्वचा के बंधन में रहता है और भीतरी भाग में दो फांकों वाला अस्थि (हड्डी) भाग रसरूप जल से बंधा रहता है । वैसे ही एकगुण अन्य गुण के द्वारा जहां अन्तर्हित हो जाता है—वहाँ उस अन्तर्हित गुण को निगूढ़ गुण कहा जायगा, ये गुण के गूढ भाव की प्रक्रिया है ।।५५।।

३. प्रथम निगूढ भाव का विवरण। जैसे त्वचा अर्थात् ऊपर दीखने वाले चर्म से शरीर में रहने वाला रस—द्रवभाग, पिनद्ध—बंधा रहता है, और रस से द्रव्य भाग से दो भागों में मध्य में विच्छिन्न अस्थि समूह बंधा रहता है—किन्तु ढके रहने से दिखाई नहीं देता, वैसे ही जहां एक गुण से दूसरा गुण आवृत हो जाता है। वो ढका हुआ गुण निगूढ कहलाता है।

अन्य को दबा कर जो गुण ऊपर आ जाता है वह आरूढ़ पद से और जो दब जाता है—वह निगूढ़ पद से व्यक्स्त होता है, जैसे रज को आक्रान्त करके सत्व का आरूढ़ हो जाना, रज का निगूढ़ हो जाना, तम को आक्रान्त करके रज की आरूढ़ता—तम की निगूढता, तथा जहां तम स्फुट रूप में आरूढ़ हो रहा हो वहाँ उसके भीतर रज का आधार रहता है, रज की आरूढ़ता में सत्व उसके भीतर आहित रहता है ॥५६॥

४. सत्वगुण जहां रजोगुण पर आक्रान्त होकर स्थिति पाता है, अथवा रजोगुण जहां तम को दबाकर रहता है, वहां प्रधान बनकर ऊपर भासित होने वाला आरूढ कहा जाता है, जो दबा रहता है वह निगूढ कहलाता है।

जगत् के जीवन व्यवहार में रजोगुण और सत्वगुण की स्पष्ट भासमानता सम्भव होती है। तमोगुण जब प्रबुद्ध होकर प्रधानता ले लेता है तब सृष्टि का प्रलयकाल होता है, रजोगुण के प्रबोध में सृष्टिकाल होता है और सत्व के प्रबोध में मोक्षकाल होता है ॥५७॥

५. आरूढ भाव के एक एक गुण के उदाहरण युग परिभाषानुसार, जीवन की चेतन अवस्था की अनुभूति में, तथा जगत् के पदार्थों में स्पष्ट भासित होते हैं, उनका व्याख्यान तीन पद्यों से किया जा रहा है।

जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति जीवन की इन तीन अवस्थाओं में जब तमोगुण आरूढ़ भाव में प्रबुद्ध होता है तब सर्वथा अज्ञान अवस्थागत गहन निद्रा का सुषुप्तिकाल होता है, जिसके लिए कहा जाता है—ऐसी निद्रा हुई कि कुछ पता ही नहीं लगा। रजोगुण की आरूढ़ता में स्वप्नमयी निद्रा होती है, सत्वगुण के आरूढ़ भाव में जागृत अवस्था का कार्यकाल होता है। इस प्रकार तीनों कालों में प्रत्येक पदार्थ के साथ तीनों गुणों की व्याप्ति रहती है ॥५८॥

सृष्टि के पदार्थों में, तमोगुण प्रधान अचेतन पत्थर आदि की सृष्टि होती है, रजोगुण की प्रधानता में पेड़, पौधे उत्पन्न होते हैं, सत्वगुण की प्रधानता रहने पर चेतन जीवों की सृष्टि होती है। इस प्रकार तीनों गुणों द्वारा तीन प्रकार का विसर्ग अर्थात् सर्जन होता है ॥५९॥

संसार में तेज (अग्नि), आप् (जल) और अन्न (पृथ्वी) इन तीनों की सर्वत्र सत्ता मानी जाती है। इन तीनों के स्वाभाविक गुण-धर्म भिन्न-भिन्न हैं और भिन्न गुण-धर्म वाले होते हुवे भी ये तीनों परस्पर मिश्रित रहते हैं। मिश्रण भाव में इनके स्वाभाविक रूप से अतिरिक्त अन्य विलक्षण रूप उत्पन्न हो जाता है—उस उत्पत्ति में किसी एक की प्रधानता रहती है। वैसे ही सत्वादि गुणों की भी पृथक्-पृथक् आधारता तथा आधेयता समझनी चाहिए ॥६०॥

६. इन गुणों में प्रधान—गौण भाव की योग्यता बताते हैं कि लोक में तेज, जल और पृथ्वी ये तीन तत्व सत् शब्द से कहे जाते हैं। इन तीनों में ये तीनों अन्तर्गत रहते हैं, अतएव ये तीन अवयवों से वृत होते हुए त्रिवृत् किये गये भी कहे जाते हैं। परन्तु परस्पर मिश्रण होने पर भी इनका स्वरूप तथा कार्य कुछ अन्यथा ही देखा जाता है, वह अन्यथा दर्शन गौण-प्रधान भाव के कारण ही होता है। इस प्रकार ही सत्व आदि गुणों की भी प्रधान-गौण भाव से विभिन्न कार्यकारिता देख लेनी चाहिये। ये कथन तात्पर्य है।

[1]सर्गे यदैकत्र गुणास्त्रयः स्युर्गुणः स एकोऽत्र भवेत्प्रधानः।
स भूमिकारूढगुणक्रमः स्यात्ततो भवन्ति त्रिविधा विसर्गाः ॥६१॥

[2]अष्टोर्ध्वतः सत्त्वविशालसर्गा रजो विशालः किल मध्यसर्गः।
तमोविशाला इह मूलसर्गाः पञ्चेति सर्गत्रयमाहुरेतत् ॥६२॥

[3]एकैकसर्गोऽपि पुनस्त्रिधा भवेत् स सात्त्विको राजस एष तामसः।
तेषां त्रयाणामपि जीवने पुनस्तावृत्तयः स्युस्त्रिविधा गुणक्रमात् ॥६३॥

[4]अथो यथा चक्षुषि शुक्लमण्डले निविष्टमासीदतिकृष्णमण्डलम्।
नाभौ पुनस्तस्य च कृष्णतारकानिधीयते तद्वदिमे गुणाः क्वचित् ॥६४॥

[5]पश्याम्यहं देवमिति प्रतीतिर्दृगात्मदेवैस्त्रिभिरेकमूर्तिः।
तत्रैकतोऽन्तःकरणं स देवोऽन्यतोऽन्तरे दर्शनवृत्तिरेति ॥६५॥

जब एक पदार्थ की सृष्टि होती है तब उसमें तीनों गुण एकत्र रहते हैं, किन्तु प्रधानता वहां एक गुण की ही रहती है। वह प्रधान गुण ही वहाँ भूमिका भाव में आरूढ़ रहता है, अतः विसर्ग (सृष्टि) भी तीन प्रकार के होते हैं ॥६१॥

१. आरूढ भाव का अन्य उदाहरण—एक पदार्थ की सृष्टि में तीनों ही गुण रहते हैं, किन्तु एक गुण वहां प्रधान रहता है। वह प्रधान गुण ही भूमिका रूप में आरूढ कहा जाता है। भूमिका अर्थात् सर्जन प्रक्रिया में आये हुए प्रत्येक रूप की पूर्णता का संपादक होना। इस क्रम से तीन प्रकार की प्राणियों की सृष्टि होती है। कुछ प्राणी सत्व प्रधान होते हैं, कुछ रजः प्रधान, तथा कुछ तमः प्रधान होते हैं।

मानवी सृष्टि से ऊपर के सत्वगुण की प्रधानता वाले आठ प्रकार के सर्ग होते हैं, मध्य में रजोगुण की प्रधानता वाला मनुष्य सर्ग होता है, सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला तिर्यग् योनि का मूल सर्ग पाँच प्रकार का होता है। इस प्रकार यह सृष्टि तीन तरह की होती है ॥६२॥

२. मनुष्य से ऊपर—मनुष्य से अधिक शक्तिशाली आठ प्रकार के प्राणी होते हैं—उनमें ब्रह्मा, प्रजापति और इन्द्र ये तीन देवरूप होते हैं, और पितर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और पिशाच ये पांच उपदेव रूप में सांख्य में गिनाए गये हैं। ये सत्वविशाल अर्थात् सत्वगुण प्रधान होते हैं। मध्य में मनुष्य रजोगुण प्रधान होते हैं। अतएव नाना क्रिया भावों में रत रहते हैं। मूल सर्ग नाम से कहे जाने वाले जिनकी प्रथम उत्पत्ति होती है वे मनुष्य योनि से नीची कक्षा के पांच

तिर्यंग् योनि के, स्थावर, सरीसृप (रेंगने वाले), पक्षी, मृग और पशु होते हैं। जंगल में रहने वाले मृग कहे जाते हैं, तथा ग्राम निवासी पशु, ये मृग-पशु का भेद होता है। ये पांच तमोगुण की प्रधानता वाले होते हैं। इस तरह तीन प्रकार का सर्गक्रम सांख्य में व्याख्यात है।

एक-एक गुण की प्रधानता वाली सृष्टि जो ऊपर बताई गई है, उसमें भी एक-एक में तीनों के मिश्रण रहते हैं। अर्थात् एक में दूसरे का वेध रहता है, वेध अल्प भी होता है, अधिक भी। जैसे सत्व प्रधान देव वर्ग में यदि रजोगुण का वेध अल्प मात्रा में होवे प्रधानता सत्व की ही रहे तो, वो सात्विक-सात्विक ही रहेगा, अधिक होने पर सात्विक राजस तथा अत्यधिक वेध पर सात्विक-तामस माना जायगा। यह ही प्रकार रजोगुण को प्रधानता में राजस-सात्विक-राजस-राजस तथा राजस-तामस इस रूप में तथा तामस-तामस, तामस-सात्विक तामस राजस इस रूप में जानना चाहिये। आगे जीवनकाल में व्यवहार दशा में इन तीनों का पुन: त्रिविध भावहो जाता है, एक ही व्यक्ति का कभी सात्विक भाव कभी राजस या तामस भाव प्रत्यक्ष देखा जाता है। गुणों का यह परिवर्तनक्रम स्वाभाविक है तथा इनका जगत् में सहवास भी स्वाभाविक है॥६३॥

३. सत्वगुण की प्रधानता वालों में पुनः तीन भेद हो जाते हैं, कहीं रजोगुण का अन्तःप्रवेश–अनुवेध यदि अधिक हो जावे तो वे सात्विक— राजस, तमोगुण के अधिक अनुवेध पर सात्विक—तामस, कहीं यदि अनुवेध अल्प मात्रा में हुवा और प्रधानता सत्व की ही रही तो वे सात्विक—सात्विक ही माने जाते हैं। इस प्रकार ही रजोगुण प्रधान मनुष्य सर्ग में भी उस अनुवेध के तारतम्य से ही राजस-सात्विक, राजस-राजस, तथा राजस-तामस ये भेद होते हैं। तमोगुण प्रधान तिर्यत् योनि में भी सत्वगुण और रजोगुण के अनुवेध के इस तारतम्य से भेद समझ लेने चाहिये तामस—सात्विक आदि रूप में। ये हुए उत्पत्ति समकाल के भेद, आगे जीवन काल में तत्तत् योनी के उन जीवों की जो वृत्तियां होती है—उनमें भी कभी सत्व की, कभी रज अथवा तम की प्रधानता हो जाती है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, इस हेतु मानना होगा कि उन तीनों गुणों का अनुवेध पुनः हुवा है। स्पष्ट यह—कि शुद्ध एक रूप में कोई गुण कभी नहीं रहता। अनुवेध सदा रहता ही है—और उस अनुवेध के तारतम्य भाव से प्रकृति अनन्त भेदमयी हो जाती है।

एक पर दूसरे का ये अनुवेध रूप आरूढ़ भाव कैसे होता है, इसका निदर्शन मण्डलाकार नेत्र में—जैसे शुक्ल मण्डल के भीतर अत्यन्त काला मण्डल प्रविष्ट हो रहा है और उसके भी नाभि (केन्द्र) में छोटा तारा बिन्दु रखा गया है। ये तीनों मण्डल जैसे परस्पर अनुविद्ध हैं—वैसे ही इन गुणों का अनुवेध भाव भी तारतम्य से रहता है॥६४॥

४. एक गुण पर अन्य गुण कैसे आरूढ हो जाता है इसको स्पष्ट रूप में समझने के लिए दृष्टान्त एक चक्षु के उदाहरण में ही शुल्क और कृष्ण मण्डल के केन्द्र में स्थितकतीनिका (तारा) पर्यन्त गहरे काले रूप देखे जाते हैं—वहां एक रूप पर दूसरे रूप का आरूढ भाव और केन्द्र में वर्तमान तारा रूप बिन्दु में किसी के पीतरूप किसी के रक्तरूप भी होता है। नेत्र में जैसे तीनों रूपों की परस्पर आरूढता देखी जाती है, वैसे ही सत्व आदि गुण भी परस्पर आरूढ रहते हैं। एक आरूढ दूसरा गौण यह गुण क्रम अखण्ड चलता रहता है।

देवता के दर्शन रूप कार्य में, 'अहं देवं पश्यामि' मैं देवता को देख रहा हूं यह प्रतीति होती है, इस प्रतीति में तीन का एकत्रीकरण हो रहा है—एक देखने वाली दृष्टि (नेत्र इन्द्रिय), दूसरी आत्मसान्निध्यता और तीसरी देवता की प्रतिमा ये तीनों एक हो रही हैं। इन में आत्मास्वरूप अन्तःकरण पृथक् है, देवता भी पृथक् है—बीच में दर्शन रूप ज्ञान-प्रतीति हो रही है ॥६५॥

५. गुणों के परस्पर आरोहण का उदाहरण—जब कोई मनुष्य देवता की प्रतिमा को देखता है—तब मैं देवता को देख रहा हूं—यह प्रतीति होती है, उस प्रतीति में अहं नाम से कहा जाने वाला दृष्टा आत्मा, देवतानाम से कहा जाने वाला ज्ञान का विषय और पश्यामि पद से कहे जाने वाली दृष्टि, इन तीनों की प्रतीति होती है। शुद्ध आत्मा में तो कोई क्रिया न होने के कारण अन्तःकरण ही वास्तव में दृष्टा बनता है—इस विचार से ही मूल में उत्तरार्द्ध में दृष्टा के स्थान में अन्तःकरण का ही स्पष्टीकरण हुवा है। उस पश्यामि वाली अवस्था में दृष्टि का विचार करने पर, उसका एक ओर तो आत्मा के साथ सम्बन्ध रहता है और दूसरी ओर उस विषय से जिसे देवता कहा जाता है, स्थिति यह है कि आत्मा भीतर (प्रत्यक्) है और विषय तो प्रत्यक्ष बाहर है ही। उस देव नाम के किसी दृश्य रूप विषय को देखकर जो अन्तःकरण में प्रसन्नता होती है अर्थात् अन्तकरण प्रेममय हो जाता है, ये सत्व गुण का रूप है। अन्तःकरण से सम्बन्ध रखने वाली उस अन्तःकरण में विद्यमान वृत्तिरूप दृष्टि तो क्रिया रूप होने से रजोगुणमयी है। विषय जो भी सामने आता है—यह अन्तकरण की दूसरी वृत्तियों पर आवरण डाल देता है, फलतः एक ही विषय का भास होता है—उस समय अन्यों का भास नहीं होता—इस तरह आवरक होने के कारण विषय तमोगुण रूप होता है। स्पष्ट यह हुवा कि, 'अहं देव पश्यामि' इस अवस्था में अन्तःकरण सत्व से भर रहा है—उस पर दृष्टि रूप रज अरूढ हो गया और रजोगुण पर तमरूप विषय आरूढ हो रहा है, इस तरह एक दूसरे पर उदूढ भाव रहता है। ये व्याख्या तीन पद्यों की सम्मिलित है।

तत्रायमन्तःकरणस्य देवमनुप्रसादः स परो विकाशः।
तत्राहिता येन्द्रियवृत्तिरेषा क्रिया तदन्तर्निहितः स देवः ॥६६॥

योऽयं विकाशस्तदुदेति सत्त्वं रजस्तु तत्रेन्द्रियवृत्तिरेषा।
तत्राहितो यो विषयस्तमस्तत्त्रैगुण्यमित्थं प्रभवत्युदूढम् ॥६७॥

[1]सुप्तः क्वचिद्बल्गति पूरुषोऽयं तत्रास्य निद्रा बलवत्तमोऽभूत्।
वाग्वृत्तिरस्मिन्नुदिता रजस्तत् सत्त्वं तु तत्रान्तरितात्पसंज्ञा ॥६८॥

[2]त्रिरूप बिन्दुत्रयवत्त्रिकोणैस्त्रिभिस्त्रिकोणं क्रियतां पुनस्तैः।
त्रिभिस्त्रिकोणं क्रियतां तथेह त्रैगुण्यवर्ति त्रिगुणे गुणाः स्युः ॥६९॥

[3]ओतं पुनः प्रोतमिदं गुणत्रयं परस्परस्मिन्नतिसंकुलं तथा।
संपद्यते येन विशिष्य शक्यते न मुख्यता वेत्तुमथो न गौणता ॥७०॥

'अहं देवं पश्यामि' इस प्रतीति में देवता के अभिमुख अन्तःकरण की प्रसन्नता होती है, अन्तःकरण पूर्णतया विकसित हो जाता है, वहां जो इन्द्रिय की वृत्ति का आधान किया जाता है वह क्रिया रूप होता है, उसमें देवतारूप विषय अन्तर्निहित रहता है ।।६६।।

ये अन्तःकरण का विकास सत्वोदय का रूप है, इन्द्रिय की वृत्ति रजोरूप होती है—उस वृत्ति में जो विषय स्थापित होता है वह तमोमय होता है । इस प्रकार तीनों गुण एक-दूसरे पर चढ़े रहते हैं । यह उद्रूढ़भाव कहलाता है ।।६७।।

निद्रा अवस्था में जब मनुष्य कुछ बोलने लगता है वहाँ उसकी गहन निद्रा प्रबल तमोगुण का रूप होता है, उस अवस्था में प्रधान भूमिका तम की ही रहती है । उस अवस्था में उदित होने वाली वाणी की वृत्ति रजोगुण रूप होती है, भीतर वर्तमान अल्पसी ज्ञान मात्रा सत्वगुणमयी होती है । "इस प्रकार उस अवस्था में भी त्रैगुण्य का परस्पर आरूढ़-भाव रहता है" ।।६८।।

१. अन्य उदाहरण—जब मनुष्य नींद में सो जाता है, उस सोती हालत में ही वह अव्यवस्थितसा कुछ बोलने लगता है । बहुतों की तो ऐसी प्रकृति होती है कि वे सोई हुई अवस्था में बहुत बोलते हैं । कभी-कभी तो सब ही कुछ-कुछ बोल पड़ते हैं जो स्पष्ट रूप में दूसरों को सुनाई देता है । उस अवस्था में निद्रा तमोगुणमयी होती है और वह ही प्रबल भी होती है । जो उस समय वाणी का उदय होता है, वह रजोगुण का रूप है । बिना किसी प्रकार के ज्ञान के वाणी रूप वृत्ति का उदय हो नहीं सकता अतः भीतर छिपा हुवा स्वल्प ज्ञान भी अनुमान में आ जाता है—वह सत्व रूप होता है । इस प्रकार तम पर रज आरूढ़ है और रज पर सत्व, यह स्पष्ट उद्रूढ़भाव है ।

आगम शास्त्र के त्रिकोण दर्शन में उद्रूढ़ भाव का स्पष्ट चित्रण हो जाता है, वहां पहले तीन दिशाओं में तीन बिन्दु बनाकर एक त्रिकोण बनाते हैं—वह त्रिकोण बिन्दु रूप ही होता है । फिर बिन्दु त्रय को रेखाङ्कित करके एक त्रिकोण का रूप देते हैं, फिर उनके ऊपर पृथक्-पृथक् परन्तु परस्पर समीपस्थ तीन अन्य त्रिकोणों द्वारा यन्त्र का संपादन करते हैं । उस यन्त्र प्रक्रिया में जैसे एक त्रिकोण पर अन्य त्रिकोण आरूढ़ रहते हैं, वैसे ही इन गुणों का भी परस्पर आरोप्य-आरोहक भाव होता हुवा तीनों में तीनों का समावेश रहता है ।।६९।।

२. तन्त्र मार्ग के उपासक यन्त्र पूजा में पहले बिन्दु त्रिकोण लिखते हैं, फिर कोणभाव में बने हुए बिन्दुओं का एक त्रिकोण, फिर वैसे ही अन्य एक के ऊपर एक क्रम से तीन त्रिकोण लिखकर यन्त्र संपन्न करते हैं । वहाँ जैसे एक-एक त्रिकोण पर अन्य त्रिकोण आरूढ़ रहते हैं, वैसे ही इन त्रिगुणों में जानना चाहिए ।

उक्त आरूढ़ क्रम में गुणों का पृथक् रहते हुए सहकार भाव दिखाया गया है किन्तु जब गुण परस्पर गुंथ कर अति निबिड भाव में आ जाते हैं तब वे ताने-बाने की तरह ओत-प्रोत हो जाते हैं, उस अवस्था में कौनसा गुण प्रधान है और कौन सा गौण है, यह विशेषता जानी नहीं जा सकती ।।७०।।

३. कथित उगूढ भाव में इतना अंश अमुक गुण का है और इतना अमुक का ऐसा अंश का पृथक् भाव स्पष्ट प्रतीत होता है, किन्तु जहां ये पृथक् अंश भाव भी प्रतीति में न आवें, परस्पर गुंथी हुई ऐसी गुणों की वृत्तियां हो जाय—वहां ओत प्रोत नाम का चतुर्थ प्रकार होता है। उस अवस्था में अर्थात् ओतप्रोत भाव में किस गुण की प्रधानता है और कौन सा गुण अप्रधान हो गया यह नहीं जाना जा सकता। जहां तीनों गुण परस्पर संकुलित हो आवें—जिससे मुख्यता और गौणता जानी न जा सके वह ओतप्रोत प्रकार होता है—यह पद्य का अन्यार्थ है। श्लोक में ओत के साथ पुनः का प्रयोग करके प्रोत कहा है, पहले ओत, फिर प्रोत अर्थात् ताना-बाना। जैसे वस्त्र में ओतप्रोत भाव से स्थिति पाये हुऐ तन्तुओं की पृथक् पृथक् भाव में जानकारी सम्भव नहीं होती, वैसी ही इन तीनों गुणों की स्थिति भी कभी हो जाती है।

[1]नवप्रसङ्गे पुरुषेण योषितो हर्षस्त्रपामोहनवेदनाः पृथक्।
यत्र स्त्रियः स्यात् प्रसवस्य वेदना सत्त्वे रजस्तत्र रजोगतं तमः ॥७१॥

[2]नियुध्यतां मोहघनोपलब्धि यः सत्त्वं रजस्थं च रजस्तमोगतम्।
महोत्सवे यत्र सुखश्रमार्तयो व्यामोहनं वा तदिदं रजः परम् ॥७२॥

[3]बन्दीकृतस्याथ नरस्य पक्षिणः पशोर्बुभुक्षां गमितस्य भूयसा।
यदन्नदानादिविशिष्टचर्ययोपचर्यते सत्त्वमिदं रजोगतम् ॥७३॥

[4]इत्थं सुखं दुःखमथैव मोहो ज्ञानं क्रियाऽऽलस्यमिति त्रयो वा।
धर्मा गुणानामितरेतरस्थाः परस्परेणेह भवन्ति विद्धाः ॥७४॥

[5]क्वचित्तु संकोचविकाशयोगतो बहिः प्रसृप्यान्तरुपैति पर्ययात्।
सत्त्वे समुद्रे प्रणिधीयते तमो हानौ तु सत्त्वस्य तमोऽनुवर्धते ॥७५॥

पुरुष के साथ स्त्री के नये प्रथम सहवास के प्रसङ्ग में—हर्ष, लज्जा, संमोहन, वेदना आदि पृथक्-पृथक् होते हुवे भी एक साथ होती हैं। इस ही प्रकार प्रसव वेदना में भी होता है। वहाँ हर्षमय सत्व में रजमयी वेदना होती है और तमोमय संमोहन (स्तब्ध भाव) रज पर आरूढ़ हो जाता है, किन्तु इनका विभागशः विवेक उस समय नहीं किया जा सकता क्योंकि सब ओत-प्रोत रहता है ॥७१॥

१. ओतप्रोत रूप गुण भाव के उदाहरण दे रहे हैं—स्त्री को पुरुष के साथ प्रथम रतिप्रसंग में हर्ष, लज्जा, संमोहन, लज्जा वश स्तब्ध भाव, वेदना ये सब एक साथ होता है। उनमें हर्ष सत्वगुण का कार्य, लज्जाजनित संमोहन तमोगुण का कार्य, वेदना रजोगुण का कार्य ये क्रम होने पर भी इनका विभागशः अनुभव उस समय नहीं किया जा सकता कि इतने अंश में सत्व गुण है वा इतने अंश में रजोगुण है आदि। वैसे ही जब स्त्री का प्रसव काल होता है तो उस अवस्था में भी वेदना, वेदना जनित संमोहन रूप मूर्च्छा और सन्तान प्राप्त करने का हर्ष ये सब एक साथ होते हैं। वहां पुत्र प्राप्ति रूप हर्ष में (सत्व में) वेदना जनक रजोगुण भी प्रोत हो रहा है और उसमें ही संमोहन रूप तम भी प्रोत हो रहा है।

अन्यत्र, युद्ध करते हुए योद्धा में उदाहरण देखिये—उस समय इन गुणों का ओत-प्रोत भाव रहता है—युद्ध रूप क्रिया में जो तलवार चल रही है—वह रजोगुण का रूप है,

मन में रहता है कि युद्ध में विजय हम को प्रायः मिल गई है तो अब राज्य संपत्ति पा जायेंगे—यह हर्ष सत्वगुण का रूप है—यह सोचते-सोचते किसी ने प्रहार कर दिया—उससे मूर्च्छा भी हो गई—वह तमोगुण का रूप है। युद्ध रूप में रजोमयी क्रिया में सत्वरूप हर्ष प्रोत हुआ, उसमें ही प्रहार जनित मोह रूप तम प्रोत हो गया, उस समय इनका विभाजन कर लेना संभव नहीं हो सकता। इस ही प्रकार घर में कोई विवाह आदि बड़ा उत्सव होवे तो सुख, कठिन परिश्रम जनित कष्ट, और निद्रा का प्रबल आवेश तीनों हैं—यहां भी सुख रूप सत्व उत्सव क्रिया रूप रज में प्रोत होता है तथैव निद्रावेश रूप तम भी प्रोत रहता है ॥७२॥

२. अन्य उदाहरण—युद्ध करते हुए जन के मन में आता है कि विजय हमारी हो गई है, तो राज्य संपदा मिल जावेगी—यह निश्चय करती हुई स्थिति में ही किसी के सहसा प्रहार से मूर्च्छा भी हो जाती है। वहाँ युद्ध क्रिया—रज, धन प्राप्ति रूप हर्ष-सत्व और मूर्च्छा तमरूप है, युद्ध रूप रजोगुण में सत्व प्रोत हो रहा है और वे दोनों ही तम रूप मोह में प्रोत हो गए। वैसे ही विवाह आदि महोत्सव में—सुख, परिश्रम जनित वेदना और उन दोनों से जनित निद्रा-सुस्ती आदि स्तब्ध भाव ये सब साथ ही होते हैं। वहाँ रज में ही सत्व-तम प्रोत रहते हैं।

किसी पक्षी को कोई पुरुष यत्न करके पञ्जर में बन्दी बना लेता है तब उसकी पशुभाव की बुभुक्षा रूप क्षुधा को पहचानकर उसे अन्न-फल आदि से परितुष्ट करता है—वहां बन्दीकरण रूप रजोभाव में सत्व प्रविष्ट हो जाता है—तम प्रसुप्त प्राय रहता है। पालन-पोषण सत्व की ही वृत्ति है। वह रज में प्रोत है ॥७३॥

३. अन्य उदाहरण—पक्षि बन्धन में—बन्धन रजोरूप है। बुभुक्षित का अन्नपानादि से सेवन सत्व रूप है—वहां रज में सत्व प्रोत है।

इस प्रकार सुख, दुःख, मोह अथवा दूसरे शब्दों में ज्ञान, क्रिया और आलस्य ये तीनों, उक्त तीनों गुणों के धर्म हैं, ये संसार में परस्पर एक-दूसरे से बिंधे रहते हैं ॥७४॥

४. इस प्रकार सत्व आदि गुणों के कार्य रूप सुख, दुःख, मोह के और ज्ञान, क्रिया, आलस्य के सहचर भाव देखे जाते हैं, उनमें उनके उत्पादक सत्व आदि गुणों का ओतप्रोत नाम से कहा जाने वाला परस्पर का अनुवेध जानना चाहिए।

गुणों का पंचम अन्तर्निहित भाव—कहीं-कहीं सत्व आदि गुणों का यह क्रम संकोच-विकास प्रक्रिया योग से बाहर प्रसर्पण करके फिर विपरीत भाव में परिवर्तित होकर भीतर अन्तःकरण में समुद्र के समान फैले हुए सत्व में तम अन्तर्निहित हो जाता है, और कहीं सत्व की कमी रहने पर तम में अन्तर्निहित होकर तम की वृद्धि हो जाती है ॥७५॥

५. अब पंचम भेद बताते हैं—कहीं कोई गुण संकोच-विकास रूप धर्मों से युक्त होता हुवा, प्रथम विकास भाव से बाहर प्रसरित होता हुवा संकोच भाव से पुनः विपरीत गति में आकर अन्तर्गामी हो जाता है। यह पांचवां अन्तर्निहित नाम का प्रकार होता है। जैसा कि सत्व समुद्र में—अर्थात् समुद्र के समान कल्पित सत्वगुण में तमोगुण विलीन हो जाता है, सत्व की हानि हो जाने

पर तो तमोगुण का पुनः विकास हो जाता है। ये संकोच-विकास रूप धर्म ही, सर्वप्रथम निरूपित निगूढ़ नामक भाव के भेदक होते हैं।

[1]विज्ञानमन्तःकरणे हि कारणे सूक्ष्मे ततः स्थूलतनौ प्रवर्तते ।
संकुच्य सूक्ष्मेऽथ च कारणेऽथवा विश्राम्यतीत्यस्य दशात्रयी भवेत् ।।७६।।

[2]चर्मान्तविश्रान्तमिदं हि जागराः स्वप्नान्तिकं स्याद्यदि भौतिकं त्यजत् ।
सूक्ष्मान्तविश्रान्तमिदं भवेदथो सुप्तिर्भवेत् कारणमात्रगं यदि ।।७७।।

[3]इत्थं गुणास्ते पृथगुल्बणास्त्रयः परस्परेणानुचरन्ति पञ्चधा ।
परस्पराबद्धविमुक्तरूपिणस्ते पूरुषे भोक्तरि भान्ति सर्वदा ।।७८।।

[4]यथा समुद्रप्रकृतिः पयोमरुत् पांसुप्लवाद्यैर्विततैः समन्ततः ।
परस्परेण प्रहतैर्वियोजितैरायोजितैरूर्मिमती प्रदृश्यते ।।७९।।

सा पूरुषस्य प्रकृतिस्तथामितो रूपैस्त्रिभिः सत्वरजस्तमोमयी ।
परस्परेण प्रहतैर्वियोजितैरायोजितैरूर्मिमती प्रवर्तते ।।८०।।

इत्थं तरङ्गायितरूपशालिनामेषां गुणानां हि परस्परेण ये ।
भङ्गाः स्युरासङ्गवशादनेकधा तानेव पश्यामि जगद्यदीक्ष्यते ।।८१।।

अन्तःकरण में उदित होने वाला विज्ञानात्मा का प्रकाश, प्रथम कारण शरीर रूप अक्षर में उदित होता है, तदनन्तर सूक्ष्म शरीर रूप देवतभाव अर्थात् इन्द्रियों के अधिष्ठाता तत्तत् देवतागण में आता है, तदनन्तर स्थूल शरीर में प्रवृत्त होता है—यह विज्ञान के विकास का क्रम है। इससे विपरीत संकोचक्रम में स्थूल से सूक्ष्म में तथा सूक्ष्म से कारण में जाकर विश्राम करता है, इस प्रकार इस विज्ञान की तीन अवस्था होती हैं। "सर्वसाधारण गम्य केवल स्थूल भाव ही होता है" ।।७६।।

१. पूर्वोक्त संकोच विकास का निदर्शन—प्राणियों में अन्तःकरण की वृति रूप में उदित होने वाला विज्ञान पहले अन्तःकरण में, वहां भी पहले कारण शरीर में, तत्पश्चात् सूक्ष्म शरीर में, अन्त में स्थूल शरीर में व्याप्त होता है। उसके कारण ही स्थूल शरीर में भी हम शीत भाव तथा उष्णता आदि का अनुभव करते हैं तथा चींटी-मच्छर आदि के स्पर्श को पहचान पाते हैं। यह विज्ञान संबन्धी सत्वगुण के कार्य का संक्रान्त क्रम होता है। कभी स्थूल से सूक्ष्म में, सूक्ष्म से भी कारण में जाकर विलीन हो जाता है—वह संकोच भाव का क्रम होता है।

विकास क्रम में विज्ञान जब स्थूल शरीर कहे जाने वाले चर्म पर्यन्त तक फैल कर विश्राम पाता है, तब जागृत अवस्था होती है, शयन काल में संकोचक्रम में सूक्ष्म शरीर में विश्राम करते हुवे पंचभूत से समुत्पन्न स्थूलभाव को छोड़ते हुए स्वप्नमय संसरण में रहता है और यदि अधिक संकोच में केवल कारण शरीर में विश्राम पा जाता है, तब सुषुप्ति रूप गहन निद्रा में पहुंच जाता है ।।७७।।

२. इन संकोच विकासों के द्वारा तीन अवस्थायें होती हैं यह कहा गया है—जब विकसित होता हुवा विज्ञान चर्मपर्यन्त विश्रान्ति पाता है—तब जाग्रत अवस्था कही जाती है। संकुचित होते

हुवे भौतिक स्थूल शरीर भाव को छोडते हुवे सूक्ष्म शरीर में विश्रान्त होता है, तब स्वप्न अवस्था होती है और जब पुनः संकुचित होता हुआ केवल कारण शरीर में आ जाता है, तब सुषुप्ति अवस्था हो जाती है। इनमें जाग्रत अवस्था में तीनों शरीरों में व्यापक समुद्रभूत सत्व में तमोगुण विलीन रहता है। जब सत्व में संकोच होने लगता है तब स्थूल शरीर में तथा सूक्ष्म शरीर में तम की प्रवृत्ति अज्ञान रूप से हो जाती है।

इस प्रकार ये तीनों गुण पृथक्-पृथक् स्वभावी स्पष्ट रूप में विकसित होते हैं, उक्त पाँच प्रक्रियाओं में इनकी परस्पर अनुगति रहती है, ये परस्पर बंधे रहते हैं तो कभी विमुक्त भी रहते हैं। भोक्ता पुरुष में इनका भान सर्वदा होता है। "भोक्ता शब्द से भोग करने वाले स्त्री पुरुष सबका समान विचार होता है, पुर में रहने वाला जीव पुरुष कहलाता है" ।।७८।।

३. प्रकरण का उपसंहार करते हैं—उल्वण—उद्बुद्ध—व्यक्त अवस्था गुणों की होती है इनके रूप परस्पर में संवलित कभी रहते है, कभी विमुक्त भी रहते हैं। विमुक्त पद से सर्वथा अन्य का वियोग नहीं कहा जा रहा है, अपितु एक की प्रबलता रहने पर दूसरा दबा रहता है यह तात्पर्य है, जो प्रधान है वह बद्धभाव में कार्यरत है जो गौण है—वह कार्यरत नहीं है यह ही विमुक्तता है—विमुक्त गुण दूसरे प्रभावी गुण से दबा रहता है।

जैसे समुद्र की प्रकृति सदा तरङ्गमयी रहती है—उसके हेतु भूत वहां जल, वायु, उड़कर आ गिरने वाली धूल, समुद्र में चलने वाले नौका-जहाज जो परस्पर कभी संमिलित हो जाते हैं कभी आपस में टकरा कर दूर हो जाते हैं, फिर इकट्ठे हो जाते हैं, वे सब ही समुद्र की लहरों के कारण बनते हैं—आघात-प्रत्याघात से लहरें उत्पन्न विलीन होती हैं, वैसे ही गुणों का परस्पर भाव समझना चाहिये ।।७९।।

४. स्पष्ट जानकारी के लिए निदर्शन कहा गया है—पय (जल), मरुत (वायु), पांसु (उडने वाली धूल), प्लव (नौका जहाज आदि तथा समुद्र में स्थित बड़े बड़े जीव) ये सब समुद्र में चारों ओर फैले रहते हैं, इनकी परस्पर टकराहट भी होती है, कभी परस्पर संयुक्त हो जाते हैं, कभी वियुक्त भी हो जाते हैं, इनके द्वारा ही समुद्र की अवस्था 'ऊर्मिमती' अर्थात् लहरियों से आक्रान्त दिखाई देती है। वैसे ही सत्व आदि तीनों गुणों से परस्पर सम्मिलित तथा वियोजित रूप से पुरुष की प्रकृति दशा भी तरङ्गमयी अनुभव गम्य होती है। वास्तविक विचार में तो इन गुणों की इन विशेष अवस्थाओं से पुरुष कहे जाने वाले प्राज्ञ आत्मा में कोई भी विचार नहीं आता यह कथन का आशय है। इस प्रकार गुणों का परस्पर का आघात-प्रायाघात जिसका पहले प्रतिपादन किया गया, वह ही दृश्यमान जगत् का रूप है यह कथन अधिकरण के अन्तिम पद्य में हुआ है।

प्रकृति में, पुरुष पदवाच्य आत्मा की शक्ति रूपा वह प्रकृति सत्व-रज-तमोमयी होकर तीन रूपों में विभक्त होती हुई—जगत् की रचनादि क्रियाओं में व्यस्त है—उन गुणों के परस्पर आघातों से कभी वियुक्त—कभी संयुक्त, होती हुई—पुनः पुनः क्रियाओं की आयोजना करती हुई—अव्यक्त वह प्रकृति भी तरङ्गमयी होकर प्रवृत्त हो रही है ।।८०।।

इस प्रकार तरङ्गों के समान आचरण करने वाले इन गुणों के परस्पर सम्पर्क से जो अनन्त विभागों ने पृथक्-पृथक् खण्ड रूप भङ्ग होते हैं—वे ही इस जगत् रूप में देखे जाते हैं ।।८१।।

(४४) [1]उत्पन्नशिष्टत्रैगुण्याधिकरणम्

केचित्पुनः प्राहुरिमे त्रयो गुणा एको गुणो नैतदिदं पृथक् त्रयम् ।
अव्यक्तमेतत्प्रथमं तदेकवत् त्रिधा भवेद्व्यक्तिदशामुपेत्य तत् ।।८२।।

[2]शक्ती रसे कर्म तदस्तिनास्तिमत् तदेकमेवोत्तरतस्त्रिधा भवेत् ।
प्रवर्तना चापि निवर्तना रजस्तदन्तरे सत्त्वमथो तमो भवेत् ।।८३।।

[3]प्रवर्तनाऽन्ते च निवर्तनादितः स्तम्भः स्थितिः स्यात्तम उच्यते हि तत् ।
प्रवर्तनादौ च निवर्तनान्ततः स्थितिर्मतं सत्त्वमिति क्वचिन्मतम् ।।८४।।

[4]निवर्तनं सत्त्वमथ प्रवर्तनं रजस्तमः स्तम्भ इति क्रियाश्रयम् ।
यथा यथा कर्म निवर्तते क्रमात् तथा तथा सत्वगुणः प्रसीदति ।।८५।।

१. उत्पन्नशिष्ट—अब एक भिन्न मत कहा जा रहा है। इस मत में सत्व आदि गुण सांसारिक पदार्थों के उत्पादक नहीं माने जाते, जैसा कि सांख्य शास्त्र में कहा गया है। इस मत में ये गुण पहले से उत्पन्न पदार्थों में किसी प्रकार की विशेषता का आधान करने वाले होते हैं। इस कारण ही ये त्रिगुण समूह उत्पन्न पदार्थों में शिष्ट (अलग बचा हुवा) व्यवहार में आ रहा है, अथवा यह समझना चाहिये कि उत्पन्न पदार्थों का ये त्रैगुण्य विशेषण बनता है, ये अर्थ इस अधिकरण का है। प्रथम पद्य में कहा गया है कि इन गुणों का एक अव्यक्त रूप ब्रह्म वा पुरुष की शक्ति है, वह ही सबको उत्पन्न करती है, ये गुण उससे पृथक् होकर उत्पादक नहीं होते हैं।

कुछ अन्य विद्वानों ने कहा है—ये तीन गुण वास्तव में पृथक् रूप में तीन नहीं हैं, अपितु एक ही गुण सर्वप्रथम है—वह अव्यक्त नाम से व्यवहृत होता है। वह अव्यक्त जब व्यक्तभाव में आता है तब एक होता हुवा भी वह त्रिविध हो जाता है ।।८२।।

रस रूप मूल तत्व में जो शक्ति रूप है—वह कर्म रूप ही है, और वह 'अस्ति-नास्ति' अर्थात् उत्पत्ति-विनाशशील है—वह एक ही रूप सर्जन काल में त्रिविध हो जाता है। जगत् में प्रधानतया प्रवर्तना अथवा निवर्तना रहती है—वे दोनों ही रूप क्रियामय रजोगुण के हैं—इस रजोगुण में ही कभी सत्व की प्रवृत्ति है तो कभी तमोगुण की ।।८३।।

२. रस में जो शक्ति इस ग्रन्थ में विस्तार से कही गई है जो कि स्वभाव से अस्ति-नास्ति रूपा अर्थात् उत्पन्न—प्रध्वंस शीला है, और ये भाव प्रतिक्षण रहते हैं, उस शक्ति को ही कर्म पद से कहा जाता है। वह ही मुख्य शक्ति है उसे अव्यक्त नाम से कहा जाता है। सत्व-रज-तम इन शब्दों से उसका ही वर्णन होता है। प्रवर्तना और निवर्तना ये दोनों कर्म के रूप हैं— ये ही रजोगुण हैं। इन दोनों के अन्तराल में सत्व और तम का व्यवहार चलता है।

कर्म प्रवृत्ति के अन्त में तथा कर्म निवृत्ति के आरम्भ में जो स्तम्भ (विराम) रूप स्थिति होती है वह तम कहा जाता है। कुछ विद्वानों के मत में प्रवृत्ति के पहले और निवृत्ति के अन्त की स्थिति सत्व रूप मानी गई है ॥८४॥

३. पूर्व अधिकरण में सांख्य मत के अनुसार दो प्रकार के गुणों का स्वरूप कहा गया है कि, स्थिति और गति के भेद से तथा सुख दुःख मोह के भेद से इनको उत्पन्न करने वाले गुणों का अनुमान किया जाता है। वहां स्थिति और गति रस के आधार से ही व्यवहृत होती हैं यह कहा गया है। गति और स्थिति वास्तव में भिन्न भिन्न नहीं हैं अपितु एक ही कर्म की विशेष अवस्था हैं। गति के आरम्भ में और अन्त में स्थिति अवश्य देखी जाती है, अन्यथा स्थिति के बिना गति का व्यवहार ही सम्भव नहीं होता। जो कोई स्थिति भाव में ठहरा हुवा होवे वह ही चलने को प्रवृत्त होता है, चलने के अन्त में फिर स्थित होता है, तब ही गति कही जाती है। स्थिति भाव यदि न होवे तो गति का व्यवहार ही किसके आधार पर सम्भव हो सकेगा। वहां प्रवृत्ति के अन्त में और निवृति के पहले जो स्तम्भ रूप स्थिति भाव होता है—वह तम कहा जाता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि सत्व से ही निवृत्ति भाव होता है।

कर्म निवृत्ति सत्वरूप है, प्रवृत्ति रजोरूप है और स्तम्भ रूप विराम तम रूप है इस प्रकार ये तीनों क्रिया पर ही आधारित हैं। जैसे-जैसे क्रमशः कर्म की निवृत्ति होती है वैसे-वैसे ही सत्वगुण का प्राकटच होता है ॥८५॥

४. अन्य मत में यह निर्वचन भी होता है कि—निवृत्ति ही सत्व है, प्रवृत्ति रज है और प्रवृत्ति की रुकावट तम है। इस तरह एक क्रिया ही त्रिरूपा होती है। वास्तव में तो रस के आधार पर ही यह व्यवहार होता है—यह निर्वचन कर रहे हैं कि क्रिया रूप रजोगुण जैसे-जैसे निवृति होता है अर्थात् हटता जाता है, वैसे-वैसे ही सत्वगुण का आविर्भाव होता है और यह सत्वगुण स्वयं आविर्भूत होता हुवा रस को भी प्रकट कर देता है। इस कारण ही ये सत्व कहा जाता है। सत् नाम रस का है ये बार-बार कहा जा चुका है। उस सत् का ही ये भाव है—अर्थात् प्रकाशक है इस कारण ही इसका सत्व शब्द से प्रयोग होता है। तम इस शब्द का प्रयोग भी रस के आवरण करने के कारण ही होता है यह व्याख्यान भी पूर्व अधिकरण में हुवा है। स्पष्ट यह हुवा कि एक ही क्रिया का रस की प्रसाद अवस्था में सत्वनाम होता है और रस का आवरण करने पर क्रिया का ही नाम तम होता है, रस अपेक्षा रखते हुवे ही यह व्यवहार होता है। यदि रस से संबन्ध नहीं होता तो क्रिया को क्रिया नाम से वा रज नाम से ही कहा जाता, एक गुण में तीनों का समावेश करके त्रित्व का व्यवहार नहीं किया जा सकता था। इस कारण मानना होगा रस के संबन्ध की सदा अपेक्षा रखने वाला ही त्रित्व होता है। एक ही क्रिया तीन रूपों में व्यवहार में आ रही है—यह कथन तात्पर्य है।

प्रसादयत्येष रसं यतस्ततः सत्वं यतस्तं वृणुते तमस्ततः।
स्थिरं रसं यन्न भवेत्तमो रजस्तदेक एवायमनेकवद्भवेत् ॥८६॥

[१]एको हि रामः स विभिद्यते यथा भ्राता च पुत्रश्च पिता च कस्यचित्।
पितास्य पुत्रीं तनयः स्वमातरं पतिः स्वपत्नीं च निरीक्षतेऽन्यथा ॥८७॥

यदा हितायाचरतीति मित्रतामथाहितायाचरतीति शत्रुताम् ।
तटस्थता नोभयथापि वा चरन्नुपैति एकोऽपि गुणस्तथा त्रिधा ।।८८।।

स्त्रियाः स्तनग्राहिणि वृत्तयोऽन्यथा भवन्ति पत्यौ तनये चिकित्सके ।
रिपौ च मित्रे च समेऽन्यथा पुनः परासु पत्नीजननीषु चान्यथा ।।८९।।

एकां स्त्रियं पश्यति चान्यथाऽन्यथो भ्राता पिता पुत्रपती यतिः परः ।
ततस्तथा वृत्त्युदये प्रयोजकः संस्कारभेदः प्रकृतेः प्रदीयते ।।९०।।

[२]इत्थं गुणाः सत्वरजस्तमांसि क्षेत्रज्ञनिष्ठाः पुरुषस्य धर्माः ।
[३]सांख्यैर्यथोक्ताः पृथगात्मदृष्टाः स्वल्पस्तदाभास इहेरितोऽयम् ।।९१।।

इति सांख्याभासाः ।

इति ब्रह्मविज्ञाने परविद्यायामुत्तरार्धे बलप्रतिपत्तिविभागे गुणाधिकारः पूर्णः ।।

सत्व को सत्व इस हेतु कहा जाता है कि वह रस को प्रकाशित करता है और रस का आवरण करने के कारण तम कहा जाता है, जहाँ रस तम से आवृत न होकर क्रियान्वित रहे वहां रजोगुण का रूप होता है, इस तरह एक ही गुण अनेक समान हो जाता है ।।८६।।

एक ही गुण का त्रिविध भाव होने का लौकिक उदाहरण—जैसे राम नाम का एक व्यक्ति ही किसी का भ्राता किसी का पुत्र तथा किसी का पिता कहा जाता है । इस ही प्रकार पिता अपनी पुत्री को, पुत्र अपनी माता को तथा पति अपनी पत्नी को अन्यान्य भावों में देखते हैं ।।८७।।

१. जो सुख, दुख, मोह के भेद कहे गये हैं—वे भी भोक्ता पुरुष की वृत्ति की अपेक्षा रखते हैं अर्थात् अन्तःकरण की जैसी वृत्ति होवे वैसा ही अनुभव होता है । पदार्थों में सुख, अथवा दुःख की अनुगति नहीं रहती है । यदि पदार्थ में सुख, दुःख की अनुगति मानी जाय तो जो पदार्थ एक के लिए सुखकारी होता हो उसे सब के लिए सुखकारी हो जाना चाहिए । किन्तु संसार में विपरीत भाव देखा जाता है, कण्टक हमारे लिए अत्यन्त दुःखदायी होते हुवे भी ऊँट के लिए अति सुखदायक होते हैं । घृत और मधु हमारे लिए सुखकर होते हुवे भी मक्खी आदि के लिए घातक सिद्ध होते हैं । मनुष्यों में भी कोई स्त्री अपने पति को सुख देने वाली होती है—वह ही सपत्नियों के अर्थात् सोतों के लिए दुःख दायिनी हो जाती है । एक के ही तीन रूप मान लेने पर किसी पदार्थ का किसी के लिए सुखसाधक होना और किसी अन्य के लिये दुःखदायक हो जाना यह सांख्य की प्रक्रिया बुद्धि में बैठने वाली नहीं है । एक ही पदार्थ किसी के लिये सुख-कारक क्यों होता है ? दूसरे के लिए दुःखकारक क्यों हो जाता है ? इसका तर्कपूर्ण निर्णय नहीं किया जा सकता । अतः जैसे एक ही पुरुष में भिन्न-भिन्न पुत्र-भ्राता आदि के बर्ताव 'ये मेरे पिता हैं' 'ये मेरा भाई है' 'ये मेरा पुत्र है' आदि भिन्न-भिन्न भावों में होते हैं, व्यवहार में ये भेद प्रत्यक्ष देखे जाते हैं, वैसे ही भोक्ता की अन्तःकरण की वृत्ति के आधार पर ही सुख, दुःख, मोह आदि भेद भी होते हैं—यह बात ही बुद्धि में ठीक भासित होती है । ये वृत्ति भेद—

व्यवहारगत भेद ही चार पद्यों द्वारा स्पष्ट दिखाये गये हैं। अभिप्राय यह है कि भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के अन्तःकरण में रहने वाले विशेष संस्कार ही तत्तत् वृत्तियों के प्रयोजक होते हैं, पदार्थगत सत्व आदि गुण प्रयोजक नहीं होते।

लोक व्यवहार में हित कारक अनुकूल आचरण में मित्रता होती है, अहितकारी प्रतिकूल आचरण में शत्रुता तथा दोनों भाव न रहने पर तटस्थता हुवा करती है, वैसे ही एक गुण का तीन प्रकार का व्यवहार होता है ।।८८।।

स्त्रियों का दूध पीने वाले बालक के प्रति बर्ताव अन्य प्रकार का होता है। पति के प्रति अन्य प्रकार का तथा चिकित्सक के प्रति अन्य प्रकार का होता है। शत्रु के विषय में, मित्र के विषय में तथा तटस्थ के विषय में भिन्न-भिन्न व्यवहार होते हैं। इस ही प्रकार पुरुष के प्रेयसी के लिये, पत्नी के लिये तथा माता के लिये अन्यान्य व्यवहार होते हैं ॥८६॥

एक ही स्त्री व्यक्ति के लिए भ्राता, पिता, पुत्र, पति, संन्यासी तथा अन्य पुरुषों की विभिन्न दृष्टियां रहती हैं। इस प्रकार प्रकृति प्रदत्त संस्कार भेद ही भिन्न-भिन्न वृत्तियों का प्रयोजक होता है, संस्कार वश ही भिन्न-भिन्न वृत्तियों का उदय होता है ।।६०।।

इस प्रकार ये सत्व, रज, तम नाम के गुण क्षेत्रज्ञ-आत्मा में रहने वाले पुरुष के धर्म हैं। सांख्य में आत्मा से पृथक् भाव में जो इनका प्रदर्शन हुआ है, वह अल्प विचार से हुवा है, अतः यहां सांख्याभास कह कर ही उनका प्रदर्शन कराया गया है ।।६१।।

२. इस प्रकरण का उपसंहार किया जा रहा है—ये सुख, दुःख, मोह रूप सत्व आदि गुण क्षेत्रज्ञ नाम से कहे जाने वाले भोक्ता पुरुष में ही संस्कार रूप से रहते हैं, प्रत्येक पदार्थ में नहीं रहते।

३. सारे प्रकरण का उपसंहार—इस तरह विभिन्न सांख्यों में कहे गये वैदिक प्रक्रिया से भिन्न मत यहां संक्षेप से दिखाये गये हैं।

सांख्याभास प्रकरण की समाप्ति

ब्रह्म विज्ञान-पर विद्या में-उत्तरार्ध के बल प्रतिपत्ति विभाग में
गुणों का अधिकार पूर्ण हुवा।

————

(४५) कर्मरूपाधिकरणम्

[१]व्याचक्ष्महे ब्रह्मणि कर्मरूपाण्येकस्य पश्यन्ति यतोऽन्यथात्वम् ।
यस्योदयश्च प्रलयश्च रूपं तत् कर्म तद्धचस्त्यमृतेन पूर्णम् ।।१।।

[२]अव्यक्तसुप्तं किल शून्यसंज्ञं तन्मृत्यु सुप्तं तु निरात्मसुप्तम् ।
यद्वयक्तमात्मन्वि बलानुसृष्टं पूर्णं बलं कर्मपदे तदाहुः ।।२।।

तच्चोदयानुप्रलयप्रभेदात् प्रतीयते कर्म पुनस्त्रिधेदम् ।
भिन्नोदयानुप्रलयोऽस्ति यावांस्तावान् स वेदो भवतीह भिन्नः ।।३।।

[३]यः कर्मवेदः क्षणिकः स एकः सान्तानिकोऽन्यः क्रमिको द्वितीयः ।
प्रावाहिको यः स परस्तृतीयस्तस्मिन् द्वितीयः प्रथमो द्वितीये ।।४।।

यदस्ति मुख्यं क्षणिकं स्वरूपं क्षणेन तत्र प्रलयोदयौ स्तः ।
तैरप्यसंख्यैः क्षणिकैः सुदृब्धं सान्तानिकं तस्य परं स्वरूपम् ।।५।।

अमृतमय ब्रह्म में संबन्ध करने वाले कर्म रूपों की व्याख्या अब करते हैं, जिन कर्म स्वरूपों के कारण एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म के नाना रूपों में अन्यथा भाव देखे जाते हैं। कर्म का वास्तविक रूप उदय (उत्पत्ति) और प्रलय (नाश) हुवा करता है, अर्थात् कर्म तत्काल उत्पन्न होकर समाप्त हो जाता है किन्तु वह कर्म अमृत से पूर्ण रहने से स्थित रहता है ।।१।।

१. बल, शक्ति और कर्म तीनों समानार्थक शब्द हैं। प्रसुप्त—अविकसित अवस्था का नाम बल, विकासोन्मुखी अवस्था शक्ति और स्पष्ट विकसित अवस्था कर्म वा क्रिया कही जाती है, यह ग्रन्थ के आरम्भ में ही निर्देश किया जा चुका है। इनमें बल और शक्ति का विवरण कर दिया गया, अब क्रिया नाम से कहे जाने वाले कर्म का विवरण किया जाता है। ये बल-शक्ति और कर्म रूप त्रिक ब्रह्म नाम से कहे जाने वाले रस के आधार पर ही स्थिति पाता है यह निरूपण अनेक बार किया गया है। अधिकरण का आरम्भ करते हुवे उस बात का ही स्मरण कराते हुवे कहते हैं कि ब्रह्म में कर्म के रूपों की व्याख्या करते हैं, इन रूपों के द्वारा एक ब्रह्म की भी अन्यथा भाव में मनुष्य में नाना रूपता देखते हैं, उस कर्म का उदय और प्रलय यह ही स्वरूप है, अर्थात् उत्पन्न होकर तत्काल ध्वस हो जाना। उदित होकर तत्काल नष्ट हो जाने वाले कर्म की प्रतीति ही कैसे हो सकती है? इस जिज्ञासा शान्ति के लिए कहा है कि वह बल अमृत से पूर्ण रहता है। अमृत रूप रस के सहारे ही उसकी प्रतीति होती है, निराधार बल कदापि प्रतीत नहीं होता है। व्याकरण के महाभाष्यकार ने यह ही कहा है कि 'क्रियानामेयमत्यन्तापरिदृष्टा न शक्यापिण्डीभूताप्रदर्शयितुम्" अर्थात् यह क्रिया नाम का तत्व नितान्त परोक्ष है, देखा नहीं जा सकता, न ही इसका पिण्डभाव रूप समूह दिखाया जा सकता है।

अव्यक्त अवस्था में प्रसुप्त बल की शून्य संज्ञा होती है, वह ही मृत्यु है। जाग जाने पर भी जो आत्म चैतन्य से संबद्ध न होवे उसकी निरात्मसुप्त संज्ञा होती है। बल से उत्पन्न

होकर जब अन्य बल व्यक्त होकर आत्मचैतन्य का अनुगामी हो जाता है तब वह पूर्ण होकर कर्म पद से कहा जाता है ॥२॥

२. बल की तीन अवस्थाओं का पुनः स्मरण कराते हैं—जो सुप्त अव्यक्त रूप मृत्यु नाम का बल है—वह शून्य कहा जाता है। यदि व्यक्त होकर भी कार्य करने में समर्थ न होवे तो उसे निरात्म सुप्त कहते हैं। जब बल से उत्पादित कर्म रस को आत्मा भाव में ग्रहण कर लेता है तब वह पूर्ण कहा जाता है। कर्म भी उस अवस्था में पूर्ण कहा जाता है और बल भी कर्म को उत्पन्न करके ही पूर्ण होता है।

उदय होने के अनन्तर प्रलीन हो जाने वाला यह कर्म तीन रूपों में प्रतीति का विषय बनता है, अर्थात् कर्म तीन प्रकार का होता है। उत्पन्न होने के अनन्तर तत्क्षण ही नष्ट हो जाने वाली कर्म अवस्था से भिन्न जो कर्म की स्थिति होती है वह ही वेदनीय होती है—जानी जाती है ॥३॥

कर्म का ज्ञान तीन प्रकार का होता है—एक कर्म क्षणिक माना जाता है, अर्थात् क्षणमात्र स्थायी, इसमें रसानुसन्धान नहीं हो पाता। दूसरा कर्म का रूप वह है जब रस से संबद्ध होकर वह कर्म अन्य कर्म को सन्तान रूप में उत्पन्न करे—उस अवस्था में सन्तान क्रम चालू होता है, वह सान्तानिक कर्म है। तीसरा कर्म का प्रावाहिक रूप है—जिसमें कर्म सन्तति का प्रवाह चलता रहे। इस तीसरे प्रवाह रूप में दूसरे सन्तान रूप का अन्तर्भाव रहता है तथा दूसरे में प्रथम क्षणिक का अन्तर्भाव रहता है ॥४॥

३. कर्म का त्रिधावेद बता रहे है, वेद का अर्थ ज्ञान है। कर्म तीन प्रकार से जाना जाता है, अर्थात् कर्म के तीन रूप होते हैं। मुख्य मौलिक रूप इसका क्षणिक है, जिस क्षण में उत्पन्न होता है, उसही क्षण में विलीन हो जाता है। जब उस कर्म की क्रमशः सन्तति होती है, अर्थात् आत्मा रूप रस का आलम्बन पाकर वह क्रिया क्रम रूप में स्थायी बन जाती है—यह उस कर्म का सान्तानिक नाम से कहे जाने वाला दूसरा रूप होता है। आगे यह सन्तान क्रम भी जब प्रवाह रूप से स्थायी हो जाता है—वह तीसरा प्रावाहिक रूप है। इनमें प्रावाहिक रूप में सान्तानिक रूप अन्तर्भूत हो जाता है, तथा सान्तानिक में क्षणिक अन्तर्भूत रहता है। क्षणिक रूप ही सन्तान रूप बनता है और सन्तान ही प्रवाही हो जाता, आगे के पद्य में इसका ही विवरण स्पष्ट रूप में किया गया है। आगे पद्य में 'असंख्यैः' कहा है, उसका अर्थ यह है कि, कितने क्षणिक कर्मों को मिलाकर सान्तानिक रूप बनता है यह संख्यानियम नहीं होता, अर्थात् कोई सन्ततिभाव का रूप दशक्षणिकों से बनता है तो कोई सौ संख्या से अधिक क्षणकों को मिलाकर भी बनता है। ये सब आगे स्पष्ट हो जायगा।

कर्म का प्रथम मुख्य स्वरूप जो क्षणिक है, उसमें तत्क्षण ही उत्पत्ति और विनाश हो जाते हैं। उन असंख्य क्षणिक कर्मों से ग्रथित सान्तानिक दूसरा स्वरूप होता है ॥५॥

'सान्तानिके तु प्रलयोदयौ स्तो विभिन्नकालान्तरितौ पुनस्तौ।
यान्यत्र कर्माणि वदन्ति लोके सान्तानिकान्येव भवन्ति तानि ॥६॥

[२]तैरप्यसंख्यैः क्रमिकैः सुदृब्धं प्रावाहिकं तस्य परं स्वरूपम् ।
प्रावाहिकान्नास्ति परं स्वरूपं तदेव रूपं जगदेतदाहुः ।।७।।

सान्तानिक कर्म के क्रम में भी उत्पत्ति, विनाश तो होते हैं किन्तु उसमें अल्पकाल अथवा अधिक काल का अन्तर रहता है। लोक में जो कर्म कहे जाते हैं, वे सब सान्तानिक ही होते हैं। ये सान्तानिक कर्म उत्पन्न होकर कभी थोड़े समय तक रहते हैं तो कभी अधिक समय तक भी ।।६।।

१. सान्तानिक कर्म रूप में उदय और विनाश का काल नियमन भी नहीं होता है। कोई सान्तानिक रूप अल्पकाल तक रहता है, तो कोई बहुत समय तक भी ठहरा रहता है। लोक व्यवहार में जो कर्म नाम से अथवा क्रिया नाम से कहे जाते हैं वे सब सान्तानिक रूप ही होते हैं। जैसा कि 'देवदत्त भोजन पकाता है' इस कथन में पाचन रूप क्रिया एक पच् धातु से कही जाती है, किन्तु वह पाक रूप क्रिया गणनातीत क्रियाओं का समुदाय होता है। चुल्हा जलाने से आरम्भ करके परिपक्व चांवलों का पात्र जब चुल्हे पर से उतारा जाता है तब तक पकाता है इस वर्तमान काल का व्यवहार होता है। इससे चुल्हा जलाने से पाकानन्तर पात्र को चुल्हे पर से नीचे उतार लेने तक पाक क्रिया व्यवहार में सिद्ध होती है। वहां इन्धन का संयोजन, फूंक कर अग्नि जलाना, पात्र को उठाकर उसे चुल्हे पर रखना, उसमें चांवल आदि का निक्षेप इत्यादि सैंकड़ों क्रियाओं का अन्तर्भाव रहता है। बीच में होने वाली एक एक क्रियाओं में भी प्रत्येक में अनेक क्रियाओं का समुदाय रहता है। अमुक व्यक्ति अमुक के घर जाता है इत्यादि स्थल में गमन क्रिया सजातीय क्रियाओं की समष्टि रूप होती है। पैर उठाना, पैर रखना ये एकविधा क्रिया ही वहां होती है—उसकी ही बार बार आवृत्ति की जाती है। अपने घर से उठकर मित्र के घर पहुंचने तक सैंकड़ों हजारों बार पैर उठाना और रखना होता है। एक एक पैर के उठाने में भी भिन्न भिन्न आकाश प्रदेश से सम्बन्ध भेद होते हुवे बहुत सी क्रियायें होती हैं। इस प्रकार लोक में क्रिया नाम से व्यवहार में आने वाली सारी क्रियायें समष्टि रूप ही होती हैं, इसका समुचित विचार करना चाहिये। अध्ययन नाम की क्रिया भिन्न भिन्न अक्षरों का उच्चारण रूप होती है। उसमें एक अक्षर के बोलने में जिह्वा का एक स्थान से विभक्त होकर मध्य के आकाश प्रदेश का उलंघन करके अन्य स्थान में संयुक्त होने में बहुत सी क्रिया हो जाती हैं, इस तरह एक क्षण में बोले जाने वाले अनेक पदों में कितनी क्रियाओं का अन्तर्भाव हो जाता है इसका विचार करना चाहिये। एक क्षण के अति सूक्ष्म अंश से ऊपर नीचे रखे हुवे कमल पत्र सुई द्वारा एक साथ बींध दिये जाते हैं यह माना जाता है परन्तु विचार पूर्वक सोचने में तो ऊपर के प्रथम पत्र का जब तक वेध न हो जावे तब तक दूसरे पत्र से सुई का सम्बन्ध ही नहीं हो पाता तो सुई उसका वेध कैसे कर देगी? इस कारण वहां भी भेदन में क्रम अवश्य मानना होगा। उस भेदन क्रिया में एक एक पत्र से विभाग तथा नीचे के अन्यान्य पत्रों से सम्बन्ध इस तरह उस क्षण के सूक्ष्म भाग में ही सैंकड़ों क्रिया माननी पड़ेगी। उस क्षण का वह अति अल्प अंश और उस क्षणांश में होने वाली क्रिया किसी प्रकार भी बुद्धि द्वारा पृथक् रूप में नहीं समझी जा सकती, यह ही क्षणिक कर्म की अविचार्यता है। सान्तानिक कर्म की ही व्यवहार योग्यता होती है, यह सूक्ष्म विचार करना चाहिये।

सान्तानिक कर्मों में स्थायिता श्रा जाने से वहां एक क्रम बन जाता है—श्रतः सान्तानिक को क्रमिक भी कहा जाता है, वैसे असंख्य क्रमिकों से ग्रथित उस कर्म का तीसरा अन्तिम प्रावाहिक रूप हो जाता है। इस एक पर एक क्रम से बनी हुई कर्म की प्रवाह अवस्था में नित्यतासी भासित होने लगती है। प्रावाहिक रूप से अतिरिक्त कर्म का और कोई स्वरूप नहीं होता। यह प्रावाहिक रूप ही जगत् कहा गया है, अर्थात् कर्म प्रवाह ही जगत् है ॥७॥

२. बहुत से सान्तानिक कर्मों से एक प्रावाहिक रूप बनता है। नदी प्रवाह के समान एक एक प्रावाहिक में बहुत से सान्तानिक कर्म अन्तर्भूत हो जाते हैं, इसलिये वह प्रावाहिक कहा जाता है। जैसे खेत में धान का अङ्कुर निकल आवे—वह सान्तानिक रूप है। वैसे असंख्य अङ्कुरों की महावृद्धि हो जाने पर एक एक प्रावाहिक रूप हुवा और ऐसे बहुत से प्रावाहिक रूपों में सम्मिलित महा प्रावाहिक रूप भी प्रावाहिक ही कहा जाता है। वह ही संसार रूप होता है। इसके अतिरिक्त किसी भी कर्म रूप की व्याख्या नहीं की जा सकती। प्रवाह पद से ही सब परम्पराओं का संग्रह हो जाता है।

[1]प्रावाहिकं तन्न निरात्मकं स्यान्नात्मन्वितेषु क्षणिकं क्वचित्स्यात्।
उत्पन्ननष्टक्षणवत् तदात्मग्रहक्षणं न क्षमतेऽनुगन्तुम् ॥८॥

[2]अथाहुरेके क्षणिकं न चेत्स्यादात्मन्वि तर्हि न तत्प्रतीयुः।
उत्पत्तिरस्य स्थितिरस्य नाशस्तत् त्रिक्षणं कर्म वदामि तस्मात् ॥९॥

स्थितिक्षणेन क्षणिकत्वमन्ये प्राहुः स्थितावेव परस्य नाशः।
परस्य चोत्पत्तिरिति क्रमेण धारा द्विधाऽस्त्यन्तवती निरन्ता ॥१०॥

प्रवाहकर्मास्ति निरन्तधारं सान्तानिकं कर्म तु सान्तधारम्।
अथाद्यकर्म क्षणिकं त्वधारं त्रीण्यप्यमून्यात्मगतानि वीक्षे ॥११॥

(४६) प्रवाहाधिकरणम्

[3]प्रवाहरूपेण बलेन लक्षितं यद् ब्रह्म यत्सर्वमिदं बिभर्ति हि।
तद्ब्रह्मरूक्षयः स्युस्तदुपासना कृता यथार्थतज्ज्ञानकृते समर्थते ॥१२॥

कर्म का प्रावाहिक रूप अमृतमय आत्मतत्व से शून्य कभी नहीं होता और आत्मानुगामी कर्म में क्षणिकता नहीं होती, अर्थात् स्थिरता आजाती है। उत्पन्न होकर तत्काल नष्ट हो जाने वाले क्षणिक कर्म के समान आत्मानुगामी कर्म की अनुगति नहीं हो सकती ॥८॥

१. प्रावाहिक रूप आत्म सहकार के बिना सम्भव नहीं हो सकता, रस से अनुगृहीत कर्म की ही सन्तति अथवा प्रवाह रूपता सम्भव होती है, अन्यथा क्षणिक जो तत्काल विलीन हो जाता है, उसका सन्तान भाव कैसे बन सकता है, और फिर प्रवाह भी कैसे बन सकता है। रस ही आत्मा है अतः प्रावाहिक रूप सात्मक ही होता है, अर्थात् रस सहित होता है। क्षणिक कर्म सात्मक नहीं होता। उत्पत्ति होते ही नष्ट हो जाने वाले कर्म का रसमय आत्मा के साथ संबन्ध करने

का काल भी कैसे सम्भव हो सकता है ? अतः सन्तान रूप पा जाने पर ही रसरूप आत्मा से सम्बन्ध सम्भव होता है—यह एक मत है। अन्य मतावलम्बी इसको मान्यता नहीं देते। उनके कथनानुसार, रस का सम्बन्ध होने पर सन्तान रूप होना और सन्तान रूप हो जाने पर रस का सम्बन्ध हो सकता यह अन्योन्याश्रय दोष आ जाता है। यदि क्षणिक कर्म का आत्मा से सम्बन्ध नहीं होगा तो उसका सन्तान रूप ही कैसे बनेगा। इस हेतु कर्म को स्वस्वरूप से ही तीन क्षण तक स्थित रहने वाला मानना चाहिये, एक कर्म का उत्पत्ति क्षण, दूसरा स्थिति क्षण और तीसरा बिनाश क्षण। स्थिति क्षण में आत्मा से सम्बन्ध होकर उससे सन्तान रूप सिद्ध होना माना जा सकता है।

एक अन्यमत है कि यदि क्षणिक कर्म की आत्मानुगति नहीं होवे तो उसकी उत्पत्ति रूप प्रतीति ही नहीं हो सकेगी, अतः उत्पत्ति, स्थिति और विनाश ये तीन क्षण कर्म के मानना समुचित है ॥९॥

२. अन्य मत में स्थिति और विनाश का एक ही क्षण मानते हुवे कर्म के दो क्षण ही माने जाते हैं। एक के स्थितिक्षण में ही उसके द्वारा उत्पादित दूसरे कर्म की उत्पत्ति हो जाती है और स्वयं की समाप्ति हो जाती है, इस तरह सन्तान क्रम बन जाता है। स्थिति भाव के क्षणिक होने से ही उस कर्म की क्षणिक संज्ञा होती है। सन्तान ही धारा पद से कहा जाता है। वह धारा दो तरह की होती है, एक अन्तवती और एक अनन्ता। अन्त हो जाने वाली धारा को सन्तान कहा गया है और अनन्तधारा को प्रवाह। मुख्य क्षणिक कर्म में तो धारा होती नहीं है अतः वह कर्म आधार ही होता है। इस तरह क्षणिक, सन्तान और प्रावाहिक ये तीनों ही रस का आधार पाते हुवे आत्मानुगामी देखे जाते हैं। निरात्मक कर्म नहीं होता है।

स्थिति क्षण की क्षणिकता के कारण ही कर्म की क्षणिकता कही जाती है, उस स्थिति क्षण में अन्य कर्म की उत्पत्ति और स्थिति पाये हुवे का विनाश इस क्रम से इस मत में कर्म धारा दो प्रकार की हो जाती है, एक समाप्त हो जाने वाली अन्तवती धारा और एक अनन्त धारा ॥१०॥

प्रवाह रूप कर्म अनन्त धारा वाला होता है, सान्तानिक की धारा का अन्त हो जाता है, सब से प्रथम क्षणिक कर्म धारा शून्य होता है किन्तु कर्म के ये तीनों रूप आत्माश्रित ही होते हैं, यह ही देखा जाता है ॥११॥

प्रवाह रूप जल (कर्म) के द्वारा लक्षित प्रकट किया गया—जो ब्रह्म है, वह ही (इदं) कहलाने वाले इस जगत् का धारण तथा पोषण करता है। इसका साक्षात् सर्व दर्शन संभव नहीं होता, अतः उसकी भक्तियाँ (अंश-अवयव) जो जगत् रूप में फैली हुई हैं—उन अंशों को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उपासना करने पर उसकी ही कृपा से उसका यथार्थ ज्ञान संभव होता है। "जगत् के अंश भाव को श्री भगवद्गीता में 'ममैवांशोजोवलोके' कहकर स्पष्ट बता दिया है" ॥१२॥

३. अनन्त कर्म प्रवाह के द्वारा समीपवत् उपलक्षित किया गया—अर्थात् उस कर्म का वैसा प्रवाह रूप जिसका आधार पाकर प्रवृत्त होता है वो रस ही ब्रह्म पद द्वारा कहा जाता है। वेदान्तशास्त्रों

में 'मायाशबलित ब्रह्म' अथवा 'विशिष्ट ब्रह्म' नाम से इसका कथन हुवा है। सारे जगत् को धारण करने के कारण ही यह ब्रह्म कहलाता है। भर्म शब्द के वर्ण परिवर्तन से ब्रह्म शब्द का निर्माण प्रथम प्रकरण में कहा गया था, उसका स्मरण करना चाहिये। ब्रह्म की अनन्तता के कारण कोई न तो इसे पूरी तरह मन में धारण कर सकता है और नहीं वाणी द्वारा प्रकट कर सकता है। अतः उसके भाग अंश ही संसार में देखे जाते हैं। उन अंशों की उपासना यदि की जावे, तो उससे ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान होना सम्भव हो सकता है।

[1]परात्मनि त्वात्मसमर्पणं मनोद्वारा कृतं योग उपासना च सा।
उपासनार्चा भवतीह सा द्विधा प्रतीकतो वाप्यनुरूपचित्रत: ॥१३॥

[2]तदेकदेशेन समग्रतद्ग्रहः प्रतीकशब्देन निरुच्यते बुधैः।
करे धृतोऽसौ ध्रियते हि पूरुषः स सेवितः स्यादिह पादसेवया ॥१४॥

[3]कर्मप्रवाहोऽयमनाद्यनन्तो जगन्मयो यः स मतः परात्मा।
न तत्र सर्वात्मनि युज्यतेऽल्पं मनः प्रतीके क्रियते स योगः ॥१५॥

[4]जगत्प्रवाहे बहुरूपभिन्ने यदेकरूपं भवतीह गङ्गा।
धृत्वा प्रतीकेन तदर्प्यते यच्चित्तं परात्मन्युचितं स योगः ॥१६॥

पर आत्मा में अर्थात् परब्रह्म में अपने आपका मन के द्वारा समर्पण कर देना योग तथा उपासना कहलाता है। ये उपासना और अर्चा (पूजा) दो प्रकार की होती है। एक प्रतीक (अंश-प्रतिमा) रूप में अथवा अनुरूप चित्र के द्वारा, अर्थात् जिस ब्रह्मांश की उपासना की जावे उसके अनुरूप चित्र में मनोयोग करना ॥१३॥

१. उपासना शब्द का अर्थ बताया गया है—पर आत्मा में—पूर्व पद्य में कहे गये पर ब्रह्म में निजका मन के द्वारा समर्पण—एकाग्रमन से ब्रह्म चिन्तन ही उपासना शब्द से, तथा योग शब्द से कहा जाता है। उपासना शब्द में उप यह उपसर्ग समीपता का बोधक है, जिसकी उपासना की जावे—वह उपास्य होता है, उस उपास्य के समीप आसना स्थिति को ही उपासना कहते हैं और वह स्थिति मन के द्वारा ही होती है। इससे मन का उपास्य में समर्पण ही फलित होता है। योग शब्द का अर्थ तो सम्बन्ध होना प्रसिद्ध ही है। वह उपासना ही अर्चा, पूजा आदि शब्दों से भी व्यवहार में कही जाती है। यद्यपि चित्त की एकाग्रता के साथ उपास्य में स्थापना को ही उपासना माना जाता है, तथापि चन्दन माला आदि समर्पण रूप पूजा से चित्त की एकाग्रता में सहायता मिलती है—अतः उपासना की साधन होने से पूजा भी उपासना शब्द से कही जाती है। यह उपासना दो प्रकार की होती है—प्रतीक उपासना तथा अनुरूप चित्र उपासना।

पदार्थ के एक अंश का ग्रहण कर लेने मे संपूर्ण पदार्थ का ग्रहण विद्वज्जन मान लेते हैं, उस प्रक्रिया को प्रतीक शब्द से कहा जाता है। जैसे किसी मनुष्य का हाथ पकड़ लेने पर संपूर्ण पुरुष का पकड़ लेना माना जाता है अथवा माता, पिता, गुरू आदि की चरण सेवा मात्र से संपूर्ण शरीर की सेवा मान ली जाती है ॥१४॥

२. प्रतीक उपासना का विवरण—प्रतीक शब्द का अर्थ खण्ड होता है। एक खण्ड अर्थात् अवयव में सम्पूर्ण पदार्थ की बुद्धि को प्रतीक उपासना कहते हैं। जैसे नदी-पर्वत आदि परब्रह्म के ही अंशभूत हैं, उनमें परब्रह्मरूप की भावना प्रतीक उपासना है। ये प्रक्रिया लोकव्यवहार में भी होती है, उस से प्रतीक उपासना की स्वाभाविकता बताई गई है— किसी मनुष्य का हाथ पकड़ लेने पर, इस मनुष्य को मैंने पकड़ लिया ऐसा व्यवहार सब कोई करतें हैं। वास्तव में तो वहां मनुष्य के शरीर का अंशभूत हाथ मात्र ही पकड़ा जाता है, परन्तु उतने मात्र से मनुष्य को पकड़ लिया ऐसा व्यवहार होता है और वो मिथ्याबुद्धि नहीं मानी जाती क्योंकि उसमें कभी कोई आपत्ति नहीं मानी जाती। बाधितबुद्धि को मिथ्याबुद्धि कहा जाता है किन्तु वैसी बुद्धि में कभी बाधा का अनुभव नहीं होता है। इस ही प्रकार से केवल चरण सेवा करके ही गुरु अथवा पिता की सेवा करली गई ऐसी स्वाभाविक बुद्धि भी सब की होती है।

ब्रह्म में बल रूप कर्म का प्रवाह अनादि-अनन्त है, यह प्रवाह कब आरम्भ हुआ यह कोई नहीं जानता अतः अनादि है—कब, कहां इसका अन्त होवेगा, यह भी कोई नहीं जानता अतः यह प्रवाह अन्त रहित अनन्त भी है, वह परब्रह्म जगत्मय है यह माना गया है, अर्थात् कर्म प्रवाह को धारण करता हुवा वह पर-आत्मा (परब्रह्म) ही विश्व रूप बना हुवा है। इस अनन्त विश्वरूप में सर्वतो भावेन मनुष्य का यह अल्प मन संयोग नहीं पा सकता—अतः इस अल्पमन का योग प्रतीक में ही किया जाता है ॥१५॥

३. पूर्व कथित का ही स्पष्टीकरण है कि तुच्छ मनुष्य के मन के द्वारा ये अनादि—अनन्त जगत् का प्रवाहरूप समग्रभाव से ग्रहण नहीं किया जा सकता इस कारण उस विश्वरूप के किसी अंश-विशेष में ही मन का समर्पण होता है। स्पष्ट हुवा कि प्रतीक की ही उपासना सम्भव होती है—समग्र की नहीं।

विशिष्ट ब्रह्मस्वरूप यह जगत् का प्रवाह जो बहुत से रूपों में भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहा है, उन रूपों में गङ्गा भी एक रूप है। उस ब्रह्म प्रतीकरूपा गङ्गा में उपास्यभाव से चित्त का एकाग्र समर्पण यदि किया जाय तो वह समर्पण स्वरूप योग परात्मा-परब्रह्म में ही होवेगा और समुचित माना जायगा ॥१६॥

४. कथित अर्थ में दृष्टान्त—नानारूपों में विभिन्न इस जगत् प्रवाह में एक गङ्गाप्रवाह भी है। उस प्रतीक भूतगङ्गाप्रवाह में यदि मन समर्पित किया जाता है तो पर-आत्मा में ही योग होता है, शरीर के अवयवभूत हाथ के ग्रहण से पुरुष ग्रहण के समान। पद्य के अन्त में उस योग को उचित कहा गया है, उसमें प्रश्न उठता है कि गङ्गाप्रवाह में मन के समर्पण को ही उचित क्यों बताया गया, किसी अपवित्र स्थान मे चित्त का समर्पण भी तो ब्रह्म में समर्पण ही माना जायगा, यह विचार उचित नहीं है। यद्यपि पवित्र अथवा अपवित्र सब ब्रह्म का ही अंश होता है, परन्तु पवित्र स्थान में समर्पण किये गए मन में प्रसन्नता होती है अतः मन वहां रमता है। अपवित्र पदार्थ में उद्विग्नता से चित्त की स्थिति नहीं हो पाती इसलिए वहां उपासना सम्भव नहीं होती। लोक व्यवहार में भी गुरु, माता, पिता आदि का पूजन करते हुवे शिर आदि पवित्र अङ्ग में ही तिलक आदि स्वाभाविक माने जाते हैं।

[1]गङ्गाप्रवाहेण मनोऽवगाहं जगत्प्रवाहे यदि कोऽपि कुर्यात् ।
स प्रत्ययः स्यादनुरूपचित्रप्रदर्शनाच्चित्रवतः स्वरूपे ।।१७।।

[2]गङ्गाप्रवाहोऽस्ति जलप्रवाहो जलं तदस्ति त्रिपथानुगामि ।
अधः पृथिव्यामिह तिर्यगूर्ध्वं वायौ च तस्मात् त्रिपथा हि गङ्गा ।।१८।।

गङ्गा प्रवाह के दृष्टान्त में प्रतीक उपासना के साथ-साथ अनुरूप चित्र उपासना भी संगत की जारही है—गङ्गा प्रवाह के द्वारा तत् सदृश ब्रह्म में जगत् प्रवाह रूप में यदि कोई मन को संयत करे तो ब्रह्म के समुचित ज्ञान का अनुरूप चित्र माना जा सकता है—इस चित्र के चिन्तन प्रवाह का सादृश्य बताया गया गङ्गा के अनन्त प्रवाह के समान कर्म का भी ब्रह्म में अनन्त प्रवाह रूप जगत् चल रहा है—यह चिन्तन विषय रहता है। इसके द्वारा उस चित्रवान में जिसका यह चित्र चिंतन किया जा रहा हो—उपासका प्रवेश हो जाता है। उक्त दृष्टान्त का अन्य सादृश्य दिखाया जारहा है—गङ्गा प्रवाह रूप है-वह गङ्गा का जल तीन मार्गों का अनुगमन करता है—अधो भाग का प्रवाह भूमि में होता है ।।१७।।

१. उक्त दृष्टान्त में ही उपास्य के अनुरूप चित्र की उपासना को भी अनुगत कर रहे हैं—जैसे गङ्गा का प्रवाह है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् का प्रवाह है, इस प्रकार दोनों के सादृश्य की भावना करते हुवे चित्त का यदि समर्पण किया जाय तो वह ही अनुरूप चित्र उपासना कही जाती है। जैसे चित्र देखकर चित्रित मनुष्य का अथवा हाथी-घोड़े का बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लिया जाता है, वैसे ही यहां भी समानता होने से परब्रह्म में बुद्धि का समर्पण होता है— इस तरह यह अनुरूपचित्र उपासना कही गई है। यह भी मिथ्याबुद्धि नहीं होती क्योंकि ज्ञानान्तर इस का बाध (खण्डन) नहीं होता। काव्यप्रकाशग्रन्थ के रस प्रकरण में चित्र में देखी गई अश्वबुद्धि की सम्यक्, मिथ्या, संशय तथा सादृश्य ज्ञान से बिलक्षणता समर्थित की गई है। इस रीति के अनुसार ही शिष्टजन शालग्रामशिलादि में विष्णु की उपासना करते हैं। शालग्रामशिला में मध्य-भाग में स्वर्ण रहता है और चारों तरफ कालेवर्ण का पत्थर होता है। वैसे ही ब्रह्माण्ड में भी मध्य में स्वर्ण के समान सूर्य भासमान रहता है और उसके चारों ओर अनन्त आकाश में कृष्ण वर्ण का तम रहता है, इस प्रकार ब्रह्माण्ड की समानता से ब्रह्माण्डमय उसके अधिष्ठाता भगवान् विष्णु की उपासना की जाती है। मण्डलाकार शालग्राम पूजा के योग्य होते हैं, मण्डलाकार ही ब्रह्माण्ड का स्वरूप माना जाता है। सूर्य भी एक स्थान पर स्थित नहीं रहते अपितु अपने स्थान से आगे चलते रहते हैं। जो भूमि का प्रचलन मानते हैं उनके मत में भी हमारी भूमि की अपेक्षा सूर्य की स्थिरता भले ही मानी जावे, किन्तु वास्तविक वस्तुविचार में तो कोई सांसारिकवस्तु स्थिर नहीं होती है—अतः सूर्य का भी भ्रमण होता ही है। वेद के सिद्धान्त में तो सूर्य का परमेष्ठिमण्डलपर्यन्त परिक्रमण ही स्वीकार किया जाता है और सूर्य के चलने पर ही ब्रह्माण्ड भी संचलित रहता है। सूर्य की किरणों से जितना प्रदेश आक्रान्त होता है, वह ही ब्रह्माण्ड कहा जाता है। पृथक्-पृथक् स्थान में सूर्य की स्थिति रहने पर किरणों के फैलने का प्रदेश भी भिन्न-भिन्न ही होता है, जैसे चलायमान दीपक की किरणों से आक्रान्त प्रदेश भिन्न होता है। इस तरह विचार करने पर किरणों से आक्रान्त भिन्न-भिन्न प्रदेशों की एकीकरण भावना से अनेक मण्डल गर्भित लम्बा आकार उसका बनेगा, अतः वैसे प्रलम्बाकार नर्मदेश्वर को शिष्टजन

शिवरूप में उपासना करते हैं। वैसे ही शिव, विष्णु आदि की आद्या, षोडशी आदि शक्तियों के जिन आकारों की उपासना की जाती है, उनमें भी उन-उन रूपों की और उनके तत्तत् आयुधों की ब्रह्माण्ड स्थित विभिन्न पदार्थों से समानता का वर्णन विष्णुपुराण, शिवपुराण आदि में तथा तन्त्र शास्त्र में किया गया है। वह भी अनुरूप चित्र उपासना ही होती है। ये सारी उपासना आर्य संस्कृति में प्रसिद्ध हैं। सारी मूर्तियां परब्रह्म की अंशभूत ही होती हैं इस बुद्धिविचार से ये सब प्रतीक उपासना भी कही जा सकती हैं। फलित यह होता है कि अंशबुद्धि की भावना करने पर ये सब प्रतीक उपासना कही जायंगी और सादृश्यबुद्धि भावना में अनुरूप चित्र उपासना मानी जायगी। अन्य उदाहरण भी आगे उपासना अधिकरण में वर्णन किये जायंगे।

गङ्गा के दृष्टान्त का जगत् प्रवाह से अन्य प्रकार का सादृश्य भाव दिखाया जारहा है—गङ्गा का प्रवाह जल प्रवाह रूप होता है, वह गङ्गाजल तीन मार्गों का अनुगमन करता है, अधोभाग का प्रवाह यहां भूमि में होता है, तिरछे प्रवाह से तट के वृक्षों का सिंचन करता है तथा वायु को शीतल बनाता है। ऊपर सूर्य द्वारा आकर्षित होता है। इस हेतु त्रिपथ गामिनी गङ्गा कही जाती है। जगत् प्रवाह की त्रिपथ गामिता आगे के पद्य में बताई जायगी ॥१८॥

२. गङ्गाप्रवाह का और जगत् के प्रवाह का सादृश्य, बुद्धि में बैठाने के लिए विवरण करते हैं—जल के प्रवाह को ही गङ्गाप्रवाह नाम से कहा जाता है। जल की गति तीन रूपों में विभक्त होकर होती है, जल का कुछ अंश भूमि में नीचे प्रवेश कर जाता है, उस से ही नीचे का भूमिभाग सदा आर्द्र रहता है—जिसे तराई कहते हैं। कुछ गङ्गाजल का अंश सूर्य की किरणों से खिच कर ऊपर चला जाता है—जिससे मेघों के उद्भव में सहायता होती है। कुछ अंश तिरछा होकर वायु में प्रसरण करता है। उस से ही जल के समीपस्थ वायु में शीतलता का अनुभव होता है। इस प्रकार स्वभाव से जल की त्रिपथ अनुगति से गङ्गा को त्रिपथगा कहा जाता है। पुराणों में तो सुमेरुप्रान्त से निकलकर बहती हुई गङ्गा को तीन दिशाओं में गति होने से उसे त्रिपथगा कहा है—वह भी समुचित है। सामान्य जल की भी त्रिपथ गति स्पष्ट ही होती है।

[1]जगत्प्रवाहोऽपि बलप्रवाहो बलं तदास्ति त्रिपथानुगामि।
तमो रजः सत्वमिति क्रमेण पृथक् त्रिधारा प्रकृतिस्तथैषा ॥१९॥

[2]त्रिधापि दृश्येत जलं जलाशये क्वचित् प्रवाहि प्रतरां न चोर्मिवत्।
महोर्मि तु क्वापि न च प्रवाहि तत् क्वचित् प्रवाहि प्रतरां महोर्मि च ॥२०॥

[3]इदं तु पश्यामि बलं बलाशये सदा प्रवाहि प्रतरां महोर्म्यपि।
न च प्रवाहप्रभवः प्रतीयते परायणोऽप्यस्य न चावसीयते ॥२१॥

[4]गङ्गाप्रवाहे क्वचिदास्थितः पुरः पश्यामि गम्भीरगतिक्रमं समम्।
क्षणे क्षणे क्षीण[5]विलक्षणक्रमं क्रमागतं भिन्नमभिन्नवज्जलम् ॥२२॥

जगत्प्रवाहेऽपि तथा स्थितः पुरः पश्यामि गम्भीरगतिक्रमं समम्।
क्षणे क्षणे क्षीण[6]विलक्षणं क्रमं क्रमागतं भिन्नम[7]भिन्नवद्बलम् ॥२३॥

जगत् प्रवाह—बल प्रवाह रूप है और वह बल तम, रज, सत्व के क्रम से त्रिपथानुगामी होता है। इस प्रकार गङ्गा प्रवाह के समान यह प्रकृति भी पृथक् भावों में त्रिधारा हो रही है ॥१९॥

१. वैसे ही जगत् प्रवाह में भी त्रिपथगामिता योजित कर रहे हैं। जगत् का प्रवाह कहें अथवा बल का प्रवाह कहें, बात एक ही है—इसका निरूपण तो ग्रन्थ में विस्तार से हो चुका है, और बल सत्व, रज तथा तम रूप से त्रिरूप कहा गया है—अतः बल की भी त्रिपथ गामिता स्पष्ट होती है। इस प्रकार बल रूपा प्रकृति सत्व आदि गुणों द्वारा त्रिधारा वाली जाननी चाहिये।

जलाशय में जल की भी तीन स्थितियां देखी जाती हैं, कहीं प्रवाह तीव्र रहता है, लहर-तरंग नहीं पड़ती, कहीं तरंग खूब होती हैं, प्रवाह नहीं होता, और कहीं तरंग भी खूब पड़ती है और प्रवाह भी तीव्र होता है। ये तीनों क्रम देखे जाते हैं ॥२०॥

२. अन्य सधर्मता कुछ विधर्मता के साथ कही गयी है—जल में प्रवाह, लहरें, कहीं दोनों, इस तरह जल की त्रिविधता प्रतीत होती है। कहीं केवल प्रवाह ही रहता है, कहीं तरंग ही रहती हैं, तो कहीं प्रवाह और तरंग दोनों जल में दीख पड़ते हैं। प्रतराम्—का अर्थ अतितीव्र प्रवाह होता है, अत्यन्त प्रवाह अवस्था में तरंग नहीं पड़ती। कहीं लहरें तो बहुत देखी जाती हैं किन्तु वहां प्रवाह का भास नहीं होता। कहीं दोनों विशिष्ट रूप में देखे जाते हैं। इस प्रकार तीनों भाव प्रतीति में आते हैं।

बलाशय रूप ब्रह्म में बल की कुछ विशेषता देखी जाती है, वह सदा प्रवाही ही रहता है—उस प्रवाह का वेग भी 'प्रतरां'—अति तीव्र होता है और उस बल प्रक्रम में लहरें भी बहुत उठती हैं, किन्तु विशेषता यह है कि बल प्रवाह का उदय कब और कहां से हुवा है और किस में लीन होकर इसका अवसान होगा यह कोई नहीं जान सकता एवं इसके आधारभूत ब्रह्म का भी कभी अवसान नहीं होता ॥२१॥

३. गङ्गा प्रवाह के समान बल में भी प्रवाह भाव अथवा तरंगभाव अन्तर्दृष्टि रखने से अनुमित होते हैं। बिना रुकते हुवे सतत गतिशील होने से बल का प्रवाह रूप, बल के ऊपर अन्य बल का आरोहण—उससे समुत्पन्न ऊर्मियां—लहर अथवा कर्म ग्रन्थि कही जाती हैं। दोनों भाव सर्वत्र प्रतीत होते हैं—यह विशेषता है। ये एक दूसरी विशेषता और है कि—जल प्रवाह का तो उद्गम स्थान और जहां जाकर प्रवाह विलीन होता है वह समाप्ति स्थान सब जगह प्रायः प्रतीत हो जाता है, किन्तु बल के प्रवाह का उद्गम कहां से होता है और कहां इसका समापन होता है, यह प्रतीति कभी भी किसी को भी नहीं होती है—अतएव बल प्रवाह अनादि—अनन्त कहा जाता है वेद तथा स्मृतियों में। इस प्रकार की विलक्षणता रहने पर भी पूर्व कथित समानता के सहारे उस सूक्ष्म प्रवाह में बुद्धि का समर्पण किया ही जा सकता है, अर्थात् गङ्गा को आधार बनाकर कर्म प्रवाह विशिष्ट ब्रह्म की अनुरूप उपासना यहां संभव हो सकती है।

गङ्गा के तट पर कहीं बैठ कर सामने देखते हुवे कभी तो समान रूप में गम्भीर गति का क्रम देखा जाता है, और क्षण-क्षण में कभी गति की क्षीणता दिखाई देती है, कहीं प्रवाह क्रम में अन्य विलक्षणता आ जाती है, और क्रमशः आने वाला जल यद्यपि स्वभावतः

भिन्न होता है तथापि सर्वत्र धारा का एक ही रूप अभिन्न के समान भासमान होता है ॥२२॥

४. दो पद्यों द्वारा अन्य समानता भी स्पष्ट कही गई है।

५. प्रवाह का क्रम क्षण क्षण में भिन्न देखा जाता है, कभी क्षीण और कभी पहले से विलक्षण जान पड़ता है, यह तात्पर्य है।

वैसे ही तटस्थ भाव से सामने आते हुवे जगत् प्रवाह को देखने पर कहीं समान रूप का गम्भीरगति का क्रम देखा जाता है, कहीं क्षण-क्षण में क्षीणता दिखाई देती है और क्रमशः आने वाला यह जगत् प्रवाह रूप बल-प्रवाह व्यक्तिशः भिन्न होता हुवा भी अभिन्न एकसा प्रतीत होता है, अर्थात् चेतनावस्था की दौड़ धूप एक सी जान पड़ती है ॥२३॥

६. जगत् में बल का प्रवाह भी कहीं क्षीण तथा कहीं विलक्षण सा प्रतीत होता है। कहीं बड़े बड़े नदी पर्वत आदि भी भूमिसात् होकर अन्तर्विलीन हो जाते है तो कहीं अरण्य भाव में भी नहीं गिने जाते। जैसे महाकवि भवभूति ने उत्तर रामचरित काव्य में भगवान्‌राम का कथन उपनिबद्ध किया है—

पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासंयातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम् ।
बहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति ॥ इति ।

राज्यारोहण के अनन्तर भगवान् राम, सीता की वन निरीक्षण की इच्छा होने पर जब पुनः वन में गए तो वहां की स्थिति देखते हुए बोले कि 'पहले जहां जल के स्रोत बहते थे वहां अब नदी के सूखे तट दिखाई देते हैं, जहां घने वृक्ष थे, वहां विरल भाव में अब कहीं कहीं वृक्ष दीख पड़ते हैं। बहुत लम्बे काल के अनन्तर देखने से यह वन दूसरा सा प्रतीत हो रहा है, केवल पर्वतों के पूर्ववत् संनिवेश को देखकर यह वह ही वन है, ये बुद्धि में आ रहा है। आदि।

७. बल स्वभावतः क्षणिक होने के कारण प्रतिक्षण में विलक्षण होता है, तथापि सदास्थिर रस का सहारा पाकर अभिन्न सा प्रतीत होता है, गङ्गा आदि में सामने बहते हुवे जल के समान। उससे ही पुरातन दृष्ट यह—वह ही है ऐसी प्रत्यभिज्ञा (पूर्व का स्मरण) उदित होती है। गङ्गा जल में स्थान की एकता प्रत्यभिज्ञा की हेतु बनती है। बल में आधार की एकता पूर्व स्मरण की हेतु होती है।

[1]इयान् विशेषः पुनरत्र दृश्यते सरित्प्रवाहोऽस्ति विशेषदिग्गतः ।
जगत्प्रवाहे पुनरागमो गमो दिशं विनैवानुपलं प्रवर्तते ॥२४॥

[2]यावत्तु पश्यामि बलं पुरः स्थितं कुतस्तदायातमिदं नवं नवम् ।
क्व तद्गतं तन्न विदुः परस्थलं यत्र स्थितं स प्रभवः परायणम् ॥२५॥

नदी प्रवाह किसी एक दिशा से आरम्भ होकर किसी दिशा विशेष की ओर ही जाता है, किन्तु जगत् के प्रवाह में नवीन का आगमन तथा पुरातत्व का गमन दिशा नियमन के बिना ही प्रतिक्षण प्रवृत्त रहता है ॥२४॥

१. अब दोनों प्रवाहों की विशेषता बताते हैं—जल का प्रवाह एक दिशा की ओर जाता देखा जाता है, पूर्व से पश्चिम की तरफ अथवा उत्तर से दक्षिण की तरफ प्रवाह की गति स्पष्ट देखी जाती है। जगत् प्रवाह में तो कोई भी दिशा का नियमन नहीं होता। सब दिशाओं में होने वाला यह व्यापक प्रवाह होता है, यह तात्पर्य है। नये नये नाम, रूप तथा कर्म प्रतिक्षण सर्वत्र आविर्भूत होते हैं और पुराने विलीन हो जाते हैं—यह ही बात आगम तथा गम शब्दों से कही गई है। वहां दिशा का कोई निश्चित नियम नहीं होता है।

बल अथवा कर्ममय यह जितना संसार दिखाई देता है, यह नये-नये रूपों में कहाँ से आया है और कहां नष्ट होकर चला जाता है उस अतिगहन स्थल को कोई भी नहीं जान पाया। जहाँ से इसका प्रादुर्भाव होता है, वह प्रभव कहलाता है और जहाँ इसकी समाप्ति होती है—वह परायण कहा जाता है ॥२५॥

२. दूसरी विशेषता जगत् प्रवाह की बताई गई है—नाम रूप कर्म मय यह जगत् प्रवाह कहां से प्रादुर्भूत होता है और विलीयमान होकर कहां चला जाता है—वह सूक्ष्म तम स्थान किसी के द्वारा जाना नहीं जा सका है। जहां से उद्भव होता है, वह प्रभव कहा जाता है। ये जहां विलीन होता है वह परायण नाम से कहा जाता है। यद्यपि सृष्टि और प्रलय व्यवस्था पुराणों में कही गई है, परन्तु सृष्टि प्रलय ये दोनों भी प्रवाह के अन्तर्गत ही रहते हैं। ये दोनों भी अवस्था विशेष ही हैं। सृष्टिकाल में स्थूल रूप से और प्रलय काल में सूक्ष्म रूप से अथवा अन्तर्हित भाव से स्थिति रहती है। सृष्टि ही प्रलय पूर्वक होती है और प्रलय भी सृष्टि पूर्वक होता है, किन्तु प्रवाह का आरम्भ कहीं भी नहीं बताया जाता। इससे पहले सृष्टि नहीं थी यहां से प्रथम प्रवाह का आरम्भ हुवा इसका निर्णय कोई कभी भी नहीं कर सकता है। वह आरम्भ है ही नहीं तो निर्णय भी कैसे हो सकता है। वेद वचन भी 'यथा पूर्वमकल्पयत्' ही मिलता है। रस और बल अनादि हैं और काल चक्र भी अनादि है तब इससे पूर्व सृष्टि नहीं थी इसका निर्णय कैसे किया जा सकता है। सब के आधार भूत रस की ओर उसकी शक्ति की नित्यता रहने से यह जगत् का प्रवाह कभी किसी काल में नहीं था यह निर्णय कैसे हो सकता है। रस से बल की उत्पत्ति होती है अतः रस से ही प्रवाह की प्रवृत्ति हुई है, यह भी नहीं कहा जा सकता, विकार शून्य रस से विकारी बल की उत्पत्ति मानना तो युक्ति युक्त नहीं है। अतः रसबल इन दोनों का एक दूसरे में अन्तर्भाव ही शास्त्रों में व्याख्यात है। एक की सदा एकरूपता रहती है, दूसरे का कभी स्वाप रहता है तो कभी प्रबोध रहता है यह ही विशेषता होती है—इसका निरूपण अनेक बार हो चुका है इस प्रकरण में यह कहा गया कि—अनादि अनन्त बल का प्रवाह भी मन में प्रवेश नहीं पा सकता, क्योंकि मन का स्वभाव सीमित पदार्थ को ग्रहण कर सकने का ही है। और बल का आधार भूत रस भी मन के द्वारा गम्य नहीं हो सकता क्योंकि वह निर्धर्मक है और अति सूक्ष्म है। इस हेतु यह स्पष्ट है कि मन और वाणी से अतीत होने से और सारे धर्मों से युक्त होने से दोनों ही प्रकार से मनः समर्पण रूप उपासना साक्षात् रस-बल की सम्भव नहीं हो सकती। अतः प्रतीक रूप से अथवा सादृश्य भाव से जगत् विशिष्ट ब्रह्म का कोई अंश (भाग) ही उपासना योग्य हो सकता है। भाग नाम भक्ति का है, इस तरह भक्ति रूप उपासना शब्द ही सबसे पहले प्रवृत्त हुवा है। आगे क्रमशः, पद अथवा नाम का एक अंश

भी पदार्थ का बोधक हो जाता है, जैसे सत्यभामा को सत्या अथवा भामा इन नामांशों से संबोधन कर लिया जाता है—उस ही प्रकार भक्ति शब्द और उपासना शब्द की पृथक् पृथक् प्रवृत्ति भी हो गई। उपासना के विषय उपास्य में मन के निवेश कर देने से वास्तव में जीव और ब्रह्म के अभिन्न होने से उपासक भी उपास्य का भाग रूप ही हो जाता है इस तरह भक्त शब्द भी इस ही अर्थ को लेकर प्रवृत्त हो गया। मन के सन्निवेश में प्रेम ही प्रधान कारण होता है इस क्रम से प्रेम में और प्रेम करने वाले में भक्ति और भक्त शब्दों की प्रवृत्ति हुई है। स्नेह शब्द भी चिकनाहट का बोधक है, संश्लेष के हेतु का ही वाचक है अतः स्नेह का भी भक्ति के पर्याय रूप से प्रयोग किया जाता है। एकाग्रता साधन में स्मरण, कीर्तन, पूजा आदि में भी साध्य और साधन के एकरूप हो जाने से इन सब शब्दों की प्रवृत्ति हुई है, विद्वानों को सूक्ष्मभाव से ये सब विचार करने चाहिये।

अयं प्रवाहः प्रथमं कदा पुरा प्रावर्तताऽन्तोऽस्य कदेति के विदुः।
अनाद्यनन्तः सततं सनातनो बलप्रवाहो वहते स एकवत्॥२६॥

या कर्मधारेह रसे प्रवाहिता सानाद्यनन्ता न विरम्यते यतः।
तस्मादविश्रान्तनिरन्तरक्रमादनाद्यनन्तं जगदेतदिष्यते॥२७॥

(४७) [1]उपासनाधिकरणम्

[2]प्रतीकतो वा प्रतिरूपतो वा दृष्टान्ततो वा यदि तत्र तत्त्वम्।
आरोप्यते नाम च रूपकर्मोपचर्यते तुल्यमुपासना सा॥२८॥

अन्यत्र चान्यस्य च धर्मसाम्याद् यद्रूपसांकर्यमुदेति दृष्टौ।
सोपासना भक्तिवशात्[3] तयोः स्युः कर्माणि शब्दाश्च धियस्तथैकाः॥२९॥

यद्दर्पणे पश्यति रूपमेषोऽहमेवमस्मीति करोति बुद्धिम्।
अन्यं[4] प्रपश्यन् प्रतिपद्यतेऽन्यं भक्त्यैव तत्रार्थमुपैति सत्यम्॥३०॥

१. इस अधिकरण में प्रसङ्गानुसार उपासना तत्व को स्पष्ट किया जाता है।

यह प्रवाह आदिकाल में सबसे पहले कब प्रवृत्त हुवा और इसका अन्त कब होगा इसे कौन जानता है। वास्तव में यह बल प्रवाह अनादि-अनन्त है सदा रहने वाला सनातन है, यह एक प्रवाह के समान सदा प्रवाहित रहता है॥२६॥

जो कर्म की धारा रस में प्रवाहित हुई, वह अनादि-अनन्त है क्योंकि इसका विराम कभी नहीं होता। इस ही हेतु बिना शान्ति लेते हुवे निरन्तर क्रम से गतिमान् रहने से यह जगत् अनादि-अनन्त माना जाता है॥२७॥

अंशरूप प्रतीक भाव से, अथवा सादृश्यरूप प्रतिरूप (चित्र) भाव से अथवा दृष्टान्त से यदि मूल तत्व के नाम, रूप तथा कर्म का औपचारिक आरोप करके उस तत्व में मन का समर्पण किया जाता है तो उसे उपासना कहते हैं। वह उपासना उक्त तीनों उपचारों में समान ही मानी जाती है॥२८॥

२. पहले अधिकरण में प्रतीकरूप एक अंश में संपूर्ण की बुद्धि से, तथा सादृश्य देखते हुए तदनुरूप चित्र में चित्रित पदार्थ की बुद्धि से दो प्रकार की उपासना का विवरण किया गया है। यहां अनुरूपचित्र में दृष्टान्त शब्द की योजना अधिक कर दी गई हैं। चित्र और चित्रितपदार्थ में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव रहता है इसलिये दृष्टान्त शब्द का भी उसमें ग्रहण होता है। यह शब्द का भेद मात्र है, उपासना का विवरण तो दो प्रकार का ही आगे किया जा रहा है। प्रतीकरूप खण्ड में पूर्णत्व का आरोप करके अथवा दृष्टान्तभूत चित्र में हाथी घोड़े आदि तत्तत् पदार्थता का आरोप तत्तत् संबन्धी जो नामरूपकर्मों की भावना की जाती है, वह भावनारूप अन्तःकरण की वृत्ति ही उपासना नाम से कही जाती है। एक अंश में संपूर्ण की नामरूपकर्मबुद्धि, अथवा चित्र में चित्रितपदार्थ की बुद्धि उपचार रूप होती है। आरोप करने को उपचार कहा जाता है। भेद का ज्ञान रहने पर भी अभेद भावना को आरोप अथवा उपचार कहा जाता है। ये भावना वास्तविक सम्यक् ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयात्मकज्ञान अथवा सादृश्यज्ञान से विलक्षण होती है, यह व्याख्या हमने पहले कर दी है। शब्द का प्रयोग इसमें लक्षणावृत्ति से होता है, अर्थात् वह शब्द का प्रयोग भी आरोप करके ही किया जाता है।

अन्य में अन्य के धर्म की समानता से दृष्टि में जो रूप का संमिश्रण उदित होता है, वह उपासना नाम से कहा जाता है। आरोपभाव ही उपासना में रहता है, उस समारोपित भक्तिवश उन दोनों के नाम-रूप तथा मूलतत्वानुगताबुद्धि सब एकरूप हो जाते हैं ।।२९।।

३. पूर्व विवरण में भक्ति शब्द की व्याख्या भाग (अंश) अर्थ में की गई थी। यहां उपचार (आरोप) को भी भक्ति नाम से कहा जारहा है। लक्षणा का व्यवहार भी भक्ति शब्द से होता है। दर्पण आदि में जो अपना मुख देखा जाता है, वो भी वास्तव में निज का अंश ही होता है। अपने ही प्राण किरणरूप से वहां एकत्रित दिखाई देते हैं—यह ही प्रतिबिम्ब भाव का तत्व है। वैसे ही चित्र आदि में भी चित्रलेखक अपनी बुद्धि में जिस पदार्थ का चित्र बनाना है उसकी स्थापना करके बुद्धि में समाविष्ट उस पदार्थ भाग को ही वहां लिखता है, इस तरह भाग अर्थ वाला ही भक्ति शब्द वहां भी प्रयोग में आता है। इस ही प्रकार से सर्वत्र सादृश्यमूलक बुद्धि में भी भक्ति शब्द की प्रवृत्ति समझनी चाहिए। इस प्रकार के उपचार (आरोप) स्थल में नाम, रूप और उस विषय की बुद्धि ये सब लोकिक दृष्टि से एकाकार हो जाते हैं, यह इस पद्य में कहा गया है।

दर्पण में मनुष्य अपने रूप को देखता है और ये मैं हूं ऐसी बुद्धि उसकी होती है, यह बुद्धि भी आरोपित ही मानी जायगी, क्योंकि प्रतिबिम्ब भाग को देखकर ही वह मैं हूं ऐसा सोचता है। संपूर्ण भाव से अहं का दर्शन तो दर्पण में नहीं होता केवल स्थूल अंश मात्र देखा जाता है, अतः यह भी भक्ति के दायरे में ही आता है, इस ही प्रकार किसी अन्य मनुष्य को देखता हुवा उसकी ओर मित्र भाव से जो स्नेहयुक्त आकर्षण में बद्ध होता है—वह भी भक्ति से ही होता है, अथवा किसी का चित्र देखकर जिसका वह चित्र है उस सत्य पुरुष को पहचान लेता है—वह पहचान भी मिथ्याबुद्धि न होकर सच्ची पहचान ही मानी जाती है। ये सब भक्ति का क्षेत्र ही होता है ।।३०।।

४. अन्य किसी मित्र आदि को देखते हुए—उसकी ओर बुद्धि का खिचाव भक्तिनाम से कहे जाने वाले औपचारिक भाव से ही होता है—क्योंकि भक्ति के स्वरूप में स्नेह को भी गिनाया जा चुका है। चित्र में किसी के स्वरूप को देखकर उस सच्चे पुरुष को पहचान लिया जाता है, इससे वह मिथ्याबुद्धि नहीं होती है। आगे के पद्य द्वारा इसका स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

अयं गजोऽयं महिषोऽयमश्वोऽयं गौरितीत्थं प्रतिरूपकेषु।
व्युत्पादितो दृष्टिमुपेत्य तेषु प्रपद्यते तान् परमार्थभूतान् ।।३१।।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः समत्वाद् दार्ष्टान्तिकाभिन्नतयाऽत्र दृष्टिः।
[1]दृष्टान्तशब्दस्य तथा प्रयुक्तिर्दार्ष्टान्तिके भक्तिरुपासना सा ।।३२।।

[2]वागूरूपभेदेऽक्षरभावना या याश्वत्थबुद्धिः किल कर्मवृक्षे।
यत्पुण्डरीकं गिरयः समुद्रा भवत्यैव तत्सर्वमिहोपक्लृप्तम् ।।३३।।

[3]वागूरूपभेदेऽक्षरशब्दक्लृप्तिर्ब्रह्माक्षरस्थाननिवेशदृष्टचै ।
अन्येषु भेदेष्वपि तेन वाचा तैर्ब्रह्मभेदैः समता समीक्ष्या ।।३४।।

[4]यथा हि तद्ब्रह्म तथैव शब्दः सर्वे विशेषा उभयोः समानाः।
तेनात्र शब्दे निपुणं निविष्टो ब्रह्मापि तच्छब्ददृशाधिगच्छेत् ।।३५।।

चित्र में प्रतिरूप देखा जाता है किन्तु वह मिथ्या दृष्टि नहीं होती, क्योंकि चित्र में प्रतिरूपकों में देखकर ये हाथी है, ये भैंसा है, ये घोड़ा है, ये गाय है, ये जो ज्ञान होता है, उस ज्ञान द्वारा सच्चे हाथी घोड़े ही जाने जाते हैं, तदनुसार अन्यत्र वे सत्य रूप में पाये जाते हैं ।।३१।।

दृष्टान्त द्वारा जिसके लिए दृष्टान्त दिया जाता है उस मूल पदार्थ दार्ष्टान्तिक का बोध होता है, वहां दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में समानता होने से दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में अभेद दर्शन रहता है। दृष्टान्त शब्द के वैसे प्रयोग में दार्ष्टान्तिक के प्रति भक्ति वा उपासना ही मानी जाती है। दृष्टान्त अंश विशेष का ही होता है, किन्तु उसके द्वारा ज्ञान संपूर्ण का होता है ।।३२।।

१. दृष्टान्त से चित्र आदि द्वारा मुख्य पदार्थ में जो बुद्धि होती है, वह ही उपासना जाननी चाहिये। इस समय सीताराम-राधाकृष्ण आदि की मूर्तियों में जो अवताररूप उपासना भारत में सर्वत्र प्रचलित है, उसमें भी पुराण आदि में बताये गये, वैसे स्वरूपों का निर्माण करके मुख्य राम-कृष्ण आदि में बुद्धि की स्थापना की जाती है, इस तरह वह भी दृष्टान्त से जानी गई उपासना ही होती है। यह ही आरोपित उपचार से भक्ति कही जाती है, और उसमें चित्त के समर्पण से उपासना मानी जाती है, इसका विवरण पहले किया जा चुका है।

वाणी के विभिन्न रूपों में जो अक्षरों की भावना की जाती है, कर्म की वृक्षभाव कल्पना में जो अश्वत्थ (पीपल) वृद्धि की प्रसिद्धि है, कमल, पर्वत, समुद्र आदि का जो चित्र द्वारा बोध कराया जाता है। ये सारी कल्पना भक्ति से ही होती हैं ।।३३।।

२. अन्य लोक सिद्ध उदाहरण भी बताये गये हैं। अकार, ककार आदि लिपियां जो कागज पर लिखी जाती हैं, वे सब वाणी के ही कल्पित रूप भेद होते हैं। उन लिखित रूपों में अक्षर शब्द का प्रयोग सब करते हैं, जैसे ये अक्षर सुन्दर हैं, ये अक्षर खराब हैं आदि, उन लिपिगत चिह्नों के द्वारा वाणी के अवयवरूप अक्षरों में बुद्धि का प्रवेश होता है। 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्' (भग० १५ अ०) इत्यादि गीता वाक्य में कर्ममय जगत् की वृक्षरूप से कल्पना की गई है, और उसमें अश्वत्थ (पीपल) बुद्धि का निवेश किया गया है। भूगोल की शिक्षा के लिये नकशे में जो पर्वत समुद्र आदि लिखे जाते हैं, पुण्डरीक (कमल) आदि के जो चित्र बनाये जाते हैं। उन सब में मुख्य पदार्थों के नामों का प्रयोग ही सब लोग करते हैं। इस प्रकार ये सब भक्ति के रूप ही समझने चाहिये।

वाणी के रूपभेद में अक्षर शब्द की कल्पना ब्रह्ममय अक्षर पुरुष में मन के निवेश की दृष्टि के लिये की गई है। वाणी के अन्य अक्षर भेदों में भी वाणी के साथ मायाशबलित ब्रह्म के भेदों के साथ समानता विचारपूर्वक देखनी चाहिये ।।३४।।

३. वास्तव में तो अक्षर ये नाम ब्रह्म के पुरुष भाव का निर्देश करता है, यह विषय पुरुष अधिकरण में विस्तार से बताया जा चुका है। वह ही अक्षर शब्द बोले जाने वाली वाणी के वाक्य, पद, और अवयवों में भी लोक में प्रयोग किया जाता है, जैसे कहा जाता है कि 'देवदत्त इस शब्द में चार अक्षर हैं इत्यादि' वह ही यह प्रयोग समानभावरूपाभक्ति द्वारा समझना चाहिये। अक्षर पुरुष की यहां वाणी के अवयवस्वरूप अक्षरों में समानता होती है। इसका बोध कराने के लिये ही प्राचीन संमाननीय विद्वानों ने यहां वाणी के व्यवहार में अक्षर शब्द का प्रयोग किया है। इस समानता को जानकर वाणी के अवयव भूत अक्षरों पर जाती हुई दृष्टि ब्रह्मस्वरूप अक्षर पुरुष में जावे, ऐसा उन विद्वानों का आशय था। ब्रह्मरूप अक्षर पुरुष जो प्रधान स्थान है—उसमें बुद्धि का संनिवेश हो जावे इस दृष्टि के लिये अक्षर शब्द की कल्पना की गई है—यह पद्य का अन्वयार्थ है। इस ही प्रकार आगे कहे जाने वाले वाणी के अक्षर भेदों में भी, वाणी के भेदों से ब्रह्मरूप अक्षर में दृष्टि, उपासनारूप में करनी चाहिये यह तात्पर्य है।

जैसा वह ब्रह्मतत्व है, वैसा ही यह शब्दतत्व है, दोनों की सारी विशेषता समान हैं। इस कारण ही यह माना गया है कि जो इस निरंजन शब्दतत्व के गूढभाव में चतुराई से प्रवेश कर जाता है—वह उस शब्दमयी दृष्टि से ही ब्रह्म में प्रवेश पा जाता है ।।३५।।

४. द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परंब्रह्माधिगच्छति ।।

यह जो अति प्राचीन आचार्यों की उक्ति है—वह इस पद्य में अर्थ रूप में अनुवाद में आ गई। शब्द ब्रह्म में और परब्रह्म में अनेक प्रकार की समानता है। इस कारण शब्द को अच्छी प्रकार सुसम्यक् समझकर परब्रह्म में भी दृष्टि निवेश किया जा सकता है। ऐसा ही इसका अर्थ होता है।

'स्वरः परः सोऽक्षरमेतदाहुस्त्रिधाऽत्र वर्णः क्षर उच्यते त्रिधा ।
स्वरो ह्युदात्तस्वरितानुदात्तप्रभेदतोऽयं त्रिविधो निरुक्तः ।।३६।।

तदक्रियं स्यादुपसर्जनक्रियं तार्तीयिकं तूपजनक्रियं भवेत् ।
स्पृष्टास्तथान्ये विवृतास्तथापरेऽन्तस्थाश्च वर्णास्त्रिविधा श्रमी स्युः ।।३७।।

[2]स्वरेऽक्षरं तत्र च वर्ण इत्थं परेऽक्षरं तत्र पुनः क्षरं स्यात् ।
ज्योतिर्हृचुदात्तं स्वरितो धृतिः स्यात् समा प्रतिष्ठा निहतस्वरेण ।।३८।।

[3]विधर्तुमीष्टेऽक्षरमष्टवर्णानर्द्धार्द्धमात्रान् पुरतश्च पृष्ठे ।
पृष्ठस्थितान् पञ्च पुरःस्थितांस्त्रीन् विधर्तुमीष्टे स्वविकासयोगात् ।।३९।।

क् ख् आदि व्यंजनों के आगे जहां अ, ई आदि स्वर रहें उस अवस्था में अक्षरनाम होता है, यह वर्णाक्षर तीन प्रकार का होता है और वर्ण क आदि भी तीन प्रकार के होते हैं, "ये ही स्वर को व्यंजित करते हैं अतः व्यंजन कहे जाते हैं" स्वर के भेदों का निर्वचन उदात्त, स्वरित, अनुदात्त इन तीन विधाओं में किया गया है ।।३६।।

१. सादृश्यभाव का ही विवरण अब अधिकरण की समाप्ति पर्यन्त किया जा रहा है । हमारे व्यावहारिक वर्णविभाग में स्वर और व्यंजन ये प्रकार प्रसिद्ध हैं । उनमें अकेले अ, आ आदि स्वर कहे जाते हैं । व्यंजन से आगे प्रयोग किये गए व्यंजनविशिष्ट स्वर अक्षर पद से कहे जाते हैं । वाक्, यह एक अक्षर का रूप है क्योंकि व् रूप व्यंजन से परे आ यह स्वर है और क् के आगे कोई स्वर नहीं है—अतः वाक् यह एक ही अक्षर है । दूसरी जगह हृदय इस शब्द में तीन अक्षर हैं, यह बात वेद में "वागित्येकमक्षरम्" "हृदयमिति त्र्यक्षरम्" इस श्रुति द्वारा स्वर की अक्षरता मानते हुए एक और तीन संख्या का निर्देश किया है । वर्ण तो वाक् शब्द में वकार, आकार और ककार ये तीन हैं और 'हृदयम्' में सात हैं । वह स्वर उदात्त, अनुदात्त, स्वरित से त्रिधा कहा गया है । उनमें प्रत्येक तीन प्रकार का है । एक अक्रिय दूसरा उपसर्जनक्रिय, तीसरा उपजनक्रिय । इनके उदाहरण आगे बताये जायंगे । इस ही प्रकार अक्षर में जो वर्ण अन्तर्भूत रहते हैं वे भी तीन प्रकार के हैं—स्पृष्ट, विवृत और अन्तस्थ नाम से । ये व्याख्या दो पद्यों की की गई है ।

उदात्त आदि स्वर-अक्रिय, उपसर्जनक्रिय और तीसरा उपजनक्रिय इन तीन प्रकारों में व्यवहृत होते हैं । वर्ण स्पृष्ट कुछ तो होते हैं, अन्य कुछ विवृत कहे जाते हैं तो कुछ वर्ण अन्तस्थ होते हैं, इस प्रकार वर्ण भी तीन प्रकार के हैं ।।३७।।

जैसे स्वर में अक्षर हैं और उन अक्षरों में वर्ण हैं, वैसे ही पुरुष संस्था में पर नाम के अव्यय पुरुष में अक्षर प्रतिष्ठित है और अक्षर में क्षर की प्रतिष्ठा है । उदात्त स्वर ज्योति स्वरूप है, स्वरित स्वर धृति स्वरूप है और प्रतिष्ठा स्वरूप निहत नाम का अनुदात्त स्वर है ।।३८।।

२. अब ब्रह्म से समानता दिखा रहे हैं कि जैसे यहां अकेले किसी सम्बन्ध न रखने वाले अकारादि स्वर में आधार पाया हुआ व्यञ्जन सहित स्वरूपवाला अक्षर होता है और उसमें भी आधार पाये हुए त्रिविध वर्ण हैं, वैसे ही सर्वथा असंग अव्यय पुरुष में अक्षर पुरुष आश्रित हो रहा है, और उस अक्षर में विविध भेदों में भिन्न-भिन्न अनन्त क्षर पुरुष आश्रय पा रहे हैं—यह एक

प्रकार की समता है और जैसे स्वर की उदात्त आदि त्रिरूपता कही है, वैसे ही सर्वप्रधान अव्यय पुरुष जो कि मनप्राणवाक् स्वरूप है उस की भी सब वस्तुओं में प्रतिष्ठा ज्योति, विधृति तथा प्रतिष्ठा इन तीन रूपों में इस ग्रन्थ के रस अधिकार में वर्णित हुई है। वहां साम्यता से ज्योति उदात्त रूप है, विधृति स्वरित रूप तथा प्रतिष्ठा निहत नाम के अनुदात्त से समानता रखती है। यह साम्यभाव पूर्वकथित ज्योति आदि के निरूपण से संगत कर लेना चाहिये।

वाक् सम्बन्धी अक्षर आगे रहता हुवा अपने पृष्ठ भाग में आधी-आधी मात्रा के पांच वर्णों को तथा पीछे रहते हुवे आगे के तीन वर्णों को धारण करने में समर्थ होता है। इस प्रकार अर्धमात्रा के आठ वर्ण एक अक्षर द्वारा धारण किये जा सकते हैं। यह वर्णों का धारण वाणी सम्बन्धी अक्षर स्वर का विकास रूप होता है, अर्थात् वर्णों को धारण करना ही अक्षर स्वर का विकास है ।।३६।।

३. जैसे ब्रह्म परिस्थिति में अक्षर पुरुष बहुत से क्षर पुरुषों को धारण करता है, वैसे ही वाणी की परिस्थिति में स्वर अक्षर रूप में आधी मात्रा तक के सीमित काल में रहने वाले आठ वर्णों को जो व्यञ्जन रूप होते हैं, धारण करने में समर्थ होता है। उनमें अपने पृष्ठ भाग में स्थित पांच वर्णों को भी आगे स्थिति पाया हुवा स्वर धारण करने में समर्थ होता है। जैसे 'कात्स्न्र्यम् इस पद में र, त, स, न, य ये पांच व्यंजन आगे स्थित अम् के अकार द्वारा धारण किये जा रहे है। पांच संख्यातक के व्यञ्जन आगे स्थित स्वर के आधार से स्थिति पा सकते हैं यह तात्पर्य है। पृष्ठ स्थान में रहने वाले इससे अधिक वर्णों को स्वर धारण करने में समर्थ नहीं होता है। अपने से आगे रहने वाले तीन व्यञ्जनों को ही स्वर धारण कर सकता है। जैसे 'ऊर्ग्भिः' इत्यादि में रेफ, गकार , भकारों को जो आगे स्थित हैं उनको ऊकार धारण कर रहा है। यहां आगे स्थित इकार के द्वारा वे धृत हो रहे हैं—ऐसा कहा जा सकता है, किन्तु 'आर्ट्स्' 'एक्ट्स्' इत्यादि स्थलों में तो तीन व्यञ्जन पूर्व स्थित स्वर के द्वारा ही धृत है इसमें तो सन्देह नहीं किया जा सकता। इससे अधिक वर्णों को धारण नहीं कर सकता है। इस प्रकार पृष्ठ भाग में स्थित पांच को और आगे के भाग में स्थित तीन को, सब मिलाकर आठ वर्णों को अक्षर स्वर धारण करने में समर्थ होता है। ये विधारण ही स्वर का विकास है। यहां संख्या के नियम की समानता ब्रह्मस्वरूप अक्षर में नहीं होती, वह तो अनन्त क्षर पुरुषों को धारण करता है। केवल वाक् रूप स्वर का सामर्थ्य बताने के लिए ग्रन्थकर्त्ता ने यह लिखा है। वाणी रूप अक्षर द्वारा वर्णों की विधारकता और ब्रह्मरूप अक्षर द्वारा क्षरों की विधारकता यह साम्य तो स्पष्ट ही है। अथवा ब्रह्माक्षर भी पञ्चमहाभूतों को और सत्व, रज, तम इन तीन गुणों को धारण करता है यह समानता समझनी चाहिये।

[१]पृष्ठस्थितांतस्त्र विधारयत्तानेकं बहून् द्वावपि तल्लघु स्यात्।
विधारयेच्चेत् पुरतस्तु वर्णं कथंचिदप्येकमिदं गुरु स्यात् ।।४०।।

[२]न पृष्ठतो वा पुरतो विधारयेत् तदक्रियं स्याल्लघु चैतदक्षरम्।
चेत् पृष्ठतो धारयते न चाग्रतो लघ्वेव तत् स्यादुपसर्जनक्रियम् ।।४१।।

[3]यस्त्वग्रतो धारयतेऽथ वर्णान् गुरुः स एवोपजनक्रियत्वात् ।
द्विधैव तेनैतदथाक्षरं विदुः स्याद्वा लघु स्याद् गुरु नाधिकं ततः ॥४२॥

[4]प्रज्ञाः क्षराः स्युर्विवृतास्तथा मताः प्रकाशते तत्र तदक्षरं स्फुटम् ।
आभासते ज्योतिरपीह तत्परं प्रज्ञा ततो ज्योतिरिति प्रचक्षते ॥४३॥

वाक् संबन्धी अक्षर अपने पृष्ठ भाग में स्थित एक, दो अथवा बहुत से वर्णों को धारण करता हुवा भी लघु ही माना जाता है, एवं च यदि अपने से आगे के एक संयुक्त वर्ण को भी धारण करता है तो वो गुरु माना जाता है ॥४०॥

१. यहां दूसरी विशेषता कही गई है— पृष्ठ भाग में स्थित अनेक वर्णों को धारण करता हुवा भी स्वर लघु ही गिना जाता है, वह गुरुता नहीं पा सकता । आगे के तो एक वर्ण को भी धारण करता हुवा गुरुता में बदल जाता है । संयुक्त अक्षर आगे रहने पर पूर्व के अक्षर की गुरुता मानी जाती है, इस छन्द शास्त्र के नियम का अनुसंधान करना चाहिये ।

जो अक्षर पृष्ठ भाग के अथवा आगे किसी वर्ण को धारण नहीं करता—वह अक्रिय तथा लघु माना जाता है और यदि पृष्ठ के वर्णों को तो धारण करता हो, आगे के वर्ण को धारण न करे तो वह भी लघु ही होता है और उपसर्जनक्रिय माना जाता है । उपसर्जन गौण माना जाता है, पृष्ठ भाग में धारण क्रिया को गौण भाव में ही गिना जाता है ॥४१॥

२. पूर्व कथन में हेतु बताते हुवे अक्रियत्व आदि सत्ताइसवें पद्य में कहे गये तीन धर्मों की भी संगति बता रहे हैं– जो स्वर पृष्ठ भाग के अथवा आगे के किसी वर्ण को भी धारण नहीं करता— जैसे शुद्ध 'अ' 'इ' इत्यादि, वह अक्रिय कहा जाता है । विधारण क्रिया उसमें नहीं होती है । और अक्रिय होने से वह लघु ही माना जाता है । यदि पृष्ठ भाग स्थित वर्णों को तो धारण करता है, आगे वालों को नहीं, तो उस अवस्था में वह उपसर्जन क्रिया वाला माना जाता है । उसमें विधारणा क्रिया तो रहती है किन्तु वह उसका वहां उपसर्जन (गौण) भाव है, प्रधान भाव नहीं । इस कारण वह स्वर भी लघु ही गिना जाता है । उस अवस्था में स्वर में विशेष बल का प्रयोग नहीं किया जाता यह अनुभव से जान लेना चाहिये ।

जो स्वररूप अक्षर अपने आगे के वर्णों को धारता है, वह गुरु माना जाता है, क्योंकि उसमें उपजन (वृद्धि) क्रिया रहती है । इस प्रकार अक्षर स्वर लघु तथा गुरु-भाव से दो, विधाओं में ही विभक्त जाना गया है, इससे अधिक कोई स्वरूप इसका नहीं होता ॥४२॥

३. जो स्वर आगे रहने वाले व्यञ्जनरूप वर्णों को धारण करता है, वह उपजन क्रिय कहा गया है । उसमें उपजन रूप से अर्थात् आगन्तुक रूप से क्रिया का आधान किया जाता है । आगे स्थित व्यञ्जनों के धारण करने को वहां विशेष बल का आधान करना पड़ता है, यह भी अनुभव से प्रतीति में आ सकता है । वैसी क्रिया के आधान से ही वह अक्षर भारी व्यञ्जनों से विशिष्ट स्वर रूप होकर गुरु हो जाता है । उस उच्चारण में भार सा प्रतीत होता है । भार सहने वाले

की गुरुता तो प्रसिद्ध ही है। 'आ' 'ई' 'ऊ' इत्यादि जो दीर्घ स्वर कहे जाते हैं, वे भी दो लघुओं के योग से उत्पन्न होते हैं, वहां आगे का स्वर पूर्व के स्वर द्वारा धारण कर लिया जाता है अतः उसमें गुरुता आनी ही चाहिये। प्लुत स्वर में एक लघु अक्षर द्वारा आगे रहने वाले दो सजातीय स्वरों का धारण होता है अतः वह भी गुरु अक्षर कहा जाता है। इस प्रकार वर्णान्तर से विशिष्ट वर्णरूप अक्षर लघु, गुरु इन दो प्रकारों में ही माना जाता है, ह्रस्वदीर्घप्लुत के समान तीन विभाग नहीं गिने जाते, यह तात्पर्य है। वैसे ही ब्रह्माक्षर भी नभ्य और पृष्ठ्य विभाग से दो प्रकार का है। अक्षर पुरुष की ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र ये तीन कला नभ्य हैं, अग्नि सोम रूप दो कला पृष्ठ्य हैं, गद्यमय पुरुष प्रपञ्च अधिकरण में इनकी व्याख्या पहले हो चुकी है। वहां नभ्य लघु माना गया है और आगे उत्पन्न क्षरों को धारण करने से पृष्ठ्य गुरु माना गया है। इस समानता को सावधानी से देखना चाहिये।

प्रज्ञा का संबन्ध क्षर पुरुष से होता है, वर्ण अक्षरों से विधृत होने से क्षर रूप होते हैं, वे प्रज्ञा रूप क्षर वर्ण विवृत माने गये हैं। उन क्षरों में अक्षर का विकसित प्रकाश होता है और केवल अक्षर का ही नहीं पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय भी ज्योति रूप से क्षर संबन्धिनी प्रज्ञा में आभासित होता है। इस कारण ही प्रज्ञा को ज्योति रूप कहा जाता है ॥४३॥

४. वर्णों की कथित त्रिविधता की भी समानता का विवरण करते हैं। अक्षरों में विधृत वर्ण क्षर पुरुष के स्थान में हैं यह पहले कहा गया है। वे वर्ण विवृत, स्पष्ट और अन्तस्थ भाव से तीन प्रकार के बताए गए हैं। अन्तस्थवर्ण ही ईषत् स्पष्ट भी कहे जाते हैं। श, ष, स, ह की ईषद् विवृतता तो व्याकरण की प्रक्रिया में इकार शकार आदि की सवर्ण संज्ञा के निषेध के लिए महाभाष्य कार ने नाज्झलौ यह सूत्र जो पाणिनि का है उसे लाघव के विना ही प्रक्रिया के निर्वाह के लिए स्वीकार कर लिया है, वैसे ही अकार की संवृतता भी केवल व्याकरण प्रक्रिया की उपयोगिनी है। वास्तव में तो आभ्यन्तर प्रयत्न से किये गए वर्ण के भेद तीन प्रकार के ही हैं। ब्रह्म परिस्थिति में अक्षर पुरुष द्वारा धारण किए गए क्षर पुरुष के भी प्रज्ञा-प्राण-भूतों द्वारा तीन रूप भाव होते हैं। केवल वर्णों की विवृतता शिक्षाओं में जिह्वा के स्पर्श के अभाव से की गई होने से व्यवहृत होती है, प्रज्ञा में तो विवृतभाव प्रकाशकता रूप है। प्रज्ञा में अक्षर पुरुष का प्रकाश स्पष्ट होता है, अर्थात् प्रज्ञा द्वारा ही अक्षर पुरुष का ज्ञान होता है, इतना ही नहीं, पर ज्योति — अर्थात् अव्यय का ज्ञान भी प्रज्ञा में ही प्रकाशित होता है। तात्पर्य यह है कि प्रज्ञा (बुद्धि विशेष) से वृत्ति रूप ज्ञान द्वारा ही हम मुख्य ज्ञान से भी परिचित होजाते हैं। पर–अव्यय की ज्योति का इसमें प्रकाश होने से प्रज्ञा भी ज्योति कही जाती है।

[1]वर्णास्तदा ये विवृतास्त एव तल्लवधक्षरत्वं गुरुतां च गृह्यते।
प्रकाशते तत्र परः स्वरो यतस्ततो विदुस्तान् विवृतान् स्वरानिति ॥४४॥

[2]स्पृष्टेन भूतं विवृतेन प्रज्ञान्तःस्थेन च प्राण इहानुलक्ष्यः।
यदक्रियं तत्तदथोपसर्गक्रियं तथैवोपजनक्रियं स्यात् ॥४५॥

[3]अन्तःस्थतां ते विवृतेषु नामिनः स्वरा यथा यान्ति तथा विधोऽप्यभूः।
प्राणत्वमायान्ति पुनः प्रसारणे प्राणास्तु चान्तस्स्थवबीशते क्वचित ॥४६॥

स्वर से संयुक्त वर्ण ही विवृत होते हैं, इस कारण ही लघु अक्षरता अथवा गुरु अक्षरता का ग्रहण किया जाता है। वास्तव में उन व्यञ्जनों में स्वर का ही प्रकाश होता है–अतः वह विवृत भाव उन स्वरों का ही जाना गया है ।।४४।।

१. पूर्ण समानता बताने के लिए कहा है कि वास्तव में वर्णों में भी विवृत भाव प्रकाशकता रूप ही होता है। वर्णों में स्वर ही विवृत कहे जाते हैं। उनमें ही लघुता और गुरुता भी होती है, यह कह चुके हैं। व्यञ्जनों की बारकता के कारण लघुता तथा गुरुता की व्याख्या की गई है। इस तरह यह लघुत्व गुरुत्व आदि अक्षर में ही रहते हैं। व्यञ्जनों में स्वर की स्थिति होने से मुख्य शुद्ध स्वर अक्षर में प्रकाशित होता है। अतः जैसे प्रज्ञा में विवृत भाव प्रकाशकता रूप होता है वैसे ही प्रकाश रूपता से ही स्वर विवृत होते हैं। स्वर की सहायता के बिना व्यञ्जन का स्वतन्त्र उच्चारण सम्भव नहीं होता—अतः प्रकाशकता स्वर की ही मानी गई है।

स्पृष्ट वर्णों से पंचभूतों की समानता है, विवृत से प्रज्ञा की समानता, तथा अन्तःस्थ से प्राणों की समानता अनुलक्षित होती है। इस ही प्रकार स्वर संबन्धी अक्रियत्व आदि तीनों भेद भी क्रमशः समान ही हैं। प्रज्ञा अक्रिय है, भूत उपसर्जन क्रिय हैं, तथा प्राण उपजनक्रिय हैं। 'विवरण टीका में किया गया है' ।।४५।।

२. प्रज्ञा और विवृत का साम्य कहने के अनन्तर अन्य दोनों क्षर रूप वर्ण भेदों का भी साम्य बताते हैं—स्पष्ट वर्ण समूह से स्थूलता के कारण भूतवर्ग की समानता है। जैसे स्पष्ट वर्णों में जिह्वा का दातों से स्पर्श होता है, वैसे ही चार भूतों का भी स्पर्श प्रत्यक्ष होता है। शुद्ध आकाश में यद्यपि स्पर्श नहीं है, तथापि पञ्चीकृत आकाश में तो अल्प स्पर्श माना ही जाता है। इस कारण ही आकाश का गुण शब्द यदि अतितीव्र होता है तो छोटे काच आदि टूट जाते हैं। प्रज्ञा और विवृत की समानता तो पूर्व श्लोक में बता ही दी है। अन्तःस्थवर्ण समूह से प्राणवर्ण का सादृश्य रहता है। प्राण की स्थिति प्रज्ञा और भूतों के मध्य में रहती है। प्रज्ञा की अपेक्षा प्राण स्थूल होते हैं—और भूतों की अपेक्षा सूक्ष्म होते हैं। अन्य सादृश्य भाव भी आगे के पद्य में कहा जायगा। एवं च अक्रियत्व आदि जो लघु और गुरु अक्षरों का व्याख्यात हुवा है–वह भी, इनमें है प्रज्ञा सर्वथा क्रिया रहित होती है। भूत सब उपसर्जन क्रिय होते हैं, उनमें क्रिया की गूढता रहती है, अन्य के संसर्ग से ही उसका उदय होता है। प्राण तो उपजन क्रिय होते ही हैं, वे स्वयं क्रिया शील हैं और दूसरों में भी अपनी क्रिया का समर्पण करते हैं। उत्तरार्ध में नपुंसक का प्रयोग 'सामान्ये नपुंसकम्' नियम से किया है।

इकार, उकार नाम के विवृत स्वर कभी यकार, वकार आदि अन्तस्थभाव में चले जाते हैं, पुनः संप्रसारण प्रक्रिया से विवृत भाव में आ जाते हैं, वैसे ही प्रज्ञारूप बुद्धियां भी कभी प्राणभाव में चली जाती हैं फिर प्राणभाव से पृथक् होकर प्रज्ञा भाव में आ जाती हैं। इस तरह प्राणों का अन्तःस्थों के साथ सादृश्य रहता है ।।४६।।

३. अन्तःस्थ वर्णों के साथ प्राणों की समानता अन्य प्रकार से भी बताई जा रही है—नाम वाले इकार, उकार आदि स्वर विवृत कहे जाने वाले, कभी अन्तःस्थता में अर्थात् यकार, वकार आदि रूपता में—'सुध्युपास्यः' 'मध्वरि' आदि प्रयोगों में चले जाते हैं। और पुनः संप्रसारण से

'इज्यते' आदि प्रयोग में अन्तःस्थता को छोड़कर विवृत भाव में आ जाते हैं। वैसे ही प्रज्ञाएं भी कभी प्राणभाव में आ जाती हैं, और पुनः प्राणरूपता को छोड़कर निज प्रज्ञारूपता में आ जाती हैं, ये महासमानता है। श्रुति वचन में—"योवैप्राणः, सा प्रज्ञा" कहते हुवे प्रज्ञा और प्राण की एकता का ही निर्देश हुवा है।

[1]तदित्थमन्येऽपि तथैव भावाः शब्देषु ते तद्वदिहापि वेद्याः।
शब्दे खलु ब्रह्मणि यः प्रविष्टः सम्यक् परं ब्रह्म च सोऽधिगच्छेत् ।।४७।।

(४८) सन्तानाधिकरणम्[2]

[3]अथ प्रवाते पुनरूर्मयो या उत्थानमासां पतनं च रूपम्।
रसेऽमृते ब्रह्मणि ता अनन्ता उत्थाय चोत्थाय पतन्ति तस्मिन् ।।४८।।

[4]उत्तिष्ठते ब्रह्मणि सृज्यतेऽसौ पतत्यथो तत्र विलीयतेऽसौ।
उत्थाय यावत् पततीह तावत् कर्मैतदेकं प्रथितं रसेऽस्मिन् ।।४९।।

[5]एकैककर्मण्यपि कर्मभिन्नं तत्रापि भिन्नं पुनरत्र भिन्नम्।
ऊर्म्यां परोर्मिः पुनरत्र चोर्मिः तत्रापि चोर्मिः पुनरन्तरन्तः ।।५०।।

[6]सोर्मिर्हि सान्तानिककर्मदिष्टं क्षुद्रं बृहच्चैतदनन्तभेदम्।
क्षुद्रं बृहत्यन्तरितं मतं वा क्षुद्रं बृहच्चेति पृथक् स्थितं वा ।।५१।।

इस प्रकार ब्रह्म के और शब्द ब्रह्म के अन्यान्य भावों से भी समानता समझनी चाहिये, इस कारण से ही कहा गया कि शब्दरूप ब्रह्मभाव में जो यथार्थभाव से सम्यक् प्रवेश कर जाता है—वह परब्रह्म में भी प्रवेश पा जाता है ।।४७।।

१. उपसंहार—अन्य समानता भी ब्रह्म की और शब्द ब्रह्म की खोज लेनी चाहिये। इस हेतु से ही 'शब्दे ब्रह्मणि निष्णातः' आदि पहले कही गई महाजनों की उक्ति प्रवृत्त हुई है। और इस हेतु से ही क्षर समूह रूप मन्त्र आदि द्वारा परब्रह्म की उपासना की जाती है। इस प्रकार उपासना प्रकरण उपसंहृत हुवा।

२. प्रसङ्गानुसार उपासनातत्व का निरूपण करने के अनन्तर पुनः प्रस्तुत विषय का अनुसरण करते हैं। क्षणिक, सान्तानिक तथा प्रावाहिक रूप से कर्म की त्रिरूपता कही गई है। उनमें प्रावाहिक कर्म का विवरण किया गया, अब सांतानिक—कर्म संतान का विवरण करते हैं।

पवन के संसर्ग से जल में ऊर्मियां (तरंग) उठती हैं फिर जल में ही विलीन हो जाती हैं; इस तरह उठना और गिर जाना ही तरंगों का रूप होता है। इस दृष्टान्त के समान ही रस में—अमृत में अथवा ब्रह्म में बल की अनन्त तरंगें उठ-उठकर उसमें लीन हो जाती हैं। अर्थात् सच्चिदानन्दमय ब्रह्म में कर्म का उत्थान-पतन सतत होता रहता है ।।४८।।

३. वायु द्वारा जल में तरंग माला के समान ब्रह्म में कर्मों का सन्तान क्रम सदा प्रचलित रहता है।

ब्रह्म में कर्म का उद्भव होता है—वह ही कर्म की सृष्टि कही जाती है। फिर वह कर्मरस में ही गिर जाता है तदनन्तर विलीन हो जाता है, उत्थान से पतन पर्यन्त यद्यपि अवान्तर अनेक क्षणिक कर्म हो जाते हैं किन्तु सब मिलाकर कर्म का वह एक ही रूप वहां माना जाता है अर्थात् रस में वह कर्म शृङ्खला एककर्म के रूप में ही ख्यात होती है ।।४६।।

४. कर्म का उत्थान ही कर्म की सृष्टि कही जाती है, पतन ही उसका विलय माना जाता है। बल द्वारा सम्पादित ये उत्थान-पतन रस के आधार से ही होते हैं, नये बल की उत्पत्ति तो वहां होती नहीं क्योंकि उसकी भी प्रवाह नित्यता ही रहती है। उत्थान से पतन पर्यन्त एक ही कर्म कहा जाता है, वह ही सान्तानिक होता है यह तात्पर्य है। वास्तव में तो उत्थान से पतन पर्यन्त सैंकड़ों क्षणिक कर्म उत्पन्न होते हैं, परन्तु वे सब सन्तानरूप से एकीकरण करके एक कर्म के रूप में ही व्यवहार में आते हैं—यह आशय है।

एक-एक प्रधान कर्म में भिन्न क्रिया, उस क्रिया में भी अवान्तर भिन्न क्रिया, उनमें भी फिर भिन्न-भिन्न क्रिया होती हैं। जैसे जल में एक तरंग, फिर उस तरंग में तरंग, फिर तरंगों के भीतर तरंग ही तरंग उठते रहते हैं। वैसा ही कर्म में भी होता है ।।५०।।

५. उक्त सन्तानरूप में एक एक कर्म में विभिन्न बहुत से कर्म होते हैं। जैसे लोक में एक पाक क्रिया में चुल्हा जलाना, उस पर पात्र स्थापन आदि विभिन्न कर्म होते हैं, उन विभिन्न कर्मों में भी अन्य अनेक कर्म होते हैं, यह पहले कर्म रूप—निरूपण में हम बता चुके हैं। जल में भी इस ही प्रकार के बड़े तरंगों में अवान्तर तरंगें, फिर उनमें भी और अवान्तर तरंगें होती रहती हैं, इस दृष्टान्त से ही कर्ममय तरंगों में भी बुद्धि का संचार करना चाहिये।

वह एक बड़ी कर्म ऊर्मि (तरंग) ही सान्तानिक कर्म नाम से निर्दिष्ट होती है, यह सान्तानिक रूप छोटे और बड़े रूप से अनन्त भेदों वाला होता है। कहीं तो छोटा रूप बड़े रूप में अन्तर्गर्भित हो जाता है, कहीं छोटे और बड़े रूप पृथक् भी रहते हैं ।।५१।।

६. अनेक कर्म तरंगों से गर्भित एक एक बड़ा तरंग सन्तान कर्म नाम से निर्दिष्ट होता है। उनमें कोई सन्तान चिरकाल तक ठहरने वाला और बहुत से प्रदेश में व्याप्त रहने वाला महान् होता है, और कोई अल्पकाल तक रुकने वाला तथा अल्प प्रदेश में ही रहने वाला क्षुद्ररूप होता है। उनमें भी कोई क्षुद्र (छोटा) रूप महान् में भीतर प्रविष्ट हो जाता है। कोई क्षुद्र और महान् पृथक् पृथक् ही स्थिति रहते हैं। जैसे संसार में बड़े पर्वत होते हैं और उनके गर्भ में अनेक छोटे छोटे पर्वत भी रहते हैं, और कहीं कहीं तो छोटे पर्वत बड़े पर्वतों से भिन्न ही रहते हैं। इस रीति से ही कर्म का क्रम भी देखना चाहिये।

[1]महान् य उत्थाननिपातभङ्गो ब्रह्माण्डसर्गः प्रथितः स एकः।
ब्रह्माण्डसर्गाः प्रभवन्त्यसंख्या भिन्नास्तदुत्थाननिपातभङ्गैः ।।५२।।

[2]धीप्राणवाङ्मारुतसूर्यचन्द्रपृथ्वीति सत्ताऽवयवोत्थितिः स्यात्।
पृथ्वी पुनर्धीत्वमुपेत्य लीना रसे भवेत् तत्पतनं महोर्म्याः ।।५३।।

[3]सूर्योद्भवोऽन्या पुनरुत्थितिर्मता सूर्यस्य नाशः पतनं तदन्तरे।
तत्रापि पृथ्वी यद्भूत् तदुत्थितेः पृथ्वीविनाशः पतनं तदन्तरे ।।५४।।

[४]स एष रामः समभूत् तदुत्थितिर्मतः स रामः पतनं तदुच्यते।
[५]इत्थं पृथक्त्वेन विभिन्नकर्मणामुत्थानपातानवधारयन्ति हि ।।५५।।

ब्रूते पचत्येति शृणोति भुङ्क्ते निद्रातितिष्ठत्यवलोकते वा।
एतानि सर्वाणि बलानि भिन्नस्वोत्थानपातानि भवन्ति लोके ।।५६।।

पाकक्रियोत्थाननिपातभङ्गे नानाक्रियोत्थाननिपातभङ्गाः।
तदन्तरन्तः क्रमतस्तदन्ते तूत्थानपाताः क्षणिके पृथक् स्युः ।।५७।।

उत्थान पतन रूप सब से महान् भङ्ग (कर्म तरंग), एक ब्रह्माण्ड सर्ग नाम से ख्यात होता है। इन उत्थान, निपात रूप महान् तरंगों से असंख्य ब्रह्माण्डसर्ग भिन्न-भिन्न रूप में उत्पन्न होते हैं ।।५२।।

१. इस रीति से सबसे बड़ा जो उत्थान पतन रूप तरङ्ग होता है—वह ही ब्रह्माण्डसर्ग रूप में जानना चाहिये। इस प्रकार के ब्रह्माण्डसर्ग भी अनन्त हैं, इससे ही सिद्ध होता है कि इस प्रकार के महान् तरंग भी अनन्त होते हैं। उन सबकी समष्टि प्रवाहरूप होती है यह प्रतिपादन तो पहले हो ही चुका है।

उस महातरंग में अवान्तर तरंगों के रूप में—बुद्धि, प्राण, वाक्, वायु, सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी इन सात अवयवों का उत्थान होता है। पतन अवस्था में अर्थात् लय प्रक्रिया में अन्तिम पृथ्वीभाव क्रमशः परावर्तित होता हुवा बुद्धिभाव तक पहुंच कर रस मे लीन हो जाता है, यह ही उस महान् तरंग का पतन कहा जाता है ।।५३।।

२. महान् जो उत्थान से आरम्भ होकर पतन पर्यन्त सन्तान है वह ब्रह्माण्डसर्ग रूप है, यह पहले पद्य में कहा गया। उस ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करने वाले महातरंग में कितने अवान्तर तरंग होते हैं; यह बता रहे हैं। रस का बलजनित कर्म से सम्बन्ध होने पर सर्वप्रथम धी नाम के मन का उदय होता है, तदनन्तर प्राण का, तदनन्तर वाक् का। ये तीनों अव्यय पुरुष की कला है, यह व्याख्या पहले पुरुष अधिकरण में हुई है। अनन्त ब्रह्माण्डों की सारी सृष्टि में ये कला सर्वसाधारण होती हैं। कहीं भी इन तीन कलाओं के बिना सृष्टि नहीं होती इसलिये इनकी प्रथम गणना आवश्यक है। तदनन्तर वायु का उदय होता है। वायु पद से यहां अक्षर पुरुष का कलारूप सृष्टि का कारणभूत सोम लक्षित हुवा है। यह भी सर्वसृष्टि साधारण है। आगे सूर्य, चन्द्र और पृथ्वी ये तीन पिण्डभाव प्रत्येक ब्रह्माण्ड में भिन्न भिन्न उत्पन्न होते हैं। इन सात अवयवों के उत्थान से प्रत्येक ब्रह्माण्ड सृष्टि की पूर्णता होती है। इन सात अवयवों वाले ब्रह्माण्ड का उत्पादक एक एक बल का महान् तरंग होता है। पृथ्वी की उत्पत्ति पर्यन्त उस तरंग का उत्थान होता है। आगे पतन (लय) अवस्था में पृथ्वी और चन्द्र सूर्य में लीन होते हैं, सूर्य मारुत नाम के सोममण्डल में, सोम वाक् में, वाक् प्राण में और प्राण मन में क्रमशः लीन होते हैं—इस प्रकार उत्थान की अन्तिम सीमाभूमि क्रमशः बुद्धि रूपता तक जाती है, अर्थात् क्रमशः मन में प्रलीन होती है। उतना पतनरूप वह बल का महान् तरंग होता है।

महातरंग के अवान्तर दूसरे बलतरंग से सूर्य का उद्भव होता है और एक ब्रह्माण्ड के सूर्य के नष्ट हो जाने के अनन्तर उस सूर्य उत्पादक तरंग का पतन (विलय) होता है।

दूसरे तरंग के अवान्तर तीसरे तरंग से पृथ्वी का उद्भव होता है और उस पृथ्वी के नष्ट होने के अनन्तर तदुत्पादक तरंग का पतन होता है। 'सूर्य का संबन्ध हो जाने पर इस तरंग से पृथ्वी का उदय होता है' ॥५४॥

३. आगे उस महातरंग में उत्पन्न होने वाले अवान्तर तरंगों का विवरण करते हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रधान भूत सूर्य को उत्पन्न करने वाले दूसरे महातरंग के अधीनस्थ अवान्तर तरंग का उत्थान होता है। एक एक सूर्य से संबद्ध एक एक ब्रह्माण्ड होता है। सूर्य का लय ही उस तरंग का पतन काल होता है। और आगे सूर्य के सम्बन्ध से पृथ्वी को उत्पत्ति के लिये अन्य अवान्तर बल के तरंग का उत्थान होता है और पृथ्वी का नाश ही उस तरंग के पतन की अवधि होती है।

पार्थिव प्राणियों की उत्पत्ति भी अवान्तर लघु तरंगों से होती है, जैसे एक राम नाम के व्यक्ति की उत्पत्ति पृथ्वी के अवान्तर लघु तरंग का उत्थान है और उस राम का मरण तत्संबन्धी तरंग का पतन है। इस तरह विभिन्न पृथक्-पृथक् कर्मों का यथा विधि उत्थान तथा पतन निश्चित करना चाहिये ॥५५॥

४. इस पृथ्वी पर मनुष्य आदि जो प्राणी उत्पन्न होते हैं, उनके उत्पादक अवान्तर तरंगों के भी और अवान्तर तरंग होते हैं। जैसे किसी राम नाम के प्राणी की उत्पत्ति पृथ्वी के अवान्तर तरंग का उत्थान है और उसका मरण ही उस तरंग का पतन है। इस प्रकार प्रत्येक जड़ चेतन का उत्पादन और विनाशरूप पृथ्वी के उत्पादक तरंगों के अन्तर्गत ही समझना चाहिये।

५. आगे मनुष्य आदि प्राणियों की पृथक्-पृथक् क्रियाएं एक-एक मनुष्य को उत्पन्न करने वाले तरंगों के भी अवान्तर तरंगों से सम्बद्ध होती हैं। उन विभिन्न क्रियाओं का संकेत नामत: पद्य के पूर्वार्ध में किया गया है। इन क्रियाओं के उत्थान और पतन भिन्न-भिन्न होते हैं इस तरह ये सब कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं। इनमें एक-एक क्रिया भी अनेक क्रियाओं की समष्टिरूप होती है, उनमें अन्तर्भूत क्रियाओं के उत्थान-पतन भी भिन्न-भिन्न होते हैं यह व्याख्या पहले हो चुकी है, पुन: स्पष्टीकरण के लिए आगे के पद्य में भी उल्लेख किया गया है। इस परम्परा की अन्तिम अवधि क्षणिक कर्म ही है यह कहते हुवे उपसंहार किया गया है।

मनुष्य का बोलना, पकाना, सुनना, खाना, सोना, खड़े रहना अथवा देखना आदि सब बल (कर्म) के रूप हैं। इन सब में भिन्न-भिन्न उत्थान-पतन लोक में होते हैं ॥५६॥

पाकक्रिया आदि उत्थान-पतन रूप एक भङ्ग (तरंग) में नाना क्रिया रूप उत्थान-निपातरूप अवान्तर भङ्ग (तरंग) होते हैं, उनके भी भीतर ही भीतर क्रमश: उत्थान-पतन रूप तरंग क्षणिक कर्म में पृथक्-पृथक् अनेक होते हैं ॥५७॥

(४९) क्षणिकाधिकरणम्

[1]उच्चावचानेकविधेषु तेषु सान्तानिकेषु क्षणिकानि सन्ति।
सुशृङ्खलाबद्धनिजक्रियाणि बहुक्षणावृत्तिरतोऽस्ति तेषाम् ॥५८॥

[3]सान्तानिकान्यप्यखिलानि धारावाहीनि कर्माणि भवन्ति किन्तु।
[2]सा[illegible] सान्तानि ततस्तृतीयात् प्रावाहिकाद्भिन्नतराणि तानि ॥५९॥

सादीनि

[3]अथाखिलानि क्षणिकानि तानि सोत्थानपातानि भवन्ति किन्तु ।
धाराप्रवाहीणि न सन्ति तस्मात् सान्तानिकाद् भिन्नतराणि तानि ।।६०।।

बलं तु सान्तानिकमत्र भिद्यते तथापि नेदं क्षणिकैर्विना कृतम् ।
प्रावाहिकं चापि बलं प्रभिद्यते विना तु सान्तानिककर्मभिर्न तत् ।।६१।।

ऊँचे नीचे अर्थात् छोटे-बड़े अनेक प्रकार के सांतानिक कर्मों में सुशृङ्खलाबद्ध (परम्परा क्रम से बँधे हुवे) क्षणिक कर्म अपनी क्रियाओं में निरत रहते हैं, अतः प्रवाहरूप से उनकी अनेक क्षणों तक वर्तमानता रहती है ।।५८।।

१. सन्तान कर्मों के अन्तर्गत क्षणिक कर्म होते हैं, इस पूर्व कथन की क्रम प्राप्त पुनरावृत्ति की जा रही है । क्षणिकों की सन्तान रूपता कैसे होती है इसका पहले समाधान हो जाने पर भी श्लोक के उत्तरार्द्ध से पुनः स्मरण कराया जाता है । क्षणिकों का व्यापार नाम से कहा जाने वाला क्रिया भाव वाला निज स्वरूप रस का आधार पाकर शृङ्खलाबद्ध होकर बिना रुकावट से क्रमबद्ध चालू रहता है, अतः क्षणिकों का भी बहुत क्षणों तक वृत्तिता रूप सन्तान भाव प्रतीत होता है । जैसे बिना रुके हुवे बार बार पैर का उठाना और आगे रखना रूप क्षणिक कर्म अनेक बार की क्रमबद्धता पाकर गन्तव्य स्थान तक गतिरूप सन्तान भाव को उत्पन्न करता है, यह विवरण पहले किया गया है ।

सारे सान्तानिक भी धारावाही कर्म होते हैं, किन्तु उनका आदि और अन्तभाव रहता है, अतः वे तीसरे प्रावाहिक कर्म से भिन्न माने जाते हैं ।।५९।।

२. कर्मों के ये तीन भेद क्यों माने जाते हैं ?—इस प्रश्न के समाधान के लिए कर्म की तीनों विधाओं में परस्पर समानता और विषमता का विवरण किया जाता है । सान्तानिक कर्म भी धारावाही होते हैं, और प्रावाहिक भी धारावाही होते हैं ये तो दोनों में समानता है । किन्तु सान्तानिक का आदि अन्त होता है—जबकि प्रवाहिक अनादि-अनन्त होते हैं, यह इन दोनों में भेद है । पाक, गमन आदि एक एक कर्म सन्तान रूप किसी विशेष समय में ही प्रारम्भ होता है और पाक रूप फल को तथा गन्तव्य स्थान प्राप्ति रूप फल को उत्पन्न करके समाप्त हो जाता है । इस ही प्रकार पृथ्वी आदि को उत्पन्न करने वाले महासन्तानों का भी आरम्भ और पृथ्वी के नाश पर समाप्ति, पूर्व अधिकरण में व्याख्यात हुई है । कर्म का प्रवाह तो कभी भी रुकता नहीं, वह तो अनवरत सृष्टि-प्रलय को उत्पन्न करता रहता है प्रवाह अधिकरण में यह विवरण किया जा चुका है । इस भेद के कारण ही सान्तानिक और प्रवाहिक पृथक् पृथक् गिने जाते हैं ।

सारे क्षणिक कर्म भी उत्थान-पतन रूप तो होते हैं किन्तु वे धाराप्रवाही नहीं होते, अतः सान्तानिक कर्मों से भिन्न माने जाते हैं ।।६०।।

३. क्षणिक कर्म जैसे उत्थान-पतन युक्त होते हैं, वैसे ही सान्तानिकों का भी उत्थान-पतन होता है—ये दोनों की समानता है, किन्तु सान्तानिकों में क्रम बद्ध परम्परा की धारा देखी जाती है । क्षणिक कर्म तो एक एक व्यक्ति रूप होते हैं उनमें धारा नहीं होती, यह सान्तानिक और क्षणिक की विषमता होती है । इसलिये दोनों पृथक् पृथक् कहे गये हैं ।

यद्यपि सान्तानिक बल (कर्म) भिन्न होता है, तथापि वह क्षणिक के बिना कभी नहीं रहता है। इस ही प्रकार प्रावाहिक बल भी भिन्न होता है किन्तु वह भी सान्तानिक के बिना कभी नहीं रहता है ।।६१।।

[1]नित्यानुवृत्तक्षणिकस्य दृश्यते हेतुर्न तूत्थाननिपातयोः पृथक् ।
प्रावाहिकस्यापि पृथङ्न दृश्यते हेतुः प्रवाहे सततानुवर्तिनि ।।६२।।

सान्तनिकानामुभयं तदिष्यते सहेतुकं यत् तदनित्यमिष्यते ।
[2]यत् साधकं बाधकमप्यमुष्य तद् बलं बलस्येति विचित्रतेक्ष्यते ।।६३।।

[3]ज्योतिर्मयो मूलरसः प्रतिष्ठितः स सोत्क्रमः स्यादशनायया कृतः ।
तत्राशनायोत्क्रमते रसस्त्वयं सर्वत्र तस्यै स्थित एव लभ्यते ।।६४।।

[4]वायुर्यथाकाशगतः समन्ततः परिभ्रमन्नम्बरतो न हीयते ।
मृत्युस्तथैवाऽमृतगः स उत्क्रमं गतोऽपि नैतेन रसेन हीयते ।।६५।।

सर्वाधार रस में क्षणिक कर्म का उत्थान-पतन सतत होता रहता है किन्तु उन उत्थान और पतनों का पृथक् कोई हेतु ज्ञात नहीं होता। इस ही प्रकार सतत अनुगत रहने वाले प्रावाहिक के प्रवाह का भी पृथक् हेतु नहीं देखा जाता है ।।६२।।

१. इस कर्म के प्रकरण में बल पद, बल से उत्पन्न कर्म के लिए ही प्रयुक्त हुवा है। इस तरह कर्म के तीन भेद रहने पर भी क्षणिकों के बिना सन्तान भाव सम्भव नहीं होता, और सन्तान के बिना प्रवाह भाव भी सम्भव नहीं होता, इसलिये आगे आगे के रूप के लिये पहले पहले का अविनाभाव अवश्य मानना चाहिये यह भाव है। क्षणिक कर्म अपने आधार में कहां से अकस्मात् उत्पन्न हो जाता है इसका हेतु जाना नहीं जाता है। यदि यह कहा जावे कि प्राणियों की चेष्टा रूप कर्म तो आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होता है, और स्थावरों में अङ्कुर आदि का प्रसार वायु जल आदि के संयोग से होता है, इस तरह हेतु तो सर्वत्र देखा ही जाता है, यह सत्य होते हुवे भी विचारणीय यह है कि वह आत्मा का प्रयत्न भी मन अथवा प्राण का कर्म ही तो है, वह कहां से उत्पन्न होता है। यदि इच्छा से उसकी उत्पत्ति मानी जावे, तो इच्छा भी मन का कर्म है. वह कैसे उदित होता है? यदि इच्छा की उत्पत्ति ज्ञान से कही जावे, तो ज्ञान की सत्ता रहने पर भी कभी इच्छा होती है, कभी नहीं होती, अतः केवल हेतु रूप से ज्ञान का निर्धारण नहीं हो सकता। इस तरह परम्परा विचार में प्रथम कर्म के हेतु का सर्वत्र कथन नहीं हो सकता। सृष्टि के प्रारम्भ में बल जनित कर्म की प्रवृत्ति कहां से हुई इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। प्राणियों के अदृष्ट वश होती है यह कहना तो कल्पना का प्रदर्शन मात्र है। क्योंकि अदृष्ट की साक्षात क्रिया जनकता कहीं देखी नहीं जाती हैं। प्राणियों का अदृष्ट तो निमित्त कारण मात्र होता है। उपादान कारण तो वह नहीं बन सकता, निर्विकार रस की उपादानता सम्भव नहीं होती। उस आदि काल में अन्य किसी की सत्ता रहती नहीं है, अतः हेतु का ज्ञान नहीं होता यह ठीक ही कहा गया है। वैसे ही प्रवाह सतत अनुगत रहता है इस प्रतिपादन से उसका भी कोई हेतु नहीं होता—क्योंकि सहेतुक का कभी होना और कभी नहीं होना, यह प्रसंग

आ पड़ता है। इस तरह अज्ञात हेतुकता क्षणिक और प्रावाहिक की समान धर्मता होती है। सान्तानिक कर्म के तो उत्थान और पतन सहेतुक होते हैं। क्षणिकों की शृङ्खला ही उस उत्थान की हेतु है और फल की सिद्धि पतन की हेतु होती है, इस तरह उसके साथ दोनों का वैधर्म्य आगे कहा जा रहा है।

सान्तानिकों के आदि-अन्त दोनों माने जाते हैं, जो भी सहेतुक होता है वह अनित्य माना जाता है। बल वा कर्म की इन गतियों में कोई कर्म किसी का साधक होता है और कोई किसी का बाधक हो जाता है, यह विचित्रता भी देखी जाती है ।।६३।।

२. कर्म का अन्य धर्म भी बताते हैं—एक कर्म कहीं दूसरे कर्म का साधक होता है, जैसे लकड़ी के टुकड़ों का परस्पर संयोजन अग्नि जलाने में साधक होता है। कोई कर्म अन्य कर्म का बाधक होता है, जैसे काष्ठ का हाथ से उठा लेना उसके नीचे गिरने का बाधक होता है, और काष्ठ खण्डों को पृथक् पृथक् कर देना जलने की क्रिया का बाधक हो जाता है। ये विचित्रता भी कर्म में देखी जाती हैं। इस प्रकरण में बल शब्द बल जनित कर्म का बोधक है यह पहले कहा ही गया है।

ज्योतिरूप मूलरस सदा एक रूप में ही प्रतिष्ठित रहता है, अशनाया के द्वारा उसका उत्क्रमण (अन्यत्र गमन) होता है। वह उत्क्रमण भी वास्तव में अशनाया का ही होता है—उस अशनाया की स्थिति के लिए रस तो सर्वत्र स्वभावतः रहता ही है ।।६४।।

३. कर्मों के सन्तान भाव में और प्रवाह रूप में रस निर्विकार ही रहता है, यह विषय प्रथम अधिकार में निर्विकार अधिकरण में विस्तार से प्रतिपादित हो चुका है, उसका यहां पुनः स्मरण कराया गया है—मूलभूत रस ज्योतिर्मय—ज्ञानस्वरूप, प्रतिष्ठित अर्थात् सदा एकरूप ही होता है। अशनाया के कारण जो उसका उत्क्रमण प्रतीत होता है—वह उत्क्रमण भी अशनाया का ही होता है। जहां भी अशनाया बाहर जाती है वहां रस की स्थिति तो रहती ही है—क्योंकि रस तो सर्वत्र व्यापक है। उसके उत्क्रमण की कल्पना नहीं की जा सकती।

जैसे आकाश में चलने वाला वायु सब ओर घूमता हुवा भी आकाश से अलग नहीं होता—आकाश को छोड़ नहीं सकता, वैसे ही मृत्यु सदा अमृत में अनुगत रहता है, वह उत्क्रान्त होकर भी रस से परित्यक्त नहीं होता है ।।६५।।

४. कथित अर्थ में दृष्टान्त बताते हैं—जैसे वायु आकाश में चलता है, आकाश वायु का आधार है। किन्तु वायु ही चलता है, वह वायु जहां भी जावे आकाश वहां भी रहता ही है, अतः आकाश के चलने की कल्पना नहीं करनी चाहिए। अम्बरतः—अर्थात आकाश से उसका छुटकारा नहीं हो सकता, वह जहां भी जाता है आकाश के सहारे से ही स्थिति पाता है। वैसे ही अमृतमय रस में चलता हुवा भी मृत्यु अर्थात् कर्म रस से विहीन नहीं होता—अर्थात् अपने आधार भूत रस का परित्याग नहीं करता। क्योंकि रस की तो सर्वत्र व्यापकता है, उसका परित्याग असंभव है।

(५०) कर्मबन्धाधिकरणम्

[१]स्वल्पाशनाया रसगाप्यपूर्णा नित्यं रसायोत्क्रमते परस्मै ।
तावद्रसं प्राप्य निवर्तमाना पुना रसायोत्क्रमते परस्मै ।।६६।।
संप्राप्य संप्राप्य रसं निवर्तते तस्या निवृत्तौ स रसोऽवशिष्यते ।
आत्मन्वितामेति न यावदुत्क्रमे तावद्वृथैवोत्क्रमते निवर्तते ।।६७।।
[२]यथा तरङ्गा उदके भवन्तो वृथैव नाशं परियन्ति भूयः ।
बाध्वम्बुबन्धेन तु फेनभूता आत्मन्विनः पोषकृतः प्लवन्ते ।।६८।।
[३]सग्रन्थिबन्धेन तथा कृतात्मतां गताः स्ववृद्ध्यै प्रभवन्ति ते पुनः ।
मृत्यूत्क्रमाः प्राप्य रसं मुहुः क्रमादपूर्णमात्मानमिवाभरन्ति हि ।।६९।।
[४]पूर्णं पुरा बन्धगतं च पूर्णं पूर्णात्पुनः पूर्णमुदच्यते तत् ।
पूर्णस्य पूर्णं परिगृह्यते चेदन्तेऽवशिष्येत तदेव पूर्णम् ।।७०।।

अशनाया स्वभावतः अतिअल्प होती है, रस में अनुगत हो जाने पर भी वह अपूर्ण ही रहती है । अन्य रस की प्राप्ति के लिए उसका नित्य उत्क्रमण (बाहर गमन) होता है । जितने रस को पाकर वह वापिस होती है, उससे अतिरिक्त रस के लिए वह पुनः उत्क्रमण करती है ।।६६।।

रस को बार-बार प्राप्त करके अशनाया वापिस आती है, उसके लौट आने पर भी व्यापक रस तो अवशिष्ट रहता ही है । वह अशनाया बल बाहर उत्क्रान्त होकर भी यदि रस रूप आत्मा का अनुगमन नहीं कर पाता, अर्थात् रस को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है, तब वह उत्क्रमण व्यर्थ हो जाता है, बिना रस पाये ही वह लौट आता है ।।६७।।

१. कर्म से बन्धन कैसे होता है इसका युक्ति और दृष्टान्त द्वारा उपपादन करते हैं । अशनाया नाम से जो इच्छा शक्ति प्रकरण में विस्तार से बताई गई है, वह अशनाया स्वयं परिच्छिन्न (सीमित) होती है, अतः अपूर्ण होती है, अपनी अपूर्णता से रस को भी सीमा बद्ध सा दिखाती है—यह पहले उपपत्ति सहित बताया जा चुका है । वह अशनाया पूर्णता के लिये अर्थात् रस ग्रहण करने के लिये उत्क्रमण करती है—अर्थात् चल पड़ती है । जिस रस का आधार वह पा जाती है उसमें भिन्न रस को लाकर जोड़ देने के लिए आक्रमण करती है । यद्यपि रस एकरूप ही होता है, उसमें भेद नहीं होता, तथापि मायारूप बल परिच्छेद करके उसमें भेद कर देता है यह अनेक बार कहा गया है । उत्क्रान्त होकर अशनाया रस पाकर लौट आती है । आक्रमण द्वारा लाये गए उस अन्य रस को अपने आधारित रस में युक्त कर देती है । इस तरह एक बार लौटकर भी पुनः पुनः प्रवृत्त होती है और रस को पाकर पुनः निवृत्त होती है यह क्रम चलता रहता है । अशनाया के लौट जाने पर भी नित्य रस तो सदा अवशिष्ट रहता ही है । जब बाहर जाने पर भी अशनाया नाम का बल रस लाभ नहीं कर पाता तब आत्मन्विता नहीं होती, अर्थात् रस रूप आत्मा उसमें प्रविष्ट नहीं होता तब वह उत्क्रमण और निवर्तन निष्फल हो जाता है । यह कर्म के क्रम का बोध कराने वाली दो श्लोकों की व्याख्या है ।

जैसे जल में उठते हुवे तरंग फिर जल में ही नष्ट होकर विलीन हो जाते हैं, उन तरंगों में यदि वायु से जल का बन्धन हो जाता है तो फेन रूप में आकर आत्मा का अनुगमन कर लेते हैं, अर्थात् रस द्वारा पोषण पाकर पृथक् रूप में जल में तैरने लगते हैं ।।६८।।

२. पूर्व पद्योक्त बल की सफलता और निष्फलता को दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। जल में तरंग सतत उठते हैं और नष्ट हो जाते हैं इस तरह वे सब निष्फल होते हैं। जब कोई तरंग उसमें आये हुवे वायु द्वारा बांध दिया जाता है, अर्थात् उस जल तरंग को वायु अपने आवरण में ले लेता है तब वायु और जल के संघर्ष से तरंग फेन को उत्पन्न कर देता है, यह ही उसकी सफलता होती है। वह नया उत्पन्न फेन जल का पोषण करने वाला होता है। अर्थात् नवीन पदार्थ को उत्पन्न करके वृद्धि संपादन करता है।

जल में बने हुवे फेन ग्रन्थिबन्धन द्वारा आत्मानुगामी हो जाते हैं, अर्थात् रस का सहारा पा जाते हैं, और आगे अन्य भाव में इनकी वृद्धि होने लगती है। ये फेन वास्तव में मृत्यु रूप बल के उत्क्रमण भाव होते हैं। रस का आधार पाकर क्रमशः नवीन भावों में आते हुए ये मानो अपूर्ण आत्मा को पूर्णता से भर देते हैं ।।६९।।

३. इस प्रकार के फेन को उत्पन्न करने वाले वायु के बन्ध प्रकार जो कि बल के बन्ध हैं, वे ग्रन्थि युक्त बन्ध कहे जाते हैं। इनके द्वारा घिरा हुवा रस इनका आत्मा बन जाता है—अतः ये सब आत्माविशिष्ट-आत्मवान् कहे जाते हैं। उस फेन अवस्था में फिर अन्य बल की प्रवृत्ति होने पर वायु आदि के संघर्ष से मृत्स्ना (चिकनी मिट्टी), सिकता आदि का आविर्भाव हो जाता है, यह पहले पृथ्वी के उत्पत्ति क्रम में विवरण किया गया है। ये मृत्यु—बल के क्रमिक विकास रस को पाकर अपूर्ण आत्मा को परिपूर्ण करते हैं अर्थात् नये नये पदार्थों को उत्पन्न करके नानारूपता से निज के महत्व को प्रसिद्ध करते हैं। यह तात्पर्य है।

बल द्वारा बन्धन से पहले रसपूर्ण था, वह बन्धगत होकर भी पूर्ण ही रहता है, उस पूर्ण में से ही पूर्ण पदार्थ का उदय होता है। उस समुत्पन्न पूर्ण पदार्थ की पूर्णता पूरी तरह से विज्ञात हो जाने पर अन्त में जो बच जाता है—वह पूर्ण ही होता है ।।७०।।

४. भ्रान्ति के निराकरणार्थ यह बार बार स्मरण रखना चाहिये कि यह अपूर्णता वा रस के आश्रय से पूर्णता बल की ही होती है। रस तो बद्ध भाव में अथवा स्वतन्त्र अवस्था में सर्वथा पूर्ण ही रहता है। उसकी व्यापकता का परित्याग कभी नहीं होता। बद्ध के समान भासित होने पर भी वह वास्तव में पूर्ण ही रहता है, क्योंकि वह निर्विकार है। इस विषय में बहुत से दृष्टान्त निर्विकार अधिकरण में उपपत्ति सहित बताये हैं इस अर्थ को दृढ करने के लिए "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" इत्यादि पूर्व अनुवादित श्रुति का पुनः अर्थ करते हुवे अनुवाद कर रहे हैं। पुरा अर्थात् बन्धभाव से पहले भी रस पूर्ण रहता है। श्रुति की अनुवादरूपता के कारण ब्रह्म को विशेष्य मानकर यहां नपुंसकलिङ्ग का निर्देश है। बन्ध अवस्था में भी वह पूर्ण ही रहता है—अपनी व्यापकता को नहीं छोड़ता, बन्धन बल का ही होता है रस का नहीं होता। रस का तो विभूति सम्बन्ध ही होता है ये सब पूर्व प्रतिपादित हो चुका है। यह बन्धगत पूर्ण भाव उस स्वतन्त्र पूर्ण से ही उठाया जाता है, अर्थात् बन्ध के द्वारा निकाल कर पृथक् किया जाता है, महान् आकाश में से

मन्दिरगत आकाश के समान वह पृथक् भासित होता है, वह वास्तव में पृथक् नहीं होता है। बन्धन में आये हुवे पूर्ण की पूर्णता अर्थात्—व्यापकता का बुद्धि में यदि ज्ञान हो जावे तो अन्त में वह बन्धन हीन स्वतन्त्र पूर्ण ही अवशिष्ट रहता है। सीमाभाव में आये हुवे सारे भावों का एकीकरण करके यदि बुद्धि में निवेश कर दिया जाय तो पुनः व्यापक भाव ही भासित होता है—इस तरह स्वतन्त्रता नहीं छूटती, यह तात्पर्य है। जैसे निर्विशेष ब्रह्म बुद्धि गम्य नहीं होता है, वैसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड में परिसीमित को भी एक करके बुद्धि में सन्निविष्ट नहीं किया जा सकता यह विवरण प्रवाह अधिकरण में सम्यक् कर दिया गया है। इस तरह निःसीम होने से अथवा अतिसीम होने से वह भी पूर्ण ही होता है। यह सर्वब्रह्माण्डगत पूर्ण भी स्वतन्त्र है और व्यापक पर ब्रह्म तो पूर्ण है ही दोनों वास्तव में भिन्न नहीं हैं। अन्त में वह व्यापक स्वतन्त्र पूर्ण भाव ही अवशिष्ट रहता है—यह भाव है।

[1]मात्राविशेषात्त्वमृते स मृत्युः संसृज्यते ग्रन्थिरिहोदितः सः।
तत्कर्म बध्नाति नु बध्यते नु तत्कर्मबद्धं मतमत्र मर्त्यम् ॥७१॥

[2]उत्क्रम्य वायुः स यथोदकेऽस्मिन्नाबध्यते तेन विभाति फेनः।
आबध्यते ब्रह्मणि कर्म तद्वत् तन्मर्त्यमेतत् प्रतिभाति विश्वम् ॥७२॥

(५१) कर्मप्ररोहाधिकरणम्

[3]सान्तानिकं कर्म भवेत्प्ररोहवत् तस्य प्ररोहाः प्रभवन्ति हि त्रयः।
मूलं च काण्डं च फलं च तत्क्रमादिच्छा क्रिया चावरणं च कथ्यते ॥७३॥

अमृतमय रस में मृत्यु का संसर्ग मात्रा विशेष से होता है, उसका नाम ही ग्रन्थि बन्धन है। वह कर्म ही बन्धन करता है तथा कर्म ही बांधा जाता है। वह बद्ध कर्म ही संसार में मर्त्य माना जाता है ॥७१॥

१. ग्रन्थि का तत्वनिरूपण करते हैं। मृत्यु अर्थात् बल मात्रा से परिच्छिन्न सीमित होता है। तरंग जैसे जल को बांधता है वैसे ही मृत्यु रूपबल रस को सीमाभाव में लेता हुवा सा यदि उससे संबद्ध होता है, तब वह ही ग्रन्थि नाम से कहा जाता है। कर्म ही बांधता है, कर्म ही बांधा जाता है, कर्म की ही कर्मान्तर से ग्रन्थि पडती है यह ही सर्वत्र होता है। दृढता से बोध कराने के लिए यह पुनः विवरण हुवा है। जैसे कर्म मर्त्य-मरणशील है, वैसे ही कर्मबद्ध भी अर्थात् कर्मबद्ध से उत्पन्न अपूर्व पदार्थ भी जो नामरूप विशिष्ट होता है वह भी मर्त्य—मरणशील ही होता है यह समझना चाहिये।

उत्क्रमण करता हुवा वायु जैसे उस जल में पूरी तरह से बांध दिया जाता है, उससे फेन भासित होता है, उसके समान ही ब्रह्म में कर्म का पूर्णतया बन्धन कर दिया जाता है। रस संबद्ध वह कर्म मरणशील इस विश्व के रूप में भासित होता है ॥७२॥

२. जैसे फेन के दृष्टान्त में फेन मरणशील ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार ही कर्मबन्ध से जो यह विश्व उत्पन्न होता है, वह भी मरणशील ही होता है। तत्व जिज्ञासुजनों को दृष्टान्त द्वारा यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

सानतानिक कर्म वृद्धि वाला होता है उसकी वृद्धि तीन प्रकार से उदित होती है। मूल काण्ड ग्रौर फल में वृद्धि के रूप हैं उनको ही क्रमशः इच्छा क्रिया और ग्रावरण कहा जाता है ।।७३।।

३. ग्रब कर्मों का प्ररोह बताते हैं। एक एक कर्म दूसरे कर्मों से मिलकर वृद्धि ग्रौर नये नये रूप जो धारण करता है उसको ही प्ररोह कहा जाता है। जैसे भूमि में बोया हुग्रा बीज जल मृत्तिका ग्रादि से मिलकर ग्रंकुर ग्रादि के क्रम से वृक्ष रूप से बढ़ता है ग्रौर पुष्प फल ग्रादि से पुष्ट हो जाता है। सन्तान रूपता में गया हुग्रा कर्म इस तरह ही प्ररोह वाला होता है, दूसरे कर्मों से मिलकर ग्रनेक प्रकार की पुष्टियां ग्रौर नये नये रूप ग्राविष्कृत करता है, यह भाव है। वे प्ररोह तीन होते हैं जैसे वृक्ष में मूल, काण्ड—मध्य का विस्तार रूप, ग्रन्त में फल इस तरह तीन प्ररोह होते हैं, वैसे ही कर्म के भी इच्छा, क्रिया ग्रौर ग्रावरण ये तीन प्ररोह—वृद्धि समझनी चाहिये। पहले जो इच्छा, क्रिया, ग्रावरण ग्रशनाया, विक्षेप ग्रौर ग्रावरण नाम से व्याख्यात हुए थे, वे सूक्ष्म होते हैं शक्ति नाम से कहे जाते हैं। वे ही स्थूलता पाकर कर्म के विस्तार रूप से जब ग्रनुभव में ग्राने योग्य हो जाते हैं, तब लोक में प्रसिद्ध इच्छा ग्रादि नामों से जाने जाते हैं। जैसे माया विशिष्ट जीवात्मा में शक्ति रूप से इच्छा रहती है, ग्रौर वही मन की वृत्ति रूप से जो ग्रनुभव की जाती है, वह उसका स्थूल रूप है। इसी तरह से शक्ति रूप से रहने वाले प्राण का स्थूल रूप क्रिया है इत्यादि।

[1]मूलं विदुर्वाऽध्यवसायमन्ये ज्ञानाशनायाकृतिभिस्त्रिकोशम् ।
ज्ञानाद्विहेच्छास्ति ततः प्रयत्नं स्वयं तदिच्छापदतोऽभिनेयम् ।।७४।।

[2]न मन्यतां चेतनमात्रनिष्ठं ज्ञानानुसार्यध्यवसायकर्म ।
ज्ञानेन्द्रियं चेतनमात्रनिष्ठं ज्ञानं तु सर्वत्र समं प्रवृत्तम् ।।७५।।

[3]नृपक्षिपश्वादिशरीरसंस्था भिन्ना तदात्माध्यवसायभेदात् ।
यथात्मनो जीवनचेष्टितं स्यात्तस्यानुकूलं भवतीह गात्रम् ।।७६।।

कुछ विद्वान् मूल के स्थान पर ग्रध्यवसाय को मानते हैं, ग्रौर इस ग्रध्यवसाय के तीन कोष मानते हैं वे हैं—ज्ञान, ग्रशनाया ग्रौर कृति। ज्ञान से लोक में इच्छा होती है इच्छा के ग्रनन्तर कृति रूप प्रयत्न होता है, पहले के श्लोक में ये इच्छा पद से ही कहे गये हैं ।।७४।।

१. ग्रब ग्रन्य भेद बतलाने के लिए दूसरे मत से उनके ग्रन्य नाम बतलाते हैं—मूल स्थानीय प्रारम्भ के प्ररोह को ग्रध्यवसाय नाम से कुछ लोग व्यवहार करते हैं। ग्रध्यवसाय नाम बुद्धि का है "ग्रध्यवसायो बुद्धि" ऐसा सांख्यकारिका में बुद्धि के पर्याय रूप से ग्रध्यवसाय पद कहा गया है। महान् पद से जाने जानी वाली शक्तिरूपिणी बुद्धि का स्थूल रूप ही ग्रध्यवसाय होता है ये उस कारिका का ग्रर्थ समझना चाहिये। इस ग्रध्यवसाय के ग्रर्थात् स्थूल बुद्धि रूप के तीन कोष हैं—ग्रर्थात् तीन रूपों से वह बुद्धि भाव में दिखाई देता है वे रूप हैं ज्ञान, ग्रशनाया—इच्छा ग्रौर प्रयत्न। इनका ही कार्यकारण भाव नैयायिकों द्वारा ख्यात हुग्रा है—"ज्ञानजन्याभवेद् इच्छा

इच्छाजन्याकृतिभवेद्" इति अर्थात् ज्ञान से इच्छा उत्पन्न होती है और इच्छा से प्रयत्न होता है। पहले के मत में इच्छा पद से ही इन तीनों का ग्रहण कर लेना चाहिये।

ज्ञान का अनुसरण करने वाला यह अध्यवसाय रूपकर्म केवल चेतन प्राणियों में ही रहता है ऐसा नहीं समझना चाहिये, अर्थात् यह जड़ चेतन सबमें समान रहता है। हाँ ज्ञान इन्द्रिय चेतन प्राणि मात्र में रहता है ज्ञान तो सर्वत्र ही समान रूप से प्रवृत्त रहता है ॥७५॥

२. ये ज्ञान इच्छा आदि चेतन प्राणियों में ही होते हैं जड़ कहे जाने वाली सृष्टि में नहीं होते— "ऐसा नहीं मानना चाहिये।" शक्ति से उत्पन्न होने वाला यह कर्म का प्ररोह—वृद्धि रूप ज्ञान इच्छा आदि रूप में सबमें व्याप्त रहता है, जड़ सृष्टि में इन्द्रियों का अभाव रहने से उनका प्रकाश नहीं हो पाता— यह अनेक बार कहा जा चुका है यहां फिर स्मरण कराया गया है।

मनुष्य, पक्षी, पशु आदि की शरीर की संस्था—बनावट भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। उसी प्रकार से उनके आत्मा और अध्यवसाय में भी भेद होता है। जिस जीवात्मा की जीवन की जैसी चेष्टा होती है उसके अनुसार ही उसके शरीर की बनावट भी लोक में होती है जिसको गात्र कहा जाता है ॥७६॥

३. यह कर्म प्ररोह (वृद्धि रूप) अध्यवसाय सब जब जगह भिन्न-भिन्न रूपों में रहता है इसके भेद के अनुसार ही मनुष्यों की पशुओं की और पक्षियों की शरीर संस्था—शरीर के अवयवों के सन्निवेश पृथक् पृथक् होते हैं

"सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्ममहद्योनिरहं बीजप्रदः पिता।"

अर्थात् हे कौन्तेय ! सृष्टि की सब योनियों में जितने भी शरीरों का उद्भव होता है उन सबकी ब्रह्ममहत्—अर्थात् ब्रह्ममयी बुद्धि उद्भव स्थान है और मैं उनमें बीज प्रदान करने वाला—चेतना देने वाला पिता हूं—इस भगवद्गीता के श्लोक में शक्ति रूप जो महान्—बुद्धि है वह सब आकृतियों को उत्पन्न करने वाली बताई गई है, उसका ही स्थूल रूप यह अध्यवसाय नाम का है यह अभी बताया जा चुका है। उन सब प्राणियों के जीवन निर्वाह के लिए यथाविधि की गई जीवन चेष्टा—अर्थात् क्रिया करना आवश्यक होता है, और उसके अनुकूल ही उनके शरीरों का संगठन होता है उत्पत्ति तद्नुसार ही उनके शरीर होते हैं वे सब इस कर्म प्ररोह रूप अध्यवसाय द्वारा ही निर्माण किये जाते है। जैसे पशुओं के द्वारा भूमि में पैदा होने वाला तृण घास आदि खाया जाता है वे चार पैर वाले और समान भाव से सूत्र मुख होते हैं। यदि मनुष्यों के समान उनका मुख ऊपर की ओर होवे तो वे भूमि में पैदा होने वाले घास आदि को सुकरता से सुख पूर्वक नहीं पा सकते। और उस घास आदि का छेदन भी उनको मुख से ही करना पड़ता है इसलिए उनके आगे के दांत शक्तिशाली बनाये गये हैं। गौ आदि का दुग्ध अन्य जन भी उपयोग में ले सकें इसलिए उनके स्तन थन भाग नीचे ही स्थापित किये गये हैं, और दुग्ध संरक्षण की पूर्णता के लिए थनों के पार्श्व भाग जिसे ऊधस—ऐन, ओडी या गादी कहते हैं वह

भी वहाँ विस्तार से बताया गया है, यह सब गूढता से देखना चाहिये । यह विषय ग्रन्थकार ने अन्यत्र विस्तार से कहा है यहां संकेत मात्र किया गया है ।

[1]सर्वेषु चार्थेषु मताशनाया सर्वोऽन्नमश्नाति निजं प्रयत्नात् ।
ईक्षां विनेच्छा न भवेद्यतस्तत् प्रज्ञापि सर्वत्र मताधिभूतम् ।।७७।।

[2]काण्डं विदुर्वा व्यवसायमन्ये कम्पो गतिः क्षोद इति त्रिकोशम् ।
कम्पो गतिः स्यादत्र नोदनास्यान्त्त्रथ क्रियावृत्तिपदाभिनेयम् ।।७८।।

[3]कम्पः स उच्छेदपरा क्रिया चेत् फलोन्मुखी चेविह सा गतिः स्याद् ।
सा नोदना भिन्नबलोन्मुखी चेदेकोऽयमर्थस्त्रिविधः प्रदिष्टः ।।७९।।

[4]फलं विदुर्ब्रह्माणि भोगमन्ये भोगः स संस्कार इहात्मनो यः ।
माया च सत्यं परकर्मबीजं यज्जायते तेन फलं त्रिकोशम् ।।८०।।

संसार के सब पदार्थों में अशनाया—इच्छा रहती है, सब अपना-अपना अन्न अपने-अपने प्रयत्न से खाते हैं । ईक्षा-ज्ञान के बिना इच्छा नहीं होती, इस लिए पंचभूतों से निर्मित इस जगत् में अर्थात् अधिभूत में प्रज्ञा – (ज्ञान) भी सर्वत्र रहती है ।।७७।।

१. अध्यवसाय नाम से कहे जाने वाले ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न संसार में सर्वत्र हैं इसका उपपादन अन्य प्रकार से कर रहे हैं—सब जड़ चेतन आदि अपना अपना अन्न खाते हैं—इसलिये अशन भोजन की इच्छा यह जिसका दूसरा नाम है वह अशनाया सब जगह ही माननी चाहिये । चेतन प्राणियों का तो इच्छा पूर्वक अपना अपना अन्न ग्रहण स्पष्ट ही देखा जाता है । वृक्ष लता आदि भी बढ़ते रहते हैं यह देखा जाता है, अन्न के ग्रहण किये बिना वृद्धि कैसे हो सकती है, और इच्छा के बिना अन्न ग्रहण में प्रवृत्ति कैसे हो सकती है, इस तरह उनमें भी अशनाया रहती है यह स्पष्ट सिद्ध होता है । खनिज धातुओं में भी वृद्धि देखी जाती है । इसलिए वहां भी पूर्वोक्त रीति के अनुसार दोनों का अनुमान होता है । लोहे आदि में से किट्ट रूप मल निकलता है, और मल का निकलना अन्न के भोजन करने वालों में ही होता है इसलिये उन लोह आदि में भी अन्न ग्रहण और अशनाया का अनुमान होता है । सूखे काठ और पत्थर आदि पर भी बहुत काल के अनन्तर किट्ट रूप पपड़ी नाम से प्रसिद्ध पदार्थ होता है, इसलिए वहां भी पूर्व प्रक्रिया के अनुसार अन्न का भोजन और अशनाया— इच्छा का अनुमान किया जा सकता है । पर्वत आदि में जो पत्थर हैं वे भी अपने पास की मृत्तिका को आत्मसात् करके अर्थात् अपने ही रूप में सन्निविष्ट करके क्रमशः बढ़ते हैं, ये उस विद्या के परिचित जन जानते हैं, वास्तव में तो सब जड़ चेतनों में पुराने अवयवों का निकल जाना और नये अवयवों की उत्पत्ति में ये निर्गम और आगम होते ही हैं । और उससे ही क्रमशः प्राचीनता और जीर्णता देखी जाती है इसका प्रतिपादन पहले ही कर चुके हैं । आये हुए नये अवयवों का स्वीकार कर लेना ही अशन—भोजन कहलाता है । यह सर्वत्र ही सिद्ध होता है । बिना इच्छा के और उससे पैदा होने वाले प्रयत्न बिना चेतन प्राणियों में अन्न का ग्रहण नहीं देखा जाता—इस तरह से चेतनों के दृष्टान्त से ही जड़ वर्ग में इच्छा और प्रयत्न का अनुमान करना चाहिये, और इच्छा जब तक इष्ट पदार्थ का ज्ञान न हो जिसको कि ईक्षण कहा जाता है उसके बिना चेतनों में नहीं देखी जाती, इसलिये इच्छा के साथ साथ

ज्ञान भी चेतनों के दृष्टान्त के अनुसार जड़ वर्ग में भी अनुमित होता है इसलिए सारा अध्यवसाय वहां भी सिद्ध होता है।

अन्य विद्वान वृक्ष के काण्ड—मध्य विस्तार को व्यवसाय बताते हैं इस व्यवसाय के भी कम्प, कम्पन, गति और क्षोद ये तीन कोष—विभाग हैं। चाहे कम्प हो, चाहे गति हो और चाहे नोदना-प्रेरणा हो ये तीनों ही क्रिया की वृत्ति-भेद मानी जाती हैं ।।७८।।

२. अब वृक्ष के काण्ड के स्थान में जो क्रिया इस अधिकरण के प्रथम श्लोक में कही थी, उसके स्थान में अन्य विद्वान् व्यवसाय नाम देते हैं। अध्यवसाय जो पहले कहा गया है वह आन्तर—भीतर की क्रिया है। उसमें पैदा होने वाला व्यवसाय जो शरीर से सम्बन्ध रखने वाला है, तात्पर्य यह है कि अध्यवसाय और व्यवसाय ये दोनों शब्द दूसरों के द्वारा निविष्ट किये हुए हैं। अध्यवसाय के समान उस व्यवसाय के भी तीन कोष हैं, अर्थात् वह भी तीन भाग वाला है उन भागों के नाम हैं कम्प, गति और क्षोद। क्षोद को ही श्लोक के उत्तरार्द्ध में नोदना पद से कहा है। पहले प्रकरण में जिनका व्याख्यान हुआ है वे नोदना आदि शक्तिरूप है, यहां कही जाने वाली नोदना उस शक्तिरूप से पैदा हुई स्थूल क्रिया रूप है यह भी यहां ध्यान रखना चाहिए। ये तीनों क्रिया की वृत्तियां भेद कही जाती हैं। इन तीनों रूपों से क्रिया लोक में देखी जाती है यह तात्पर्य है।

जीवन में उच्छेद—विनाश करने वाली क्रिया को कम्प कहते हैं और जो फलोन्मुखी—फल को उत्पन्न करने वाली क्रिया होती है वह गतिनाम से कही जाती है और जो क्रिया दूसरी जगह अन्य बल को उत्पन्न करने वाली हो यह नोदना कहलाती है वास्तव में यह एक ही क्रिया तीन तरह की बतलायी गयी है ।।७९।।

३. ऊपर कही गई तीन क्रियाओं के परस्पर भेद बतला रहे हैं—उच्छेदपरा विनाश करने वाली क्रिया कम्प नाम से कही जाती है। फलोन्मुखी—फल को उत्पन्न करने वाली और पोषण करने वाली गति कही जाती है। भिन्न बलोन्मुखी—अन्यत्र अन्य बल को उत्पन्न करने वाली तीसरी नोदना कही जाती है। इस तरह क्रिया के नाम से जो एक अर्थ कहा जाता है, उसके ही फल की दृष्टि से तीन नामों का व्यवहार किया जाता है।

फल को ही अन्य विद्वान् ब्रह्म में होने वाला भोग बतलाते हैं। आत्मा का जो संस्कार है उसे ही भोग कहते हैं ये फल या भोग भी तीन कोष वाला है वे तीन भेद हैं माया, सत्य और परकर्म बीज ।।८०।।

४. वृक्ष के फल के स्थान में जो आवरण पहले श्लोक में कहा गया है, अन्य विद्वान् उसी को भोग शब्द से कहते हैं। भोग अर्थात् भोग करने का पदार्थ, किसके भोग करने का पदार्थ यह जानने की इच्छा में ब्रह्म के भोग करने का यही कहना पड़ेगा। कर्म द्वारा पैदा की हुई चीज का ब्रह्म भोग करता है। यद्यपि ब्रह्म में भोग अर्थात् उस पदार्थ को आत्मसात्—अर्थात् अपने अधिकार में कर लेना यह प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि बल वा कर्म अपने द्वारा उत्पन्न किया हुआ फल ब्रह्म में ही समपर्ण कर देता है, इतने मात्र को ही लक्ष्य करके ब्रह्म में भोग कहा गया है वो

भोग ही संस्कार नाम से भी कहा जाता है यह भोग भी पूववत् तीन कोष वाला है। और वे कोष हैं माया, सत्य और परकर्म बीज।

¹रसेऽमिते स्यादभितोमितिर्या माया तु सोक्ता बलमन्यदेतत्।
अभ्वं तु सत्यं मितिनामरूपे छन्नं हि सत्येन सदामृतं तत् ।।८१।।

तीनों भावों का २ श्लोकों में निर्वचन—निःसीम—सोमाहीन रस में जो चारों तरफ सीमा बनाने वाली है वह माया कही गई है बल इसमें दूसरा रूप है। दूसरा कोष जो सत्य नाम से कहा गया है उसको अभ्व कहते हैं नाम और रूप से जो सीमा बनती है वह अभ्व है इस कारण ही "सत्येन अमृतं छन्नम्" यह वेद वचन है ।।८१।।

१. तीन कोषों को विभक्त करके दिखा रहे हैं—अमित—अपरिछिन्न—निस्सीम रस में जो चारों तरफ सब दिशाओं में, मिति—परिच्छेद—सीमा दिखाई देती है वह माया है। जगत् में सारे पदार्थ दिशाओं से घिरे देखे जाते हैं। प्रत्येक पदार्थ का कोई भाग पूर्व की तरफ होता है कोई भाग दक्षिण की तरफ होता है—इस प्रकार ये दिशाओं से घिरी हुई चारों तरफ की सीमा होती है। प्रधान व्यापक रस में वह सीमा संभव नहीं है कर्म वृद्धि से ही ये सीमा पैदा होती है यह मानना चाहिए। पहले सीमा की साधन भूताशक्ति वह सबसे पहला रूप बल अथवा माया शब्द से बताया गया था। यहाँ तो उससे उत्पन्न होने वाली सीमा को ही माया रूप में बताया जा रहा है यह सर्वत्र याद कर करके भ्रम नहीं करना चाहिये, जिससे सीमा की जाती है इस तरह का कष्ट साधन माया शब्द पहले शक्ति रूप में व्यवहार किया गया था। यहाँ तो "मानम एवं माया" अर्थात् परिच्छेद भाव को ही भावसाधन रूप में देखना चाहिये। ये बल से पैदा होने वाला सीमा रूप कर्म पृथक् से कहे जाने वालों से भिन्न हैं यह तात्पर्य है। दूसरा कोष सत्य पद से जो कहा गया है वह ही अभ्व नाम से भी कहा जाता है। जिसकी सीमा की जाती है उस सीमित पदार्थ के जो नाम और रूप है—वे ही अभ्व या सत्य रूप में समझने चाहिये। यद्यपि वेदान्त के ग्रन्थों में यह प्रसिद्धि है कि नाम रूप कल्पित होते हैं अतः वे मिथ्या हैं, वास्तविक रूप में तो ब्रह्म ही सत्य है, परन्तु कहीं श्रुति में "नाम रूपे सत्यं" अर्थात् नाम रूप सत्य हैं 'तदवच्छिन्नं ब्रह्मतु अमृतम्' और उससे घिरा हुआ ब्रह्म तो अमृत है इस तरह नामों का भेद भी मिलता है और ऐसा मान लेने पर ही "सत्येनामृतम् छन्नं"—ये श्रुति में कहा हुआ वाक्य भी उपपन्न होता है। नाम और रूप के द्वारा मुख्य आत्मा रूप पदार्थ ढक जाता है केवल नाम और रूप ही सर्वत्र प्रतीति में आते हैं उसके अतिरिक्त कोई वस्तु तो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नही की जाती—यही छन्न शब्द का अर्थ है यहाँ—'सति भवं सत्यं' इस रूप में सत्य शब्द की व्याख्या करनी चाहिये, अर्थात् सत् रूप ब्रह्म में पैदा होने वाला सत्य। नाम और रूप नित्य सत् रूप ब्रह्म में आधेय रूप में रखे जाते हैं, और उसी के सहारे—अपना स्वरूप भी प्राप्त करते हैं यह नाम रूप ही सत्य शब्द की व्युत्पत्ति है। इस प्रकार ही श्री भागवत १० स्कन्द में गर्भ स्तुति के पद्य में, "सत्यस्य सत्यं" इस पद्य खण्ड की सम्माननीय विद्वान् यह व्याख्या करते हैं कि—नाम रूप सत्य है, उनका भी सत्य उनके स्वरूप को प्रतिष्ठित करने वाला उनका आधारभूत सत्य ब्रह्म है। ब्रह्म में सत्य शब्द की व्याख्या सत् ही सत्य है यह करनी चाहिये। तीनों कालों में भी जिसका बाध न हो—अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान में जो निर्बाध रहे, वह सत् सदा एक रूप है

उसमें सत्य शब्द का अर्थ है। कहीं-कहीं तो वेद में "सच्च, त्यच्च" यह अलग करके सत्य शब्द की व्याख्या देखी जाती है। ब्रह्म सत् है, नाम रूपतोत्य हैं यह तात्पर्य है। नाम रूप रहित ब्रह्म में नाम रूप कल्पित होते हैं यह एक ही अर्थ विभिन्न शब्दों में व्याख्यात हुआ है नाम और रूप ब्रह्म चैतन्य के सहारे ही स्वरूप प्राप्त करते हैं। अर्थात् ब्रह्म तो वास्तव में नाम और रूप के समान नहीं है उसमें नाम रूपों की कल्पना की गई है यही कहना चाहिये। यह ही अर्थ कहीं नामरूप मिथ्या हैं इस मिथ्या शब्द से भी कहे जाते हैं मिथ्या शब्द को भी ग्रन्थकार ने मिथ-संगमे इस धातु द्वारा संगत किया है अर्थात् दूसरी जगह साथ साथ ही रहते हैं यह ही अर्थ बनाया है। कहीं नाम रूप सत्य कहे जाते हैं, ब्रह्म को अमृत कहा जाता है वहां भी अमृत के विरोध में नाम और रूप की विनाशिता बताई गई है और नष्ट होने वाली दो वस्तु निराधार नहीं रह सकती अतः उनका आधार ब्रह्म सिद्ध हो ही जाता है। सत् और त्य इन दो खण्डों से अलग करके भी वही कहा जा रहा है। जैसे त्य शब्द सत् शब्द के आश्रित हो रहा है वैसे ही नाम और रूप सत् पद से जाने जाने वाले ब्रह्म में आश्रित हैं। उस तरह से विचार करने पर श्रुति और स्मृति आदि की सब जगह एक वाक्यता हो जाती है। बिना गहन विचार किये हुए तो केवल शब्द मात्रा को लेकर जो केवलवाद के रसिक हैं वे वृथा ही कलह करते हैं, विद्वानों को इसका पर्यालोचन अच्छी प्रकार करना चाहिये। यह ही बात महाबुद्धिशाली बालगँगाधर तिलक ने भी अपने गीता रहस्य में कही है "यदि श्री शंकराचार्य के कहे हुए मिथ्या शब्द में ही विद्वेष है, तो उसके स्थान में मिथ्या शब्द को छोड़कर सत्य शब्द बोल लीजिये और सत्य शब्द के स्थान में अमृत शब्द का प्रयोग कर लीजिये, सत्य और अमृत इस रूप में ऐसा कर लेने पर भी कोई हानि नहीं है जो अर्थ हम चाहते हैं वो सिद्ध हो ही जाता है।

[1]क्रमाद्बलं यद्घनतामुपेयात् तद्वासनाख्यावरणं रसस्य।
तद्बीजमुप्तं पुनरत्र मूलं भूत्वा प्ररोहत्यपरं प्ररोहम् ॥८२॥

[2]यच्छाद्यते तेन रसो रसेऽथवा वसत्तदा वासयते परं रसम्।
तदुत्तरं वासयते पुनर्बलं सा वासना तेन च भावना मता ॥८३॥

[3]सा वासनाऽपि त्रिविधा निरुक्ता विकर्म चाकर्म च कर्म चेति।
ये वै यमा ये नियमाश्च तानि कर्माणि यज्ञश्च तपश्च दानम् ॥८४॥

अकर्म यन्नात्र परत्र कामः क्रोधः प्रजातिर्व्यसनं विकर्म।
कर्म प्रसादं च विकर्म बन्धनं न किञ्चिदग्रे जनयेदकर्म ॥८५॥

अत्यन्त अणुरूप बल जब घनभाव में आता है तब वह रस का आवरण कर लेता है उस आवरण रूप बल का नाम वासना होता है। वह वासना बीजरूप में बोया जाकर फिर आगे स्वयं मूल रूप बन जाती है, मूल बनकर दूसरा कर्म प्ररोह निर्मित कर देती है अर्थात् बढ़ती हुई वह वासना अन्यान्य कर्मों को उत्पन्न करती रहती है ॥८२॥

१. तीसरे पर कर्म बीज नाम के कोष का विवरण करते हैं। बल सघन होकर वासना रूप में परिणत हो जाता है। वह वासना भी रस की आवरण रूप ही है, और वह वसना बीज रूप

बन जाती है वह मूल भाव में आकर पुनः दूसरे कर्म प्ररोह को आरम्भ कर देती है, उसके द्वारा दूसरा वृक्ष रूप कर्म प्ररोह प्रादुर्भूत हो जाता है यह तात्पर्य है।

वासना की व्युत्पत्ति—रस का जो आच्छादन करे वह वासना, अथवा स्वयं रस में निवास करे वह वासना, अन्य बल को वहाँ वास करावे वह वासना, इस प्रकार वासना शब्द का अर्थ होता है इसको ही भावना भी कहते हैं ।।८३।।

२. वासना शब्द का अर्थ बताते हैं "वसआच्छादने" इस धातु से अथवा "वसनिवासे" इस णिजन्त धातु से युच् प्रत्यय करने पर वासनाशब्द बनता है। प्रथम पक्ष में रस को आच्छादन करती है वह वसना यह अर्थ है अर्थात् रस रूप चेतन भाव को ढक देती है। दूसरे पक्ष में स्वयं रस में निवास करती है, और दूसरे रसानुगत बल को पुनः वृद्धि क्रम से वहाँ लाकर बसाती है—यह अर्थ होता है, यह भावना भी कही जाती है। वहाँ भी भावित करती है अर्थात् अन्य प्ररोह भाव को उत्पन्न करती है यह ही अर्थ समझना चाहिये। कहीं-कहीं तो कर्म से पैदा होने वाले संस्कार को वासना, और ज्ञान से उत्पन्न होने वाले संस्कार को भावना यह भेद बताया जाता है, संस्कार रूपता तो दोनों जगह समान है और संस्कार का आधान करने वाला ज्ञान भी वृत्ति रूप अर्थात् कर्म रूप ही होता है इस तरह कर्मजन्यता भी दोनों जगह समान है।

वह वासना भी तीन प्रकार की मानी गई है, विकर्म, अकर्म और कर्म इन रूपों में। परिणाम में सुख पहुँचाने वाले यम, नियम, यज्ञ, तप और दानादि कर्म कहे जाते हैं ।।८४।।

३. वासना भी तीन प्रकार की बताई जाती है कर्म, अकर्म और विकर्म रूप में। जिस वासना से उत्पन्न होने वाला दूसरा प्ररोह, वृद्धि रूप कर्म आत्मा को प्रसन्न करने वाला सुखकर होता है, वह वासना शुभकर्म को उत्पन्न करने के कारण कर्मरूपा कही जाती है, और जिस वासना से बढ़ा हुआ कर्म या पैदा हुआ कर्म दुःखकारी होता है, विरुद्ध कर्म को पैदा करने के कारण वह वासना विकर्म रूपा होती है। और जिस वासना से उत्पन्न हुआ कर्म सुख या दुःख कुछ भी पैदा नहीं करता जैसे जल ताडन आदि वह अकर्म नाम से कहा जाता है। यम, नियम, यज्ञ, तप, दान आदि शुभ होते हैं वे कर्म नाम से कहे जाते हैं और काम, क्रोध और उनसे उत्पन्न होने वाले विलास, व्यसन आदि विकर्म नाम से कहे जाते हैं। और जो कर्म इस लोक में अथवा परलोक में कोई भी सुख दुःख पैदा नहीं करता वह अकर्म होता है—हँसी मजाक में किये हुए वार्तालाप आदि, और पानी के पास बैठकर व्यर्थ ही पानी को पीटने लगना आदि। यद्यपि इन क्रिया से भी तात्कालिक विनोद रूप सुख मिलता है, तथापि अत्यन्त अल्प काल तक रहने के कारण उसकी फल रूप से गणना नहीं होती। उससे कोई संस्कार तो उत्पन्न ही नहीं होता—ये दो श्लोकों का सार लिखा गया है।

अकर्म वह है जो न यहाँ फल देता है और न परलोक में फल देता है, और काम, क्रोध, विलास, व्यसन ये विरुद्ध कर्म हैं अर्थात् विकर्म हैं, कर्म रस का प्रसाद करने वाला होता है विकर्म बन्धनकारी होता है अकर्म आगे कुछ भी पैदा नहीं करता ।।८५।।

[1]प्रसादवृद्धिक्रमतः सुखोदयो निःश्रेयसं चातिशयात्प्रसादतः ।
क्रमेण नैष्कर्म्यमुपागतं यदा चैकत्वमायात्यमृतं सुखं हितम् ॥८६॥

[2]विभूतिमान् स्यादथ निर्विभूतिर्बन्धो द्विधा तत्र विभूतियोगात् ।
आद्ये क्रमेणाभ्युदयः सुखं स्यादन्यत्र दुःखं भवति क्रमेण ॥८७॥

[3]बन्धः प्ररोहाय पुनः प्ररोहः पुनः प्ररोहस्तदिति क्रमेण ।
तैस्तैः प्ररोहैः पुनरात्मनोऽयं महाप्ररोहः क्रमते चिराय ॥८८॥

(५२) कर्मवृक्षाधिकरणम्[4]

विकर्मवृक्षः स महाप्ररोहः क्वचिद्विशुष्कः प्रलये प्रसुप्तः ।
पुनर्नवं पोषमितो विसर्गे विमोक्षपर्यन्तमनुक्रमेण ॥८९॥

अश्वत्थवृक्षोऽयमुदीरितः पुरा बुधैर्यमालम्बत एष पूरुषः ।
[5]अधः प्रशाखः पुनरूर्ध्वमूलवान् श्लेऽमृते मूलममुष्य सुस्थिरम् ॥९०॥

आत्मा के प्रसाद भाव में क्रमशः वृद्धि होने पर सुख का उदय होता है । अत्यन्त प्रसाद भाव में निश्रेयस—मोक्ष हो जाता है क्योंकि उस अवस्था में क्रमशः कर्मबन्ध से छुटकारा होकर एकमात्र रस रूप जो अमृत कहलाता है तद्रूप वह हो जाता है वह ही आनन्द है उसको ही सब चाहते हैं ॥८६॥

१. प्रसाद की—स्वच्छता की—अर्थात् आवरण भंग की वृद्धि हो जाने पर अधिक सुख की प्रतीति होती है । प्रसन्नता की पराकाष्ठा अंतिम सीमा तो बुद्धि का स्थिर भाव है । उस बुद्धि के स्थिर भाव को द्वार बनाकर मोक्ष की प्राप्ति होती है यह तात्पर्य है । जैसा कि भगवद् गीता में कहा है—

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ (अ० २)

कर्म के बन्धन के क्रमशः नष्ट ह्रसित होने पर नैष्कर्म्य होता है, वह ही आत्मा की एकता है—अर्थात् कर्म शून्य भाव है वह ही कैवल्य अथवा मोक्ष नाम से शास्त्रों में विख्यात है ।

कर्म के साथ रस का सम्बन्ध विभूतियोग से होता है इस तरह विभूति मान अथवा बिना विभूति वाला कर्म दो प्रकार का हो जाता है जिसमें रस का विभूतियोग पूर्ण हो उस प्रथम अवस्था में क्रमशः अभ्युदय होता है और सुख मिलता है जहाँ रस का विभूति-योग बहुत थोड़ा होता है वहाँ क्रमशः दुःख होता है ॥८७॥

२. जो कर्म बन्ध बताया है वो दो प्रकार का होता है—एक विभूति वाला एक बिना विभूति का । जहाँ आत्मा का विभूति नाम का सम्बन्ध स्पष्ट होता है वह विभूतिमान् कहलाता है । विभूति सम्बन्ध के स्वरूप का विवरण प्रथम अधिकार में संसर्ग अधिकरण में किया गया है । जहाँ बहुत थोड़ी रस की विभूति हो वह सम्बन्ध निर्विभूति कहलाता है । जहाँ पूर्ण सम्बन्ध हो वहाँ क्रमशः सुख की वृद्धि होती है । निर्विभूति में दुःख पर दुःख होते हैं ।

कर्म का बन्ध कर्म वृद्धि के लिए होता है उससे कर्म वृद्धि होकर पुनः कर्म वृद्धि होती रहती है इस क्रम से उन उन वृद्धिभावों से जीव आत्मा का यह फिर जन्म लेना, फिर मरना रूप महाप्ररोह चिकाल के लिए स्थापित हो जाता है ।।८८।।

३. कर्म बन्धों के बारबार बढ़ने से महाप्ररोह रूप वृद्धि हो जाती है जो चिरकाल तक आत्मा को जगत् प्रवाह में गिरा देती है ।

४. पूर्वाधिकरण में कथित महाप्ररोह के प्रसंग से ही भगवद्गीता का १५ वां अध्याय इस कर्म वृक्ष का अनुवचन करता है—यद्यपि वह सामान्यतया कर्म वृक्ष ही कहा जाता है, सामान्य उक्ति में कर्म में कर्म, विकर्म, अकर्म सब एक हो जाते हैं । परन्तु वास्तव में तो आत्मा के बन्धन हेतु होने से सब ही विरुद्ध रूप ही माने जाते हैं—अतः सब विकर्म ही हैं—इस कारण ही ग्रन्थकर्त्ता ने अधिकरण के प्रथम पद्य में विकर्म वृक्ष पद का ही प्रयोग किया है । यह वृक्ष विशेष अवस्था में कभी सूख भी जाता है—जब योग की अङ्गभूत समाधि आदि अवस्था में रहते हुवे मनुष्य कर्म का फल बहुत थोड़ा सा भोगता है—जीवन चर्यामात्र । प्रलय काल में यह कर्म भाव प्रसुप्त हो जाता है— अर्थात् फलों का प्रसव नहीं करता, परन्तु सृष्टि काल में पुनः जाग पड़ता है । इस तरह मोक्ष पर्यन्त अनुवर्तमान रहता हुवा कर्म प्रवाह ही वृक्ष रूप से शास्त्रों में निरूपित होता है, यह भाव है ।

रस रूप आत्मा का बन्धक यह विकर्म वृक्ष बड़ा विशाल होता है, समाधि आदि में कभी बिलकुल सूख भी जाता है, प्रलय काल में प्रसुप्त हो जाता है । फिर नये विसर्ग काल मे नया पुष्ट रूप धारण कर लेता है, यह अनुक्रम मोक्ष पर्यन्त चलता रहता है ।।८९।।

प्राचीन कालीन विद्वानों ने पहले इस कर्म वृक्ष को अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष नाम दिया है । पुरुष नामक तत्व इस वृक्ष का ही सहारा लेता है। लोक में देखे जाने वाले वृक्ष से इस वृक्ष की विशेषता यह है कि इस कर्म वृक्ष रूप अश्वत्थ की जड़ (मूल) ऊपर है और शाखा नीचे को ओर होती हैं । मूल भाग अमृतमय रस में इसका सदा सुस्थिर रहता है ।।९०।।

५. अश्वत्थ वृक्ष के रूप में निरूपण किये जाने वाले कर्म वृक्ष का मूल ऊपर है, शाखा नीचे हैं । मूल तो वास्तव में अमृतमय रस है, वह ही सब का आधार है—वह ही सर्वपूज्य है अतः ऊर्ध्व ही रहता हुवा ख्यात है । शाखा ये भिन्न भिन्न लोक है, और संसारान्तर तन ये सारे लोक अधिक तर दुःखों से भरे हुवे हैं— इस कारण नीचे जाने वाले ख्यात होते हैं ।

[1]अधश्चोर्ध्वं प्रसृताः प्रशाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
[2]अधश्च मूलान्यनुसंततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ।।९१।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा ।
[3]छन्दांसि पर्णानि मतानि यस्मिन् यो वेद तं वेदविदेष एव ।।९२।।

अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ।
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं निवर्तते यत्र गतो न भूयः ।।९३।।

तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।
परोऽतिशेते पुरुषोत्तमोऽसावतीत्य विश्वं क्षरमक्षरं च ।।६४।।

इति परविद्याध्याये बलाधिकारस्तृतीयः ।।३।।

इति ब्रह्मविज्ञाने परविद्यायामुत्तरार्धे बलप्रतिपत्तिविभागे कर्माधिकारः पूर्णः ।

कर्ममय अश्वत्थ वृक्ष की शाखाएँ ऊपर, नीचे फैली रहती हैं, शाखाओं में से अन्यान्य शाखाएँ निकली रहती हैं, ये शाखाएँ सत्वादि गुणों से प्रवृद्ध होती हैं और अत्यन्त कोमल पल्लव रूप विषयों से भरी रहती हैं। मायाबल से बद्ध होकर वह अमृत ही इस मनुष्य लोक में कर्म से बँध कर नीचे ही नीचे अनेक नाम रूपमय भावों में अनुगत होता रहता है ।।६१।।

१. इसमें आगे भगवद्गीता के श्लोक ही कहीं छन्द के अनुरोध से थोड़े से पाठ भेद के साथ अथवा कहीं यथावत् रूप में अनुवाद किए गए हैं। यद्यपि शाखा मूल रस की अपेक्षा नीचे रहने वाली कही गई है, तथापि उन शाखाओं में भी ऊपर नीचे का भाव रहता है। स्वर्ग लोक आदि ऊपर हैं, पृथिवी आदि नीचे हैं।

२. यहाँ श्लोक के उत्तरार्ध में मूल पद से व्यवहारिक भाषा में प्रसिद्ध जड़ शब्द लेना चाहिये। वे जड़ें कर्म के अनुसार नीचे फैली हुई हैं। अथवा यह भी अर्थ होता है कि—मूलभूत रस ही कर्म का सहकारी होकर नाना रूपों में मनुष्य आदि लोकों में संतत—व्याप्त हो रहा है।

सच्चिदानन्दघन उस अमृतमय रस का स्वाभाविक रूप इस संसार प्रवाह में प्रतीति में नहीं आता, और जो दिखाई देता है उस कर्मवृक्ष का न तो कहीं अन्त है, न आरंभ है और नहीं उसमें स्थिरता रूप प्रतिष्ठा है। छन्दरूप अर्थात् सीमाभाव में घिरी हुई आकृतियां उस कर्मवृक्ष में पर्ण-पत्ते हैं। जो इस वृक्ष का वास्तविक परिचय जानता है—वह ही वेदज्ञ कहा जा सकता है ।।६२।।

३. छन्द पद से यहा सांसारिक पदार्थों का परिच्छिन्न—सीमाबद्ध स्वरूप कहा जा रहा है, जिसे आकृति कहते हैं। वह ही पर्णरूप है। बहुत से विद्वान् तो छन्द पद से वेदों का ही ग्रहण कर लेते हैं, वेद ही संसार वृक्ष के पर्ण–पत्र रूप हैं। वृक्ष के पत्ते जैसे छाया देने वाले होते हैं, वैसे ही वेद भी छाया देने वाले हैं, यह समानता वे बताते हैं। हमारे विचार से तो संसार रूप वृक्ष का सर्वथा उन्मूलन करके मोक्ष दिलाना जिन वेदों का परम मुख्य प्रयोजन है—उनका संसार वृक्ष के पर्ण–पत्र रूप से प्रतिपादन उचित नहीं है—विद्वद्गण इसका विचार करें। छन्द पद का हमने जो आकृति—मर्यादाबद्ध अर्थ लिखा है, उसमें प्रमाण तो "माच्छन्दः, प्रमाछन्दः, प्रतिमाछन्दः' यह यजुर्वेदज वचन ही है। श्री विद्यावाचस्पति जी ने विस्तार से यह अर्थ अपनी 'छन्दः समीक्षा' नाम की कृति में छन्द निरुक्ति प्रकरण में बताया है। जिज्ञासु जन वहां देखें। आगे अधिकरण के अन्तिम श्लोक में कहा गया आद्य पुरुष कौन है—इसका उत्तर ग्रन्थकर्त्ता ने स्वयं दिया है—जो क्षर और अक्षर से अतीत उत्तम पुरुष रूप गीता में ख्यात हुवा है, वह अव्यय पुरुष ही आद्य पुरुष है। वह ही शरणीय है।

इस अश्वत्थ नाम के कर्मवृक्ष को—जिसकी जड़ें बहुत गहरी और मजबूत हैं, असङ्ग (अनासक्ति) रूप दृढ शस्त्र से काटकर, तदनन्तर उस पद—स्थान का अन्वेषण करना चाहिए जहाँ जाकर वापस इस कर्म चक्र में पुनः लौटना न पड़े ॥९३॥

अन्त में आद्य पुरुष को आत्म समर्पण—उस सर्वादि पुरुष की ही मैं शरण ग्रहण करता हूं—जिससे यह अति पुरातन प्रवृत्तिरूप प्रसरण आरम्भ हुवा, वह पर नाम से ख्यात अव्यय पुरुष इस क्षर-अक्षरमय विश्व से परे है। वह ही सर्वातिशायी पुरुषोत्तम है ॥९४॥

पर विद्या अध्याय में यह तृतीय बल अधिकार पूर्ण हुवा ॥३॥

इति—ब्रह्म विज्ञान में पराविद्या के उत्तरार्द्ध में बल विवेचना विभाग में कर्माधिकार पूर्ण हो गया।

————

(५३) [१]उपसंहाराधिकरणम्

इतीत्थमर्थः सर्वोऽपि क्षराक्षरपरीक्षया ।
प्रतीतिमात्रसंसिद्धो दर्शितः स्वानुभूतिवत् ॥१॥

रसं बलं च पश्यामो यत्किंचिदिह दृश्यते ।
तत्र मूलरसो मूलबलं च परमुच्यते ॥२॥

बलं कर्मेति निर्दिष्टं रसो ब्रह्मेत्यधीयते ।
कर्मैव श्रमणा आहुर्ब्रह्मैव ब्राह्मणा विदुः ॥३॥

१. इससे आगे उपसंहार अधिकरण में प्रस्तुत श्लोक स्पष्ट हैं, इनकी व्याख्या प्रायः आवश्यक नहीं है। जहां कुछ विशेष व्यक्तव्य है वहाँ अनेक श्लोकों का तात्पर्य हम अपने ही गद्य से कहेंगे। पहले जो कुछ प्रतिपादन किया है, वह ही यहां आरम्भ के ६ श्लोकों से उपसंहार में स्मरण कराया गया है।

इस प्रकार क्षर और अक्षर की परीक्षा द्वारा यह पदार्थ विवेचना अपने अनुभव से जैसी प्रतीति में मात्र आकर सम्यक् सिद्ध हुई—वह दिखाई गई है ॥१॥

इस संसार में जो कुछ भी देखा जाता है, वह सब रस और बल रूप ही है। वहाँ मूल रस और मूलबल को पर शब्द से कहा जाता है ॥२॥

बल का निर्देश कर्म रूप में तथा रस का निर्देश ब्रह्म भाव में हुवा है। जगत् में कर्म ही प्रधान है ऐसा श्रमण (बौद्ध) कहते हैं, और वेदों में आस्था रखने वाले ब्राह्मण ब्रह्म को प्रधान मानते हैं। जैसा कि आरम्भ में ही कहा गया है ॥३॥

भूमज्योतिःप्रतिष्ठाश्च तथेच्छावरणक्रिया ।
इति षट् शक्तिविज्ञानं परिविज्ञानमुच्यते ।।४।।

षडप्येताः शक्तयः स्युः सृष्टयुत्पादनहेतवः ।
सर्वात्मना तु विज्ञानमसाध्यमिति चक्षते ।।५।।

भूमा ज्योतिः प्रतिष्ठा वा शयनावरणं क्रिया ।
यावन्निरूपितं किञ्चिदक्षरे च क्षरे च तत् ।।६।।

[२]क्षरमक्षरमेवोक्तं रसस्य च बलस्य च ।
रूपं मुक्तिर्विवर्तो वा न शक्यं वक्तुमण्वपि ।।७।।

[३]कर्त्ता गोप्ता च देवानां पुरा ब्रह्मा बभूव ह ।
स एवोद्भावयामास ब्रह्मविद्यामिमां पुरा ।।८।।

भूमा, ज्योति, प्रतिष्ठा तथा इच्छा, आवरण और क्रिया—यह छः शक्तिभावों का विज्ञान सम्पूर्ण विज्ञान का ज्ञान कहा जाता है ।।४।।

ये कथित छः शक्तियां ही सृष्टि को उत्पन्न करने में हेतु होती हैं । विज्ञान का सर्वात्मना सम्पूर्ण ज्ञान तो असाध्य ही माना जाता है ।।५।।

अक्षर पुरुष तथा क्षर पुरुष गत भूमा, ज्योति, प्रतिष्ठा अथवा अशनाया, आवरण और क्रिया का जितना निरूपण सम्भव हो सका वह कुछ यहां किया गया है ।।६।।

क्षर और अक्षर मात्र की विवेचना यहां हुई है । रस और बल का वास्तविक रूप कैसा है ? बल से रस की मुक्ति (छुटकारा) कैसे होता है ? निर्विशेष रस का विवर्त रूप से जगत् रूप कैसे बन जाता है, इस विषय में तो अणुमात्र विवेचन भी नहीं किया जा सकता ।।७।।

२. इस ग्रन्थ में क्षर और अक्षर का ही विवरण विशेषतः किया गया है । सर्वमूलभूत रस और बल का तो साक्षात् स्वरूप क्या है ? बल से रस की मुक्ति कैसे होती है ? और निर्विकार रहता हुवा ही रस अतात्विक अन्यथा भाव रूप विवर्त प्रकार से कैसे जगत् रूप बन जाता है ? इन सब विषयों की सूक्ष्म विवेचना नहीं की जा सकती है, अर्थात् योग समाधि के बिना यह सब किसी प्रकार से भी अनुभव का विषय नहीं बन सकता है यह तात्पर्य है । सामान्य रूप से जितना शास्त्रों में उल्लेख मिलता है, उतना मात्र विवरण ही यहां किया गया है ।

पुरातन काल में देवसर्ग के कर्त्ता तथा देववर्ग के रक्षक ब्रह्मा नाम के हुए थे, उनने ही सर्व प्रथम इस ब्रह्म विद्या का उद्भव किया था ।।८।।

३. इससे पहले यह विज्ञान कैसे प्रकट भाव में आया—उसका इतिहास सूक्ष्म रूप से बताते हैं । इन ही ग्रन्थकर्त्ता ने जगद्गुरु वैभव—महर्षिकुल वैभव—देवासुर ख्याति तथा इन्द्र विजय आदि अनेक निज ग्रन्थों में वेदों में देखे गए इतिहास का विस्तार से विवरण किया है । उनमें यह विषय प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है—कि जैसे द्युलोक सूर्य मण्डल में विद्यमान मुख्य स्वर्ग है, और उसमें प्राणरूप और प्राणी रूप पृथक् पृथक् नामों से ख्यात देवता हैं, वैसे ही यहां भूलोक

में भी उत्तर दिशा के भाग में स्थान विशेष स्वर्ग नाम से प्राचीन काल में व्यवहृत हुवा था, जिसका पुराणों में बहुधा उल्लेख हुवा है। जहां इन्द्र की सहायता के लिए दशरथ का गमन हुवा था, अर्जुन अध्ययन के लिये इन्द्र के पास गया था, इत्यादि घटना भूस्वर्ग की ही थीं। उस भूस्वर्ग की सीमा आदि भी उन ग्रन्थों में प्रमाण सहित निरूपित है। वहां भी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, वरुण आदि देवता भिन्न भिन्न प्रदेशों के अधिपति थे। ये सब अष्टाङ्ग योग के ज्ञाता तथा पूर्ण योग सम्पन्न थे, ये हम लोगों की अपेक्षा महाशक्तिशाली मनुष्य विशेष ही थे, मुख्य देवता तो सूर्य मण्डल नाम के द्युलोक में ही हैं—जो लोक गायत्री में भूर्भुवः स्वः रूप में तीसरा स्वः बताया है, उन देवताओं के ही प्रतिरूप ये भूलोक के देव कल्पित हुए थे। वहां उन देवताओं का कर्त्ता और रक्षक अर्थात् वैसे लोक का कल्पक, साध्य नाम के भूदेवों में ब्रह्मा नाम का व्यक्ति था, जिसका चरित जगद्गुरु वैभव में विशेष रूप से विवरित हुवा है। उन ब्रह्मा ने ही इस ब्रह्म विद्या को प्रकट किया था। उसही स्वर्ग में निवास करते हुवे विष्णु ने पहले यज्ञ विद्या प्रकट की थी। ब्रह्मा ने तो इस ब्रह्म विद्या का अत्यन्त प्रभाव ख्यात कर दिया, फलतः यज्ञ विद्या गौण हो गई। यज्ञ से स्वर्ग प्राप्ति मात्र होती है, ब्रह्म ज्ञान से मोक्ष हो जाता है, यह सब को ज्ञात हो चुका था, यह ही यज्ञविद्या से ब्रह्मविद्या की श्रेष्ठता है। इन ब्रह्मा ने ही ग्रन्थारम्भ में पठित नासदीय सूक्त का अन्वेषण किया था। उस सूक्त का सर्वानुक्रमणी में परमेष्ठी प्रजापति नाम का ऋषि आख्यात है। ये ब्रह्मा ही परमेष्ठी नाम से तथा प्रजापति नाम से प्रसिद्ध हुए थे। वह सूक्त ही इस ग्रन्थ का मूल आधार है। वह सूक्त ग्रन्थ के पहले प्रकरण में ही उद्धृत किया गया है। वहां दशवाद तो विभक्त करके पृथक् दिखा दिये गए, परन्तु सिद्धान्त पक्ष जिन मन्त्रों से आम्नात हुवा है, उनकी व्याख्या ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ में नहीं की है। दशवाद रहस्य नाम के ग्रन्थ में उनकी व्याख्या हुई है—उसके प्रकाशन का औचित्य इस प्रकरण में मानकर हम यहां लिख देते हैं। ग्रन्थारम्भ के दशवें पृष्ठ में—'ब्रह्ममते सिद्धान्तवादाभ्युपगमः' इस शीर्षक के नीचे इन मन्त्रों को देखकर उनके अर्थ की संगति करनी चाहिये। 'एकंतद् आनीत्' इसमें एक पद से ब्रह्म नाम से कहा जाने वाला रस ही कहा गया है। और स्वधापद से उसका शक्तिरूप बल कहा गया है यह व्याख्या वहां टीका में हमने की है। दशवाद रहस्य की टिप्पणी में तो ग्रन्थकार ने स्वयं ही कहा है—यहां एक इस पद से सामान्यतया कुछ एक था यह कहा गया है। और स्वधापद से अन्न के वाचकरूप से निघण्टु में पठित अन्न नाम का पदार्थ जो जगत् का उपादान है, उसके सहचर भाव में आम्नात हुवा है। आगे वह एक क्या था ? इस जिज्ञासाशमन के लिए आगे के मन्त्र में 'अप्रकेतं सलिलं सर्वं मा इदम्' यह श्रुति वचन है। यहां सलिल पद से जल का ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि उसके स्पष्टीकरण के लिए 'अम्भः किमासीत् यह कहते हुवे उसका पहले प्रत्याखान कर दिया है। इस हेतु सलिल पद से वहां रस का ही उपदेश हुवा है। सलिल पद से लोक में प्रसिद्ध जल भी रसरूप ही होता है इस समानता से मूलतत्व रूप रस शब्द में पर्याय भूत सलिल शब्द का निवेश कर दिया गया है। इस ग्रन्थ की प्रक्रिया उस सूक्त से ही प्रसूत हो रही है यह बोध कराने के लिए ग्रन्थकर्त्ता ने भी मूलतत्व के परिचय में आदर पूर्वक रस शब्द का ही ग्रहण किया है। मूल तत्व के लिए वह रस शब्द तो "रसो वै सः" इस श्रुति में प्रसिद्ध है ही यह पहले ही कहा जा चुका है। और वह ही सलिल 'सर्वं मा इदम्'—

सबमें व्याप्त होकर स्थित हो रहा है। अर्थात् विभु—सर्वव्यापक हो रहा था। उसका ज्ञान विशेष भाव में नहीं हो सकता यह बोध कराने को 'तम आसीत्' इसका भी प्रयोग किया गया। तम (अन्धकार) के समान वह अज्ञात ही था यह तात्पर्य है। अतएव मनु महाराज ने भी 'आसीदिदं तमोभूतम्' यही आदिकालीन अवस्था कही है। उसका ज्ञान क्यों नहीं होता, इसका कारण भी बताया 'तमसागूढ़म्' इति। अर्थात् वह तम से आच्छन्न था। यहां तम पद से रस की शक्ति ही कही जाती है, जो पहले मन्त्र में स्वधा शब्द से आम्नात हुई है, जिसका विवरण इस ग्रन्थ में व्रत नाम से दिया गया है। वह शक्ति त्रिगुणमयी है, उन तीन गुणों में आवरण करने में तम की ही प्रधानता होने से तम इस पद के प्रकृति के पर्याय होने की बात भी सांख्याभास प्रकरण में सिद्ध की जा चुकी है अतः तमस् पद से आख्यान सुसंगत ही है। उस शक्ति से वह निगूढ (आवृत) हो रहा है—अतः विशेष भाव में ज्ञात नहीं होता, 'यानुच्चार्या-विशेषतः' इन शब्दों से सपाशती में भी संकेत हुवा है। इससे वह शक्ति भी स्पष्ट ज्ञात नहीं हो सकती, न उसका कुछ विवरण किया जा सकता है यह बात भी शक्ति के विषय में तम पद के कथन से सम्बोधित हुई है। मन्त्र के उत्तरार्ध में पुनः दोनों का प्रकारान्तर से संकेत करते हैं—'तुच्छेन-आभु-अपिहितंमासीत्'' आभु-विभु-व्यापकरस है। और तुच्छ सत् भाव अथवा असत् भाव दोनों से ही अकथनीय—शक्तितत्व है। पृथक् प्रथक् सत्वाभाव के कारण ही उसकी तुच्छता कही गई है। उस शक्ति के द्वारा मेघ खण्ड से सूर्य के ढक जाने के समान रस का भी आवरण कर दिया गया, वह आवृत्त—गूढ हो गया। दृष्टाजीव की दृष्टि का निरोध कर देने से ही विभु—व्यापक आत्मा का आवरण कहा जाता है। मन्त्र में आगे 'किम्-आसीत्' का उत्तर देते हैं 'तपसस्तन्-महिना जायतैकम्' तपसः का तात्पर्य 'यस्यज्ञानमयंतपः' इस परिभाषा से ज्ञान है, उस ज्ञान की महिना—महिमा—प्रभाव से, एक अपूर्वरूप सृष्टि को पैदा करने वाला प्रादुर्भूत हो गया। शक्ति विशिष्ट रस तत्व ही प्रथम ज्ञान रूप से आविर्भूत होता है। तदनन्तर और एक नवीन सृष्टि को आरम्भ करने वाला तत्व उत्पन्न होता है। वह नवीन क्या है—यह आगे बताते हैं, कि आगे सबसे पहले काम प्रादुर्भूत हुवा 'अग्रेसर्वतः प्रथमं कामः समवर्तत''। अर्थात् 'एकोऽहंबहु स्याम्' मैं एकाकी हूं मुझे नाना भाव में आ जाना चाहिये यह इच्छा प्रादुर्भूत हुई। इच्छा ज्ञान से पैदा होती है—अतः इससे पहले ज्ञान का प्रादुर्भाव आम्नात हुवा। यह काम का सर्वप्रथम रेत (वीर्य) है। मन का सार रूप वीर्य इच्छा है यह तात्पर्य है। इस कथन से काम से भी पूर्व मन का प्रादुर्भाव कहा गया, मन के बिना वह रेत—काम कैसे उत्पन्न हो सकता है। वीर्य के पर्यायवाची रेत पद के प्रयोग से यह बोध करा दिया—कि महान् (बुद्धि) नाम का जो प्रकृति का प्रथम रूप है, उसमें रेत के अर्थात् रस के आधान से काम की उत्पत्ति होती है। श्री भगवद्गीता में यह ही कहा है—

'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्व भूतानां ततो भवति भारत''। (अ० १४।३)

इस सारे कथन से फलितार्थ यह निकला— कि जो अव्यय पुरुष 'आनीदवातम्' इस रूप से निर्दिष्ट हुवा है। वह रस प्रधान है। और महान् नाम की उसकी शक्ति तो बल प्रधान होती है। गीता में उसका निर्देश ब्रह्म नाम से हुवा है। इसका हेतु यह है कि श्रुति में शक्तिवाचक ब्रह्म पद का

प्रयोग प्रसिद्ध है। इन दोनों के अर्थात् अव्यय रस तथा महान् नाम की शक्ति के सम्बन्ध होने पर रस जो महान् के भीतर प्रवेश कर जाता है तब महान् की कामरूप वृत्ति प्रादुर्भूत होती है। अव्यय पुरुष की कलाओं में—आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण, वाक् में मन का सम्बन्ध सृष्टि मोक्ष दोनों में बताया गया है। और कलाक्रम में मध्य में गणना होने से मन इस पद के द्वारा ही यहां अव्यय पुरुष का संकेत हुवा है। ग्रन्थकर्त्ता ने गीता विज्ञान भाष्य में यह भी स्थापित किया है कि गीता में 'अहं' शब्द के द्वारा सर्वत्र अव्यय पुरुष का ही बोध होता है। उपनिषदों में भी सृष्टि के आरम्भ भाव में 'तन्मनोऽकुरुत' इस वाक्य से मन का ही प्रथम प्रादुर्भाव कहा है। इस तरह की व्याख्या में सब की एक वाक्यता हो जाती है। इससे अतिरिक्त इतना स्पष्ट और समन्वय परक व्याख्यान नासदीय सूक्त का सम्भव नहीं हो सकता। यहां यह शंका उदित होती है—कि मन तो रस प्रधान होने से सत् रूप होता है, और महान् नाम की प्रकृति बल की प्रधानता रहने से असती—अनित्या होती है, क्योंकि बल की स्वतन्त्र सत्ता नहीं होती। इस स्थिति में परस्पर विरुद्ध इन सत् और असत् का सम्बन्ध कैसे हुवा। इस विषय विचार में श्रुति-वचन है "सतोबन्धुमसति निरविन्दन्' इत्यादि। प्राचीन कवि—क्रान्तदर्शी विद्वानों ने अपने हृदय में—अपने समाधिज्ञान में सत् पद से कहे जाने वाले अव्यय पुरुष का—बन्धुम्—बन्धन, अथवा बन्धुता रूप सहचरभाव असत् में—बल प्रधान शक्ति में ही देखा है। सत् और असत् के योग से अर्थात् रस और बल के योग से ही सारा सर्जन होता है। इसमें शंका नहीं करनी चाहिये यह तात्पर्य है। आगे के मन्त्र में इससे ही सृष्टि होती है—यह वेद पुरुष का विधि वाक्य है—इन पूर्वोक्त अव्यय, शक्ति और काम की रश्मियां तिरछी फैल रही हैं—सर्वत्र इनका प्रसार हो रहा है। इनका रश्मि रूप ही यह जगत् है, यह तात्पर्य है। वह रश्मि भाव नीचे—ऊपर सब ओर है। अव्यय पुरुष के रश्मिरूप ही अक्षर, क्षर आदि हैं। महान् के रश्मिरूप ही अहंकार आदि प्रकृतियां हैं। और उसके समष्टिभूत काम के रश्मिरूप सारे जगत् में फैले हुवे अशनाया नाम से कहे जाने वाले काम हैं, यह तात्पर्य है। इनमें उच्चनीच भाव भी काल्पनिक रहता ही है। तदनन्तर कितने पदार्थ काम—इच्छा के वशीभूत होकर उत्पन्न होते हैं, यह मन्त्र के उत्तरार्द्ध में कहा गया है। वहां 'रेतोधाः' का अर्थ-गर्भ को धारण करने में समर्थ, बल देने वाली शक्तियां हैं। अक्षर-क्षर आदि महिमा हैं। स्वधा शब्द से प्रकृति द्वारा उत्पादित पशु—अर्थात् पाशबद्ध जीव द्वारा खाये जाने वाला अन्न लिया जाता है। जिसका उपनिषदों में तथा इस ग्रन्थ में भी पहले सप्त अन्न रूप से व्याख्यान हो चुका है—उन सप्तान्नों को ध्यान में ले लेना चाहिये। 'प्रयति' पद से जीवात्मा के सहचर, भोग तथा मोक्ष के सहायक मन, इन्द्रिय आदि का संकेत है। ये सब रस और बल के संयोग से होता है। बल शरीर रूप है, रस उनका आत्मा स्वरूप है ये सब विवरण इस ग्रन्थ में आ गया है। इस ग्रन्थ में जो विवरण हुवा है, उसका मूल ब्रह्मा की कही हुई श्रुति (वेद) ही है, यह अच्छी प्रकार से अवधान करना चाहिये। इससे आगे तो मन्त्र में 'को अद्धा वेद आदि कहते हुवे मूलतत्व की अतर्क्यता तथा अविज्ञेयता ख्यात हुई है। अध्यक्ष भी स्वयं जानता है अथवा नहीं जानता यह कहते हुवे जानने की योग्यता का सर्वथा अभाव ही स्पष्ट कर दिया, विद्वानों को इस पर विचार करना चाहिये। यह यहां प्रसंगागत बहुत विवेचना हो गई, किन्तु यह आवश्यकता वश की गई—क्योंकि ग्रन्थ का मूल आधार क्या है—इसके स्पष्टी-करण के बिना विद्वानों को सन्देह हो सकता है।

इससे आगे प्रकृत प्रकरण के इतिहास बोधक श्लोकों का बचा हुवा सार कहा जाता है। ये ब्रह्मा और विष्णु दोनों विराज हैं अर्थात् विराट् पद के अधिष्ठाता हैं। राजा, सम्राट्, स्वराट् परमेष्ठी, विराट् ये सब भूमि के अधिपतियों की क्रमशः उत्तरोत्तर प्रभावशालियों की संज्ञा है, जो पूजा के पुष्पांजलि काल में वैदिकों द्वारा 'स्वस्ति साम्राज्यम्' इत्यादि रूप से उद्घोषित होती हैं। उस रीति के अनुसार ही ये दोनों विराट् पद से कहे जाते हैं। इन दोनों के द्वारा ही सर्वप्रथम परमात्मा के प्रसाद से वेद सम्बन्धी यज्ञविद्या और ब्रह्मविद्या देखी गई थी। तदनन्तर इन्द्र ने और तदनन्तर महर्षियों ने इसे प्राप्त किया, यह सब जगद्गुरु वैभव में कहा गया है। ब्रह्मविद्या से संयुक्त विषयों का प्रत्यक्ष करके देखने के लिए उसका अनुगमन करने वाली यज्ञ विद्या है—जिसमें अर्थ प्राप्ति होती है। ब्रह्म विद्या में यज्ञ के आधार से ही सृष्टि का प्रतिपादन किया गया है। वैसा यज्ञ निदर्शन यज्ञ विद्या में है। रसब्रह्म के स्वरूपज्ञान में तो इन ब्रह्मा और विष्णु की बुद्धि का भी प्रसार नहीं हो पाया, क्योंकि वह बुद्धिगम्य होता ही नहीं। इन दो विद्याओं के अतिरिक्त—देवविद्या नाम से भी एक महाविद्या पहले प्रवृत्त हुई थी, जिसका अनुसंधान महर्षियों ने किया था। जिसमें प्राणरूप देवताओं का स्वरूप स्पष्ट बताया गया था। उस विद्या के प्रभाव से ही विश्वामित्र आदि महर्षि नई सृष्टि निर्माण आदि सब कुछ करने में समर्थ थे। इस तरह यह इतिहास का संक्षिप्त विवरण १२ श्लोक तक का किया गया है।

ब्रह्मविद्याप्रभावेण यज्ञविद्या च सोऽत्यगात्।
तत्राध्यक्षोऽभवद्विष्णुर्यज्ञविद्याप्रवर्तकः ॥९॥

विराजौ तावुभौ ब्रह्मविष्णू साम्राज्यरक्षकौ।
ब्रह्मा विद्याप्रभावेण विष्णुर्यज्ञप्रभावतः ॥१०॥

तावेव सर्वप्रथमं ब्रह्मविद्यामपश्यताम्।
किन्त्वेनयोरपि रसे बुद्धिः प्राक्कुण्ठिताऽभवत् ॥११॥

यज्ञविद्या प्रसिद्धयर्था ब्रह्मविद्यानुगामिनी।
देवविद्या पराप्यासीद्देवर्षिभिरुदीरिता ॥१२॥

वे ब्रह्मा जी उस ब्रह्मविद्या के प्रभाव से ही यज्ञ विद्या का अतिक्रमण कर गए। यज्ञ विद्या के अध्यक्ष विष्णु बने "यज्ञो वै विष्णुः"। यज्ञ विद्या के प्रवर्तक विष्णु भगवान ही हैं ॥९॥

ये ब्रह्मा-विष्णु दोनों विराट् कहे जाते हैं, ये सम्पूर्ण साम्राज्य (विश्व) के रक्षक हैं, ब्रह्मा ब्रह्मविद्या के प्रभाव से और विष्णु यज्ञ के प्रभाव से रक्षा करते हैं ॥१०॥

इन दोनों ने ही सर्वप्रथम ब्रह्मविद्या का दर्शन किया था, किन्तु रस के अन्वेषण में इन दोनों की बुद्धि भी कुण्ठित हो गई थी ॥११॥

यज्ञ विद्या की प्रत्यक्ष सत्यता की प्रसिद्धि के लिए ब्रह्मविद्या का अनुगमन करने वाली एक देवविद्या अतिरिक्त थी (जिसका कुण्डलिनी से गहन सम्बन्ध होता है), उसका अनुसंधान देवर्षियों ने किया—तदनन्तर उसका उपदेश किया ॥१२॥

इत्थं[1] विद्यात्रयी लोके वेदशब्देन कथ्यते ।
अपौरुषेयी सा विद्या यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥१३॥

वेषभूषामानपण्यनीतिभाषाक्षरादिका ।
लोकविद्या यथाऽन्यान्या पुरुषैः कल्पिता भवेत् ॥१४॥

न तथेयं वेदविद्या पुरुषैः क्वापि कल्प्यते ।
द्रष्टृभिः पुरुषैस्त्वेषा वस्तुसिद्धैव दृश्यते ॥१५॥

यथा यज्ञा यथा देवा यथा वा ब्रह्मकर्मणी ।
जगद्रूपेण वर्तन्ते सा दृष्टिर्वेद उच्यते ॥१६॥

इस प्रकार यह विद्यात्रयी—कथित तीन विद्या, वेद नाम से कही जाती हैं । यह विद्या जिससे कि सृष्टि प्रक्रिया की प्रवृत्ति होती है, अपौरुषेयी मानी जाती है । अर्थात् किसी पुरुष द्वारा समुत्पन्ना यह विद्या नहीं है, यह ईश्वर प्रदत्त है ॥१३॥

१. ये विद्या ही वेद हैं । विद्या अपौरुषेयी हैं यह कहते हुवे वेदों की अपौरुषेयता की ख्याति का तात्पर्य बताया है । वेदों से भगवान् सृष्टि रचना करते हैं आदि वाक्यों का अर्थ भी, इन विद्याओं द्वारा सृष्टि करते हैं यह ही है । जैसे लोक में नित्य व्यवहार में आने वाले—वेष भूषा, अन्न, पान आदि का निर्माण मनुष्य अपनी बुद्धि विवेचना से कर लेते हैं, उन सबको उत्पन्न करने की विद्या परम्परानुगति से—एक दूसरे द्वारा जानते हुवे सीख लेते हैं । वैसे ही उक्त विद्यायें मानव बुद्धि विचार मात्र से प्राप्त नहीं हो सकतीं हैं । इस कारण ही अपौरुषेयी कही जाती हैं । अन्य अतिरिक्त प्रमाणों द्वारा प्रत्यक्ष करके अथवा अनुमान आदि से तत्तत् पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके, अन्य जनों के बोध कराने को जिन पद, वाक्यों का प्रयोग किया जाता है, वह सब तो पौरुषेय (पुरुषजन्य) ही हैं, किन्तु जिनका वस्तुतात्पर्य लौकिक प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता उनके प्रतिपादन करने वाले विज्ञानात्मक वाक्य अपौरुषेय ही हैं । पौरुषेय और अपौरुषेय का सर्वसम्मत लक्षण है कि 'जो अन्य प्रमाणों द्वारा अर्थ जानकर रचना की जावे, वह पौरुषेय है, जो अन्य प्रमाणों से गम्य नहीं हो सके वह अपौरुषेय' । इस लक्षण में शिष्ट भारतीय विद्वानों का कोई मतभेद नहीं है । स्वतः वेद की उत्पत्ति मानने वाले, वेदों को ईश्वर रचित मानने वाले, तथा वेद महर्षि प्रणीत हैं यह मानने वाले सारे ही शिष्ट विद्वान् इस लक्षण में एक मत हैं । तब ये विद्या पुरुषों ने कैसे जान पाई । इस शङ्का का समाधान है कि—समाधिनिष्ठ ऋषियों ने परमेश्वर के अनुग्रह से इन विद्याओं का दर्शन किया था । वेदों को महर्षिप्रणीत कहने वाले विद्वान् भी यह ही मानते हैं । इस कारण ऋषि वेदों के द्रष्टा माने जाते हैं—कर्त्ता नहीं माने जाते । विद्या को उत्पन्न नहीं किया जा सकता, पूर्व सिद्ध का दर्शन ही किया जा सकता है । वेदों में ऋषियों का द्रष्टा भाव और कर्त्ता भाव दोनों ही सुने जाते हैं, उनकी संगति भी इस प्रकार ही होती है कि विद्याओं के दर्शन करने से वे द्रष्टा हैं और वाक्य प्रयोक्ता होने से कर्त्ता हैं । व्याकरण से महाभाष्यकार भी कहते हैं—'ज्ञानंतु नित्यम्, यातु इयमानुपूर्वी सा अनित्या' । और इनमें जो जो भी जगत् भाव में जानने योग्य है उन सबका अन्तर्भाव है, यह उपनिषदों में स्पष्ट कहा है । यह १७ वें श्लोक तक का प्रतिपादन है ।

वेश, भूषा, मान, व्यापार, नीति अक्षर आदि भाषा ज्ञान आदि विभिन्न लौकिक विद्यायें पुरुषों द्वारा कल्पित हुई हैं ।।१४।।

उस प्रकार यह वेद विद्या कभी भी, कहीं भी पुरुष द्वारा कल्पित नहीं होती है। ये विद्या तो वास्तव में पहले से ही स्वतः सिद्ध हैं—उनका द्रष्टा ऋषि दर्शन मात्र करते हैं—वह भी केवल समाधि अवस्था में ही ।।१५।।

यज्ञों का वास्तविक स्वरूप ज्ञान, देवताओं का स्वरूप ज्ञान, ब्रह्म और कर्म की वास्तविकता का ज्ञान और उन सब की जगत् रूप से स्थिति का ज्ञान, ये दृष्टि वेद कही जाती है, अर्थात् वेदों में ये सब विचार किए गए हैं ।।१६।।

यद्वेद्यं विद्यते नित्यं तदत्राविदितं न हि।
कर्मातीतो रसस्त्वेको ज्ञातोऽपि ज्ञायते न हि ।।१७।।

[1]संविदन्ति न ये वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः ।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।।१८।।

[2]यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ।।१९।।

यो मन्येत सुवेदेति दभ्रमेव स पश्यति ।
मीमांस्यमेव तद्रूपं यस्त्वं वेदेषु वास्य यत् ।।२०।।

[3]नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ।।२१।।

नित्य भाव की परिभाषा से जो जानने योग्य माना जाता है वह वेद में अज्ञात नहीं है। कर्मभाव से अतीत (परे) जो एक मात्र रस तत्व है—वह तो ज्ञात होते हुवे भी अज्ञात ही रहता है ।।१७।।

जिसको वेद स्वयं नहीं जान पाते, न ब्रह्मा जानते हैं, न विष्णु जानते हैं, क्योंकि मन के सहित वाणी पर्याप्त प्रयास करके भी जिसको बिना पाए ही लौट आती है, अर्थात् वह रस तो वाणी और मन से अगम्य है ।।१८।।

१. ब्रह्म नाम से ख्यात रस की ज्ञान विषयता नहीं होती, यह श्रुति में ही विश्रुत है। उन उपनिषदों के वाक्यों को यहां उद्धृत कर दिया है। उन वाक्यों का भाष्य प्रतिपादित अर्थ संक्षेप में बताया जाता है।

जो रस को नहीं जानता ऐसा कहता है—वह जानता है यह समझना चाहिये, जो कहता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूं—वह वास्तव में नहीं जानता। जो वास्तव में ज्ञान का विषय नहीं बनता उसे नहीं जानता यह कहना ही उसका वास्तविक ज्ञान है। उसको जानता हूं—कहना तो अज्ञान ही है ।।१९।।

२. जो कहता है मै ब्रह्म को नहीं जानता, वह जानता है, और जो कहता है 'मैं ब्रह्म को जानता हूं—वह नहीं जानता। अविज्ञेय का अविज्ञेयता रूप में ज्ञान ही सत्यज्ञान है। विज्ञेयता की कल्पना तो मिथ्या ज्ञान है। ये अर्थ ही दो श्रुति वचनों में विवृत है।

जो यह मानता है कि मेंने अच्छी तरह से जान लिया है—वह अल्पभाव का ही दर्शन पा रहा है, जो रूप देखा जाता है वह तो मीमांस्य (विचार परम्परा में आने वाला) ही होता है, अथवा जो वेदों में प्रतिपादित है—वह भी मीमांस्य ही है ॥२०॥

में यह नहीं मानता कि मैं ब्रह्म को सम्यक् रूप से जानता हूं, ब्रह्म को मैं सर्वथा नहीं जानता यह भी मैं नहीं मानता। जानता भी हूं। हम लोगों में जो गुरु के सदुपदेश को जानता है—वह वास्तव में जानता है। जो नहीं जानता यह कहता है—वह तो जानता है ॥२१॥

३. अच्छी तरह से मैं वेद को जाना हूं—यह भी मैं नहीं मानता। सर्वथा नहीं जानता यह भी मैं नहीं मानता। जानता भी हूं। क्योंकि सबमें व्याप्त आत्मा ब्रह्म ही है। उस आत्मा को सब लोग सदा जानकर ही प्रत्येक व्यवहार का अनुष्ठान करते हैं। उस व्यवहार में मैं यह कर रहा हूं अनुभव होता है। 'मैं हूं या नहीं हूं' यह सन्देह और 'मैं नहीं हूं' यह विरोध ज्ञान, जो उन्मत्त नहीं है उसे कभी भी नहीं होता। अज्ञात तत्व में तो सन्देह और विरोध ज्ञान होते हैं, वे अपने आत्मा में नहीं होते—अत: मानना होगा कि आत्मा तो विज्ञात ही है। प्रकृति द्वारा पृथक् करके दृश्य रूप से वह नहीं जाना जाता है। इसको ही अविज्ञेयता कहा जाता है। यह ही बृहदारण्यक उपनिषद् में भगवान् याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को सम्बोधन करते हुए कहा है—'विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयात्, येन सर्वं विजानन्ति, त केन विजानीयात्'' इति। अर्थात् जो स्वयं जानने वाला है उसे अन्य किस साधन से जाना जा सकता है, जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसे किसके द्वारा जाना जावे। यदि आत्मा भी ज्ञान का विषय बन जावे तो उस ज्ञान का आधार फिर कोई अन्य होना चाहिये। और जो ज्ञान का आधार हो वह ही आत्मा होना चाहिये, ज्ञेय विषय तो आत्मा नहीं होता है, कर्म और कर्त्ता दोनों एक तो नहीं हो सकते। यह ही सब 'अविज्ञातं विजानताम्' इस श्रुति द्वारा सूचित किया गया। उत्तरार्ध में कहा कि जो हमारे बीच में जो कुछ गुरुजनों ने कहा है उसे जानता है—वह ही आत्मतत्व को जानता है यह अर्थ है। नहीं जानता हूं, अथवा जानता हूं ये दोनों कथन सम्यक् नहीं हैं यह इस श्रुति वचन का तात्पर्य है।

[१]यावत्तदवरे स्थाने तावद्विज्ञातुमिष्यते।
परस्थाने स्वतन्त्रं तद्रूपं ज्ञातुं न शक्यते ॥२२॥

[२]सर्वात्मना तु तज्ज्ञानमवरेऽपि न शक्यते।
अनीशः शक्तिचरितं को नु विज्ञातुमर्हति ॥२३॥

[३]अत्यल्पमपि विज्ञानमिह श्रेयस्करं भवेत्।
तेनास्मिन् परविज्ञाने सर्वदा यत्नवान् भवेत् ॥२४॥

जो कुछ और जितना इस अवर जगत् में है उतने की ही जानने की इच्छा की जा सकती है। लोकातीत पर स्थान में जो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, उसका स्वरूप ज्ञान नहीं किया जा सकता ॥२२॥

१. अवर स्थान में अर्थात् जगत् में व्याप्त जो ब्रह्म तत्व है—वह ही जाना जा सकता है। स्वतन्त्र जो जगत् से विरहित रूप है वह तो किसी साधन से जाना नहीं जा सकता। विश्व, विश्वचर और विश्वातीत ये ब्रह्म की तीन अवस्था हैं। उनमें पहली दो अवस्थाओं में बुद्धि का प्रसार सम्भव होना है। विश्वतीत में तो कथमपि बुद्धि का प्रवेश नहीं हो पाता। यह बात ही पुष्पदन्ताचार्य ने महिम्न स्तोत्र में कही है—

अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयो
रतद्वयावृत्त्या यं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि।
सकस्य स्तोतव्यः कतिविध गुणः कस्य विषयः
पदेत्ववर्वाचीने पतति न मनः कस्य न वचः॥

अर्वाचीन पद जो जगत् रूप है—उसमें ही मन तथा वाणी की प्रवृत्ति होती है। परतत्व को तो वेद भी निषेध रूप से ही चकित होते हुए कहते हैं। यह अर्थ है।

दूसरे विश्व में संचरित ब्रह्म रूप का भी सर्वात्मना ज्ञान तो नहीं किया जा सकता, जो अनीश अर्थात् सामर्थ्यशाली नहीं है वह कोई भी माया शक्ति के चरित को कैसे जान सकता है ॥२३॥

२. दूसरे विश्वचर ब्रह्म के विषय में भी सर्वात्मना तो ज्ञान नहीं होता है। क्योंकि वह अनन्त है—यह प्रवाह अधिकरण में कहा जा चुका है।

ब्रह्म के विषय का थोड़ा सा भी ज्ञान कल्याणकारी होता है—अतः इस परपुरुष के विज्ञान लाभ के लिए सर्वदा यत्नशील रहना चाहिये ॥२४॥

३. यदि वह जाना ही नहीं जा सकता, तब तो उसके लिए प्रयत्न ही व्यर्थ है—उसका तो परित्याग ही कर देना चाहिये, यह सोचना उपयुक्त नहीं है। क्योंकि इसका अति अल्प ज्ञान भी श्रेयस्कर होता है। जैसा कि भगवद् गीता में कहा है—

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इति। (२ अ०)

अतः इसके लिए यत्न अवश्य करना चाहिये। यत्न करते रहने पर क्रमशः ईश्वर का प्रसाद पाकर सब कुछ जाना जा सकता है 'यमेवैष वृणुते तेनलभ्यः' यह श्रुति वचन ही प्रमाण है। दशवाद रहस्य के अन्त में यह ग्रन्थकार का कथन स्मरण करना चाहिये—

'अचिन्त्य भावेष्वपि तेषु यावन् मनुष्य धीः क्षाम्यति तावदूह्यम्'।
स्वयं तदायाति मनुष्य बुद्धौ न शक्यते ज्ञानमुपेक्षितुं तत्'।

जिज्ञासा स्वतः ही मन में उदित होती है, उसका समाधान न होने पर वह दुःख को पैदा करती है। इस कारण ज्ञान के लिये यत्न अवश्य करना चाहिये। हर्बर्ट और स्पेंसर आदि पाश्चात्य विद्वानों के कथित अज्ञेय वाद की शरण कभी नहीं लेनी चाहिये।

अक्षरं वा क्षरं वापि यत्किञ्चिदनुबोध्यते ।
सर्वं तत्तस्य विज्ञानमिहैवोपनिषीदति ।।२५।।

[1]रहस्यमक्षरज्ञानं स्याच्च यस्मात् प्रतिष्ठितम् ।
तस्मात् तत्परविज्ञानमिहोपनिषदुच्यते ।।२६।।

सेयमुक्ता परा विद्या तया विज्ञायतेऽक्षरम् ।
निष्णातः परविद्यायामक्षरं ज्ञातुमर्हति ।।२७।।

इति श्री मधुसूदन विद्यावाचस्पतिप्रणीते ब्रह्मविज्ञाने
परविद्याध्याये सिद्धान्तवादः पूर्णः ।

अक्षर पुरुष का तथा क्षर पुरुष का जो कुछ भी अनुबोधन होता है—वह सब उसका विज्ञान कहा जाता है और वह उपनिषदों में रखा हुवा है ।।२५।।

अक्षर का ज्ञान रहस्यमय है—क्योंकि वह परपुरुष से प्रतिष्ठा पाता है । इस हेतु उस पर पुरुष का विज्ञान ही यहां उपनिषत् नाम से कहा जाता है । रहस्य को ही उपनिषत् कहते हैं ।।२६।।

१. यह ज्ञान उपनिषदों में ही विद्यमान है । यह विद्या रहस्यभूता है । रहस्य ही उपनिषद् है । सारा ज्ञान इसमें ही 'उपनिषीदति' अर्थात् यहां आकर स्थिति पाता है, यहां आकर समाप्त हो जाता है यह आशय है । अथवा यह भी अर्थ होता है कि यहां कहा गया क्षर और अक्षर का विज्ञान—उप—पर—अव्यय के समीप—निषीदति—अव्यय पुरुष को समीप में आया हुवा किसी तरह लक्षित कर देता है । इस विद्या में निष्णात पुरुष अक्षर तत्व को जानकर अव्यय का परिचय भी प्राप्त कर सकता है । इस कारण ही अक्षर को सेतु कहा गया है । इस तरह सब का उपसंहार किया गया ।

सिद्धान्त प्रकाशिका टीका पूर्ण हो गई ।

यह परा विद्या कही गई है, उस परा विद्या से ही अक्षर का विज्ञान होना है । पर विद्या अर्थात् अव्यय को बताने वाली विद्या में निष्णात ही अक्षर को जानने में समर्थ हो पाता है ।।२७।।

इति श्री मधुसूदन विद्या वाचस्पति प्रणीत ब्रह्मविज्ञान में परविद्या
अध्याय में सिद्धान्तवाद पूर्ण हो गया ।

वेदोक्तं ब्रह्मविज्ञानं स्कुटं यत्र प्रकाशते ।
सिद्धान्तवादनामा स ग्रन्थो लोकातिशायिनाम् ॥१॥

विद्यावाचस्पति श्रीमन्मधुसूबनशर्मणाम् ।
सर्वतन्त्रस्वतन्त्राणां मतिस्वातन्त्र्यदर्पणः ॥२॥

तत्कृपापाङ्गसंपातसंप्राप्तज्ञानसम्पदा ।
तच्छिक्षितेनाध्वनैव विवृतोऽत्र यथामति ॥३॥

व्याख्याने या त्रुटिः सा मन्मतेरेव विभाव्यताम् ।
विमृश्यतां च वेदार्थो मार्गेणानेन पण्डितैः ॥४॥

रसेन्दुशून्ययुग्माङ्कमिते विक्रमवत्सरे (२०१६) ।
सुसंपन्नामिमां व्याख्यामर्पये गुरुपादयोः ॥५॥